श्रीभगवान महावीर स्वामी के २५०० निर्वाणोत्सव के अवसर पर

जैन योगीन्द्र श्री आनन्दघन कृत

आनन्दघन-ग्रन्थावली

सरलार्थ सहित

संग्रह एवं अर्थकार

उमराव चन्द जैन जरगड

सम्पादक

महताव चन्द खारैड विशारद

सम्वत् २०३१

प्रकाशक :

श्री विजयचन्द जरगड

जौहरी बाजार, ईमलीवाले, पन्सारी के ऊपर,

जयपुर-3.

प्रथमावृत्ति - 1000

मूल्य : 10

मुद्रक :

वैशाली प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर-3.

जैन योगीन्द्र श्री आनन्दघनजी

अद्भुत योगी आनन्दघन

१७वी सदी के महान् सन्त, श्री आनन्दघनजी म० जिन्होने भेद ज्ञान के द्वारा जड चेतन का पृथक् करण किया, जिनके जीवन मे हर क्षण आत्मानुभूति दीप जलता रहा, जिन्होने आगम व निगम को आत्मसात किया, व योग साधना के द्वारा भौतिक पदार्थों के प्रभाव से हिमालय वत ऊचे उठ गये । सम्यग् ज्ञान, दर्शन एव आचरण ही जिनके जीवन का कार्य क्षेत्र बन गया, स्वस्वरूप भावना ने सर्वथा प्रतिवन्ध मुक्त बना दिया । रज-कण व रत्न-कण को सम समझने वाले अद्भुत योगी आनन्दघन समस्त भौतिक दिव्य पदार्थों को निरीक्षण मात्र से देख उन्हे पुद्गल समझ देखा अनदेखा कर देते थे । क्योंकि साधकीय जीवन मे इधर-उधर देखे बिना निरन्तर बढते रहना ही साधक का सर्वोपरि कर्तव्य है । यही स्थिति आनन्दघनजी महाराज को सहज उपलब्ध थी, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी रचनाओ मे अनेक जगह सकेत रूप मे व्यक्त है । अनुभूतिजन्य शब्द शृ खला वीतराग स्वरूप को समझाने मे अनमोल हीरे है, वे स्वय तो साधना के द्वारा अमर पद बने ही किन्तु उनका पद "अब हम अमर भये ना मरेंगे" यदि समझकर गायेगा और इसके भावो की गहराई को समझेगा तो निश्चित मुक्त बनेगा । एक क्या अनेक ऐसे पद है जिनमे जिनवाणी के सागर को अपनी कवित्त्व शक्ति के द्वारा वाक्य रूप गागर मे भर दिया । वे वीतराग स्वरूप को समझाने वाले उनके स्तवन, पद आदि रचनाये भी अमर पद देने मे सर्वथा सक्षम है ।

ऐसे आनन्दघनजी महाराज की रचनाये साधको की अनुपम थाती है, जो साधको को प्रबल प्रेरणा देकर साध्य के प्रति जागरुक रखती हैं, जिनवाणी को समझकर समझाने वाले साधक जन-मानस का अनन्त उपकार करते है । स्व० श्री उमरावचन्दजी जरगड जिनकी रुचि आध्यात्मिक भजनो के प्रति विशेष रहती थी, आनन्दघन-भजनावली का हिन्दी मे अर्थ करके उन्होने भी भारी पुण्योपार्जन किया है, उनका परिश्रम आज सफल हो रहा है, इसकी प्रसन्नता ।

प्र० विचक्षणश्री

स्व० श्री उमरावचन्दजी जरगड
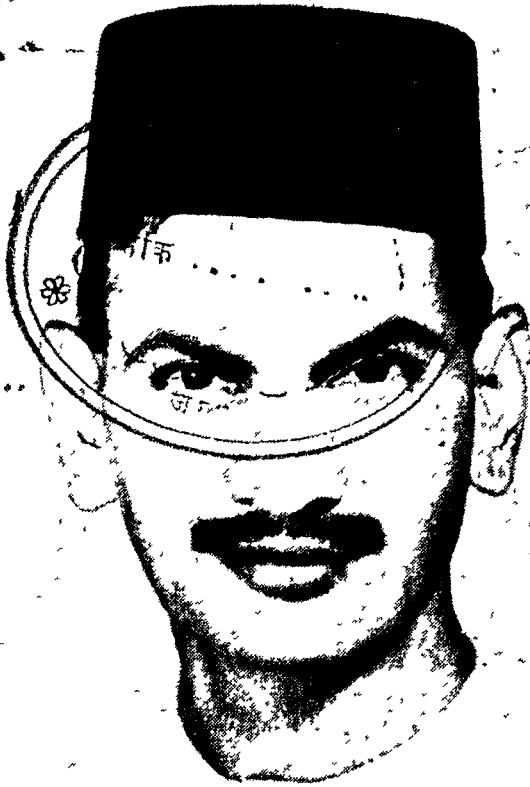
पुनीत स्मृति में श्रद्धांजलि स्वरूप प्रकाशित

स्व० श्री उमरावचन्दजी जरगड

संक्षिप्त जीवन परिचय

श्री उमरावचन्दजी का जन्म सम्वत् १९५९ श्रावणा शुक्ला १० बुधवार को जौहरी श्री प्रेमचन्दजी के कनिष्ठ भ्राता श्री नेमीचन्दजी जग्गड के यहा हुआ। आप श्री जैन श्वेताम्बर श्रीमाल जाति के जरगड़ गौत्र के थे। १८ वर्ष की आयु मे आपका विवाह सुश्री उमराव कवँर सुपुत्री श्री मदनचन्दजी टाक के साथ हुआ। आपने रत्न उद्योग की शिक्षा श्री रतनलालजी फोफलिया से प्राप्त की तथा अपने पैतृक व्यवसाय मे सफलता पूर्वक कार्य करते रहे। आपकी शिक्षा मैट्रिक तक होते हुए भी आपकी अभिरुचि अध्ययन मे रही और आप साहित्य, जैन-दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, होमियोपेथी आदि मे अध्ययन-रत रहे। आपकी जैन-दर्शन एव अध्यात्म मे विशेष रुचि रही। आपका सम्पर्क विभिन्न विद्वानो साधुओ एव पण्डितो से रहा। श्री अगरचन्दजी नाहटा के सम्पर्क मे आने से तथा उनकी प्रेरणा से आप लेखन कार्य भी करने लगे। समय समय पर इनके द्वारा सम्पादित एव लिखित पुस्तके प्रकाशित हुई, जिनकी सूची इस पुस्तक के अन्त मे दी गई है।

स्वर्गवास के चार वर्ष पूर्व से ही शारीरिक अस्वस्थता के कारण आपके कई अन्य ग्रथ अधूरे व अप्रकाशित रह गये थे। प्रस्तुत ग्रथ उन्ही मे से एक है। इस ग्रथ को श्री महतावचन्दजी खारैड ने श्री अगरचन्दजी नाहटा के सहयोग से पूर्ण किया है।

व्यापार, अध्ययन, लेखन व मनन के साथ-साथ आपकी श्रीमाल सभा, ज्वैलर्स एसोसियेशन आदि सामाजिक कार्यो मे भी रुचि रही है। आपका स्वर्गवास स० २०२८ के माह सुदी ५ (वसत पचमी) के शुभ दिन मे हुआ।

आपकी धर्म पत्नी वडी धार्मिक प्रवृत्ति की है। आपकी स्मृति मे आपके सुपुत्र विजयचन्दजी ने इसे प्रकाशित कर एक वहुत ही उपयोगी कार्य किया है।

अपनी बात

सन् १९५८-५९ की बात है। स्व० श्री उमरावचदजी जरगड योगीराज आनन्दघनजी के पदो का अर्थ लिख रहे थे, तब उन्होने मुझे अपने कार्य मे सहयोग देने को कहा। वे बहुत कुछ कार्य कर चुके थे। बहुत कुछ बाकी था। उन्ही दिनो में श्री देवचदजी महाराज की चौवीसी सार्थ के सम्पादन का कार्य भी चल रहा था। वह समाप्ति पर था। पहिले चौवीसी का कार्य पूर्ण कर प्रेस मे दिया गया। वह छपकर तैयार हो गया। अब नियमित रूप से श्री आनन्दघन-पदावली का कार्य चलने लगा।

स्व० श्री जरगडजी के पास 'आनन्दघन-पदावली' की हस्तलिखित पाच प्रतियाँ थी और दो प्रतियाँ गुजराती भाषा मे मुद्रित थी। मुद्रित प्रतियो मे प्रथम प्रति श्री मोतीलाल गिरधरलाल कापडिया द्वारा सम्पादित थी जिसमे केवल ५० पदो पर ही विस्तृत व्याख्या थी तथा दूसरी मुद्रित प्रति आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरीश्वर द्वारा सम्पादित थी जिसमे १०७ पदो पर व्याख्या थी।

श्री जरगडजी ने इन्ही पुस्तको के आधार पर 'आनन्दघन-पदावली' का पाठ निश्चित किया और पाठान्तर दिये। जो पाँच प्रतियाँ हस्तलिखित थी उनमें से कौन-कौनसी प्रति कब-कब की लिखी हुई थी, इसका पता उनके स्वर्गस्थ हो जाने से अब नही लग सकता। पदावली का अर्थ लिखते समय तो सभव है यही विचार रहा होगा कि भूमिका लिखते समय इस पर विचार कर लिया जावेगा। ६० पदो का कार्य पूर्ण-रूपेण सम्पन्न हो चुका था। जितने पद उनके सग्रह मे थे उनके शब्दार्थ, पाठान्तर और अर्थ पृथक् लिख लिये गये थे। अचानक ही श्री जरगडजी को व्यापारार्थ जयपुर से बाहर जाना पडा और काम स्थगित करना पडा। तत्पश्चात् जयपुर जब-जब वे आये, तब-तब वे सप्ताह से अधिक यहाँ नही ठहरे। इसी मध्य उनका माल बम्बई मे खोया गया, इससे वे अधिक चिंतित हो गये और चित्त पर इसका गहरा आघात लगा और भी ऐसे कई कारण बने जिससे वे स्वस्थ चित्त नही रह सके। समय

निकलता गया। अन्त में वे रुग्ण हो गये। इससे फिर उन्हें रोग-मुक्ति ज्ञान ने ही दी।

सन् १९६९ ई० मे मेरे मित्र स्व० श्री जतनमलजी लूणावत ने मुझे आनन्दघनजी की पदावली के दो भाग श्री मोतीलाल गिरधरलाल कापडिया द्वारा सम्पादित देकर उन्हे आद्योपान्त पढने की प्रेरणा दी। मैंने दोनो भाग पढे। श्री कापडियाजी ने १०८ पदो का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। श्री जतनमलजी ने कहा कि ये सब गुजराती मे है। अपने लोगों को समझने मे वडी कठिनाई पडती है। यदि हिन्दी मे यह प्रयास किया जावे तो हिन्दी भाषा भाषियो के लिए एक अच्छी आध्यात्मिक वस्तु मिल सकती है। मैंने श्री जरगडजी के प्रयास की वात कही कि उसमें थोडा ही कार्य वाकी है। यदि पांडुलिपि मिल जावे तो उसे पूर्ण किया जा सकता है। तदन्तर श्री जरगडजी की धर्म-पत्नी से पूछ-ताछ और तलाश के पश्चात् ज्ञात हुआ कि वह पांडुलिपि कोई ले गया, जिसका कुछ पता नही है और श्री जरगडजी इस स्थिति मे नही थे कि वे कुछ वता सकें। अतः निराश होकर मैं चुप वैठ गया। मेरे पास इस सम्वन्ध की कोई सामग्री नही थी। जो थी वह मैं पहिले ही श्री जरगडजी को दे चुका था। अन्त मे एक वर्ष पश्चात् श्री जरगडजी की पत्नी ने मुझे वुलाकर सूचित किया कि इनके लिखे हुए 'आनन्दघनजी' के पद मिल गये हैं। मैंने उन्हें देखा कि सव मेरे ही लिखे हुए थे। अव वाकी सामग्री की तलाश थी। काफी परिश्रम करके वह सामग्री एकत्रित की गई और उसे सुरक्षित रख दी। यह सव सामग्री सन् १९७१ के अगस्त मास में मिली थी। इसके पश्चात् इसका कार्य आरम्भ कर दिया गया जो आपके सन्मुख प्रस्तुत है।

श्री जरगडजी से प्राप्त सामग्री देखने मे ज्ञात हुआ कि उन्होने चौवीसी और पदावली दोनो पर ही करीव-करीव ६० प्रतिशत कार्य कर दिया था। चौवीसी के छठे स्तवन श्री पद्मप्रभ जिन से १८वें स्तवन श्री अर जिन स्तवन तक श्री जरगडजी ने वहुत अच्छा अर्थ लिखा है। वाकी के प्रथम पाच स्तवन मे उनके संकेतानुसार मैंने अर्थ लिखा है और उन्नीसवें स्तवन से चौवीसवें स्तवन तक मैंने अपनी मंद वुद्धि अनुसार अर्थ किया है। इसी प्रकार पदावली के ६० पदों पर तो उनका ही अर्थ लिखा गया है और शेष पदों पर मैंने अर्थ लिखा

है। पदावली में वहुत से पद शकास्पद तथा कुछ अन्य कवियों के लगे उनका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है। जितने पद 'आनन्दघन' नाम के मिले वे सब ही इस पदावली मे सम्मिलित कर लिये गये है और उनसे सम्बन्धित सूचनायें उन पदो के साथ ही दे दी गई है। राष्ट्रभापा हिन्दी मे यह प्रथम ही प्रयास है। अभी इसमे सशोधन की काफी गुंजाइश है।

पदावली तथा अन्य रचना

ऊपर लिखा जा चुका है कि श्री जरगडजी के पास पदों की हस्तलिखित प्रतियों की चार लिपिया थी। उन्हे मैंने पाठान्तर के लिये 'अ, आ, इ और उ नाम दिये है। 'अ' प्रति मे ८६ पद, 'आ' प्रति मे ८० पद, 'इ' प्रति मे ७७ पद और 'उ' प्रति मे ८२ पद हैं। स० १७५३ मे लिखी हुई डेरागाजीखा की प्रति का उल्लेख श्री जरगडजी ने और किया है। न तो उसकी प्रतिलिपि प्राप्त हुई और न यह ज्ञात हो सका कि यह प्रति किस महानुभाव से प्राप्त हुई थी। उनके (श्री जरगडजी के) लेखानुसार इतना ही ज्ञात हुआ कि इस प्रति मे १५-२० ही पद थे। यह प्रति मिल जाती तो इसमे सग्रहीत पदो का क्रम ज्ञात हो जाता और यह भी निश्चय हो जाता कि ये पद श्री आनन्दघन जी के ही है। कारण इसका यह कि यह प्रति श्री आनन्दघनजी के स्वर्गस्थ होने के २०-२२ वर्ष वाद ही लिखी गई थी।

जितनी भी प्रतिया मिली है, उन सवका एक क्रम नही है, और न उनमे पद संख्या ही समान है। किसी मे ७७,-७८, किसी मे ८० और किसी मे ९० पद मिलते है। श्री भीमसिंह माणेक ने सर्वप्रथम १०८ पदो का सग्रह करके स १९४४ वि. मे 'आनदघन 'वहुत्तरी' के नाम से प्रकाशित किया था। इसके पश्चात इसी क्रम और पदो की संख्या से श्री मोतीलाल गिरधर लाल कापडियाजी तथा आचार्य श्री वुद्धिसागरजी ने पदो की विस्तृत व्याख्या कर प्रकाशित कराया है। इन प्रकाशित पदावलियो मे अन्य कवियो के भी पद आनंदघनजी का नाम देख-कर सम्मिलित कर लिये गये है, इससे वास्तविक पदो की सख्या ज्ञात करना कठिन और अत्यन्त परिश्रम साध्य हो गया है।

पदसख्या व नाम

श्री आनंदघनजी के पदो का संग्रह तो 'वहुत्तरी' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। इन पदों के प्रथम सग्रहकार और प्रकाशक ने १०८ पद संग्रह कर

प्रकाशित किये, उसका नाम भी 'वहुत्तरी' ही रखा है। इससे यह तो संभव लगता है कि इन पदो के सग्रह का प्राचीन नाम 'वहुत्तरी' रहा होगा। ऐसा अनुमान होता है कि श्री भीमसिह माणेक के सन्मुख वहुत्तरी की कई प्रतियां थी। उन्होने जिस प्रति मे नयापद देखा, उसे ही अपने सग्रह मे सम्मिलित करके पदो की सं. १०८ करली। यदि वे सावधानी से छानवीन करते तो पदो की संख्या इतनी नही हो सकती थी और न श्री आनदघनजी के सवंध मे जो अनर्गल वातें उठाई गई हैं, वे ही उठती।

हमारे विचार मे तो इन पदो की संख्या 'वहुत्तर' से अधिक होने के कारण यह है कि उन दिनो मुद्रण जैसे साधन तो उपलब्ध थे नही, जिनमे प्रचार-प्रसार हो सकता था। एकमात्र साधन लोक-गायक और सतगण जो देश मे पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण घूमते हुये जनता को भजन गाकर सुनाते थे। इस प्रकार पदो (गायनो] का प्रचार-प्रसार सहज ही हो जाता था। मध्य-युग मे जव भी किसी सत महात्मा का आविर्भाव हुआ, धीरे धीरे उसका प्रभाव सवत्र देश मे फैल जाता था। यही कारण था कि सूरदास, कवीर, मीरा आदि के भजन वगाल, महाराष्ट्र और गुजरात तक घर घर मे फैल गये थे। अच्छे भजनो को जनता भी सुन सुनकर कठाग्र कर लेती थी। समय समय पर इन भजनो को गाकर अपनी भक्ति प्रकट करने के साथ-साथ अपना मनोरजन भी किया करती थी। यह भी होता था कि इन भजनो मे प्रयुक्त शव्दो की स्थान विशेष के अनुसार काया पलट जाती थी। इसके साथ ही यह भी होता था कि पद किसी अन्य का है और विस्मृति के कारण किसी दूसरे के नाम चढा दिया जाता था। यथा 'कहत कवीर सुनो भाई साधु" या "मीरा के प्रभु गिरिधर नागर,, आदि पद के अन्त मे जोडकर पद समाप्त कर दिया जाता था। और यह भी होता था कि कोई पक्ति किसी की, कोई पक्ति किसी की, गाकर अंत मे किसी प्रसिद्ध पदकर्ता का नाम रखकर पद पूर्ण कर दिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि पदावलियो मे अनेक पाठ भेद हो गये और अन्य पद-कर्त्ताओ के पद अन्य पद कर्ताओ के नाम से प्रसारित हो गये। यही घटना श्री आनंदघनजी के पदो के साथ हुई। अन्य कवियों के पद और उनकी शैली से भिन्न पद भी उनके नाम से प्रसिद्धि पा गये। लिखकर सग्रह करने वालों ने

जैसे जैसे सुना वैसे वैसे ही लिखकर सग्रह कर लिया। यही कारण है कि श्री आनंदघनजी के पदो का क्रम सब सग्रहो मे समान नही है और न ही उनकी सख्या समान है। हम यहाँ एक अकारादि क्रम से प्राप्त पदो की सूची दे रहे है जिससे प्रकट होगा कि हमारे पास वाली किस प्रति में कौनसा पद किस सख्या पर है और किस प्रति मे कितने पद है। प्रस्तुत पुस्तक [ग्र थावली] मे पदों की संख्या १२१ है और उनका क्रम भी इसलिए पृथक हो गया है कि हमारी धारणा के अनुसार जो पद श्री आनदघनजी के हैं उन्हे प्रथम रखा गया है और जो पद उनके नही समझे गये उन्हे बाद में। वास्तव में होना तो यह चाहिये था कि विषयवार या राग या लयवार क्रम बनाया जाता किन्तु यह कार्य समय की काफी अपेक्षा रखता है। इधर पुस्तक प्रकाशित करने शीघ्रता थी इससे यह नही हो सका।

श्री जरगडजी के संग्रह मे श्री आनदघनजी की एक रचना "समितियो की ढालें" और मिली है। वह भी दी जा रही है। यह रचना पूर्व मे श्री अगरचदजी नाहटा द्वारा सम्पादित अष्ट प्रवचन माता सज्झाय सार्थ श्री **देवचद सज्झाय माला भाग १** मे प्रकाशित हो चुकी है। साथ ही श्री अगरचद जी नाहटा के सग्रह से प्राप्त आनदघनजी की दो रचनाये—[१] आदिनाथ जिन स्तवन और [२] चौवीस तीर्थ करो का स्तवन-और दे रहे हैं। ये दोनो स्फुट रचनायें श्री आनदघनजी के साधु जीवन स्वीकार करने के पश्चात कुछ वर्षो के बाद की लिखी हुई मालूम पड़ती है। इनकी प्राचीन प्रतियां नही मिलने से सदिग्ध भी हो सकती है। श्री नाहटाजी ने हस्तलिखित प्रतियो की खोज सर्वाधिक की है अतः उन्हे अप्रकाशित पद भी १५ और मिले है।

चौवीसी

श्री जरगडजी के संग्रह मे चौवीसी की छै प्रतियो की प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुई। ये प्रतिलिपियें किस किस समय की प्रतियो की हैं, इसकी जानकारी मिलना अब असभव है। इन प्रतिलिपियों को मैने, 'अ' 'आ' 'इ' 'ई' 'उ' और 'ऊ' से चिह्नित कर पाठ भेद दिये हैं। इनमे 'उ' प्रति श्री ज्ञानविमलसूरि जी के टव्वेवाली है और 'ऊ' प्रति श्री ज्ञानसारजी के टव्वेवाली है। इन प्रतियो मे प्रथम प्रति १८वी सदी के अंतिम चरण की और दूसरी प्रति १९वी सदी के नवें दशक की है।

चौवीसी के स्तवनों मे वत्तीस स्तवन ही योगीराज श्री आनंदघनजी के रचित कहे जाते हैं। शेप अन्तिम दो स्तवन—श्री पार्श्वनाथ जिन स्तवन और श्री महावीर जिन स्तवन—अन्य महानुभावो के 'आनदघन' नाम से रचित हैं। हमने प्रस्तुत पुस्तक मे श्री पार्श्वनाथ भगवान के तीन स्तवन और श्री महावीर भगवान के तीन स्तवन दिये है। दोनों ही जिनेश्वरो के तीन तीन स्तवन हैं। जिनमें प्रथम २३ वां और २४ वा स्तवन–"ध्रुवपदरामी हो स्वामी माहरा" और वीरजी नै चरण लागूं वीरपणूं तें मागू रे" है। द्वितीय २२ वां और २४वा स्तवन–"पास जिन ताहरा रूपनूं मुझ प्रतिभास किम होय रे" और "चरम जिणेसर विगत स्वरूपनूं रे, भावूं केम स्वरूप" है तथा तृतीय २३वां और २४वां स्तवन—"प्रणमूं पाद-पकज पार्श्वना जस वासना अगम अनूप रे" और "वीर जिणेसर परमेश्वर जयो जग जीवन जिन भूप" है। ये तृतीय स्तवन पं मुनि श्री गव्वूलालजी की 'आनदघन चौवीसी याने अध्यात्म परमामृत" के गुजराती अनुवादक पं. श्री मगल जी उद्धवजी शास्त्री की पुस्तक से लिये गये हैं। अत: हम उनके आभारी हैं। इन स्तवनो के संवंध मे इस पुस्तक में किसी प्रकार की सूचना नही दी गई है। हमने इन स्तवनो के अर्थ के साथ जो टिप्पणी दी है उसमे गलतफहमी के कारण भूल हो गई अत. यहाँ उसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रथम २३ वां और २४वा स्तवन "ध्रुवपदरामी" और "वीरजी नै चरणे लागू" श्री ज्ञानसारजी के टव्वे के लेखानुसार तथा श्री अगरचदजी नाहटा के सग्रह की चौवीसी की एक प्रति--जो सं. १८५७ की लिखी हुई है–के अनुसार श्री देवचंदजी महाराज रचित है। द्वितीय २३वां और २४वां स्तवन

"पास जिन ताहरा रूपनू" और चरम जिणेसर विगत स्वरूपनू रे" श्री ज्ञानसार जी महाराज रचित है। तृतीय २३वा और २४ वा स्तवन--"प्रणमू पादपकज" और "वीर जीणेसर परमेश्वर जयो"--किसकी रचना है पता नही लगा। श्री अगरचदजी नाहटा का अनुमान है कि ये दोनो स्तवन उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज के होने चाहिये। इस विषय मे निश्चयात्मक वात नही कही जा सकती। यह आगे की शोध का विषय है।

इस चौवीसी को पूर्ण करने के लिये अन्य महानुभावों ने भी प्रयास किया मालूम होता हे। श्री ज्ञानविमल सूरिजी ने अपने नाम से दो स्तवनों की रचना कर चौवीसी पूर्ण की थी। यह चौवीसी श्री जिनदत्तसूरि पुस्तकालय जयपुर मे सुरक्षित है। स्थानाभाव से उन स्तवनो को यहाँ देने मे हम असमर्थ है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि वावीस ही स्तवन श्री आनदघनजी के वनाये हुये है और परवर्ती दो स्तवन आनदघनजी के नाम से अन्य कवियो ने वनाये है। श्री आनदघनजी ने वावीस ही स्तवन क्यों वनाये, चौवीस पूर्ण क्यो नही किये। यह जिज्ञासा उत्पन्न होती ही है। हमारे से पूर्व के चौवीसी सपादको ने इस प्रश्न पर विचार किया है। स्वर्गीय श्री मोतीलाल गिरिधर कापडियाजी ने काफी ऊहापोह कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—"श्री आनंदघनजी ने चौवीसी के स्तवन आयु के उत्तर भाग मे वनाये थे क्यो कि इन स्तवनो की भाषा, उनका विषय निरूपण और उनके वाक्य प्रयोगों को देखने से प्रौढता स्तवनो मे दिखाई पडती है वह पदो मे नही है। यह प्रौढता उन्हे उत्तर अवस्था मे प्राप्त हुई लगती है। इस उत्तर अवस्था के भी अतिम भाग मे इन स्तवनों का रचना हुई हे। यदि वे उत्तर अवस्था के अतिम भाग मे नही वने होते तो चौवीसी को श्री आनदघनजी दो स्तवनो के लिये कभी अधूरी नही छोड़ते। किन्ही अनिवार्य कारणों से २३वा और २४वा स्तवन वे नही वना पाये।" (५० पदो के प्रथम सस्करण की भूमिका पृ. ८०–८६)

इसी स्थान पर श्री कापड़ियाजी ने एक शका और उठाई है—"श्री आनंदघनजी ने केवल इकवीस ही स्तवनो की रचना की थी। वावीसवा स्तवन उनका नही मालूम होता है। इस प्रकार इकवीस स्तवनो में आत्मा की उत्क्रांति वतानेवाले योगीराज जो वाकी के स्तवन लिखे होते तो अति विशुद्ध आत्मदशा

भावों को बताने वाले और खास कर योग की अति उत्कृष्ट दशा सूचित करने वाले होते। बावीसवें स्तवन की वस्तु रचना, भाषा और विषय पूर्व स्तवनों से बिलकुल अलग पड़ जाते है। इकवीस स्तवनो तक जो लय चली आ रही थी उसका एकदम भग हो जाता है। उसमे (बावीसवें स्तवन मे) जो विषय लिया गया है, वह सामान्य कवि जैसा है।"

यहाँ हम अत्यन्त नम्र निवेदन करना चाहते है कि बावीसवें स्तवन मे योगीराज ने राजुल (राजिमती) की वेदना का हृदयस्पर्शी वर्णन करते हुये, बताया है कि आत्मा वैभाविक दशा से स्वाभाविक दशा की ओर कैसे अग्रसर होती है। पशुओ का क्रन्दन सुनकर श्री नेमिनाथ जब शोभायात्रा (बरात) मे से रथ वापिस कर देते हैं, तब साध्वी राजिमती का हृदय विदीर्ण हो जाता है। इसका अत्यन्त मार्मिक वर्णन श्री योगीराज ने किया है। वह मन मे विचारती है कि मेरा और प्रभु का संबंध तो आज का नही, अनेक जन्मो का है, फिर प्रभु ऐसा क्यों करते हैं। वे पशुओ पर तो दया दिखाते है और मेरे कष्टो की ओर जरा भी ध्यान नही देते है। जो विवाह ही न करना था तो सगाई-सबंध ही क्यो किया ? सगाई-संबंध करके लगन-विवाह न करने से तो मेरी गति अत्यन्त भयानक हो गई है। राजिमती का स्वयंवर नही हुआ था। माता-पिता की इच्छा को ही उसने शिरोधार्य किया था। राजिमती का जीवन अपने ढंग का निराला ही है। उस समय उसकी अवस्था भी बहुत नही थी, फिर भी वह एक सती साध्वी की तरह राज महलो के सुखो को ठुकराकर तुरत अपने होनेवाले पति नेमिनाथ के पद-चिह्नो पर आगे बढी। इधर भगवान अरिष्ठ नेमिनाथ के भाई रहनेमिने अनेक प्रकार के भय दिखाये, प्रलोभन दिये, पर वह तो हृदय से भगवान अरिष्ठ नेमिनाथ को वरण कर चुकी थी। सती साध्वी के तेज के सन्मुख रहनेमि की पराजय हुई। ऐसी अपूर्व स्त्री रत्न का यदि कवि वर्णन न करते तो यह अपराध हो जाता। श्री आनंदघनजी जैसे महापुरुष उस सती को कभी भूल नही सकते थे। तीर्थंकर पत्नियो में जितना रोचक भाव पूर्ण और उत्कृष्ट त्यागमय जीवन राजिमती का था वैसा अन्य किसी का नहीं था। ऐसी साध्वी की वेदना का वर्णन न करना वास्तविकता से मुँह मोड़ना होता। श्री योगीराज का यह प्रेम-प्रसग का रसमय वर्णन और दुखी हृदय की पुकार ही

नही है वल्कि आठों जन्मों से वने हुये सवध को अक्षुण्ण वनाये रखने व पूर्ण आत्म समर्पण का अद्भुत एव बेजोड़ वर्णन है। सच्ची साध्वी स्त्री का कार्य पति मे दोष निकालना नहीं है किन्तु पति के पद- चिह्नों पर चलकर आत्म समर्पण है। पति जिस मार्ग जावे उसी मार्ग का अनुसरण पत्नी के लिये श्रेय-स्कर है। राजिमती ने यही किया और स्वामी से पूर्व ही भव-वधनो को तोड डाला और मोक्ष मे पति का स्वागत करने के लिये पहिले ही पहुंच गई। कवि का इस प्रकार का वर्णन इसी वात का द्योतक है। आत्मोत्क्राति की भूमिका मे जो वात प्रथम स्तवन मे—"कपट रहित थई आतम अरपणा रे, आनदघन पद रेह" कही है उसही की परम पुष्टि इस स्तवन मे इस प्रकार की है--"सेवकपण ते आदरे रे, तो रहे सेवक माम। आशय साथे चालिये रे, ग्रेहिज रूडो काम।" इससे वढकर कौन सा आत्म समर्पण होगा ? कौन सा त्याग होगा ? कौन सा योग होगा? ससार से मुक्त करानेवाला व्यापार ही तो, समर्पण, त्याग और योग है।

ऐसे उच्चाशय वाले स्तवन पर श्री कापड़िया जी का शका करना निरा-धार ही कहा जा सकता है।

ऊपर के विचार श्री कापडियाजी के चौवीसी तथा वावीसवे स्तवन के लिये उठाई गई शका के सम्वन्ध मे है। अव श्री आनदघनजी की रचना-पदा-वली के एक अन्य सपादक व विवेचक आचार्य श्री वुद्धिसागर सूरिजी के विचार दिये जाते है। आचार्य श्री का कथन है--"अन्य दर्शनीय विद्वानो का कथन है कि प्रथम सगुण की उपासना-स्तुति की जाती है, तत्पश्चात आध्यात्म ज्ञान मे गहरे पैठने के पश्चाद निर्गुण की उपासना-भक्ति की ओर अग्रसर होना पडता है। यद्यपि इस प्रकार की शैली जैन विद्वानो मे दिखाई नही देती है तथापि इस वात को माना जावे तो आनदघनजी ने गुजराती भाषा मे चौवीसी की रचना की, फिर मारवाड़ मे घूमते हुये लोगो के उपकारार्थ व्रजभाषा मे पदों की रचना की।" आगे वे लिखते हैं--"एक दत कथा सुनने मे आती है कि एक समय श्री आनदघनजी शत्रुजय पर्वत पर जिन दर्शन करने गये हुये थे। उन्ही दिनो श्री यशोविजयजी और श्री ज्ञानविमलसूरिजी श्री आनदघनजी से मिलने के लिये शत्रुंजय पर गये थे। श्री आनदघनजी एक जिन मंदिर मे प्रभु की स्तवना

करने मे लीन थे। ये दोनो महात्मा गुप्त रूप से चौवीसी के स्तवन सुनने लग गये। श्री यशोविजय जी का क्षयोपशम ऐसा था कि कोई भी वात एक दफा सुनने के पश्चाद् उसे अविकल वैसे को वैसे ही सुना सकते थे। इस प्रकार उन्होने २२ पदो को सुनकर याद कर लिये। वावीसवे स्तवन के वाद कुछ ध्वनि सुनकर श्री आनदघनजी ने पीछे की ओर देखा तो उन्हें श्री यशोविजयजी तथा श्री ज्ञानविमल सूरिजी दिखाई पड़े। इससे आगे स्तवन वोलते हुये वे सकुचा गये और फिर दो स्तवन नही वने।" आगे अपने विचार प्रकट करते हुये उन्होने लिखा है--"हमारा अपना विचार इस सम्वन्ध मे ऐसा है कि श्री आनंदघनजी जहाँ जहाँ गये वहाँ वहाँ प्रसगवश प्रभु-भक्ति के उल्लास से भिन्न भिन्न जिनेश्वर देवों के स्तवन वनाकर चौवीसी की रचना की।"

वास्तविकता यह क्या है ? वताना कठिन है। हमारा अनुमान यह है कि श्री आनदघनजी दीक्षित होने के पश्चात अध्ययन मे लग गये। उनके गुरुजी ने उन्हे अच्छा शास्त्रमर्मज्ञ वना दिया। आरंभ मे इन्होने स्फुट विपयो और भक्ति पूर्ण रचनायें लिखी, जिसका प्रमाण इस ग थावली मे दी हुई समितियो की ढालें और कुछ अन्य गीतिकायें है। इसी प्रकार अन्य विपयो पर भी उनकी रचनायें होनी चाहिये। इस विपय पर गहरी खोज की जावेगी तो उनकी और भी कई रचनायें उपलव्ध हो सकेंगी।

श्री आनदघनजी ने जहाँ जहाँ भी पद यात्रायें की, वहाँ वहाँ जन समूह को उपदेश देने और अपने अनुभव व्यक्त करने के लिये गूढार्थ पदो की रचना समय समय पर की। ये पद रचनायें जैन परम्परा मे चली आ रही शैली में ही की है। जैन आगमो मे इस शैली के स्थान स्थान पर दर्शन होते हैं। जैन श्रमणो का सर्वमान्य नवकार महामंत्र इस गूढार्थ शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इस महामत्र मे सर्वप्रथम ही "शत्रुओ को हनन करने वाले" को नमस्कार किया गया है। 'णमो अरहताणाम्'। अहिंसा धर्म को सर्वोपरि स्थान देनेवालो ने शत्रुओ के मारने की वात कही, प्रकट मे सुननेवालों को यह अटपटी लगती है। जव इसके वास्तविक अर्थ की ओर ध्यान जाता है तो चित्त भक्ति विभोर हो जाता है।

यह थी गूढार्थ शैली जैन मनिपियो की। श्री आनन्दघनजी ने भी इसे अपनाया था। इस शैली मे इन्होने "वहुत्तरी" की रचना की। इसमे उन्हे

अच्छी सफलता मिली। जनता इनके पदो की ओर अत्यधिक आकृष्ट हुई। ये पद हमारे विचार से एक साथ नही बनाये गये थे। इनका रचना काल भी लम्बा मालुम पडता है। ऐसा लगता है कि समय-समय पर अलग-अलग स्थानो पर ये पद बनाये गये थे। चौवीसी की रचना पर विचार करने से तो यह अनुभव होता है कि चौवीसी की रचना के समय श्री आनन्दघन जैन आगम निष्णात हो चुके थे और साधना के उत्कृष्ट मार्ग पर अग्रसर थे। स्तवनों की गम्भीरता भी यही प्रकट करती है कि वह पूर्ण वयस्क तथा साधनारत थे। यह समय स० १७०० के आस पास अथवा इससे कुछ अधिक होना चाहिये। जबकि वह प्रौढ अवस्था के लगभग होगे। इनकी अवस्था के सम्बन्ध मे विचार करते हुये इनकी रचनाओ के सम्पादको ने लिखा है—"यह उपाध्याय श्री यशोविजयजी के समकालीन थे और श्री उपाध्याय जी का इनसे मिलन हुआ था। साथ ही श्री उपाध्यायजी से ये कुछ वयस्क भी थे। श्री उपाध्याय जी ने इनकी स्तुति मे एक अष्टपदी की रचना भी की थी, जो इस प्रकार है :—

प्रथम पद राग—कानडो

मारग चलत चलत जात, आनन्दघन प्यारे रहत आनन्द भरपूर।
ताको सरूप भूप त्रिहूँ लोक ते न्यारो बरषत मुख पर नूर ॥१॥
सुमति सखी के संग नित नित दोरत कबहुँ न होत ही दूर।
'जसविजय' कहे सुनो आनंदघन ! हम तुम मिले हजूर ॥२॥

द्वितीय पद

आनंदघन को आनंद सुजश ही गावत रहत आनंद सुमता संग।
सुमति सखी और नवल आनंदघन मिल रहे गंग-तरंग ॥१॥
मन मंजन करके निर्मल कियो है चित्त, तापर लगायो है अविहड रंग।
'जसविजय' कहे सुनत ही देखो, सुख पायो भोत अभंग ॥२॥

तृतीय पद, राग—नायकी, चम्पक ताल

आनंद कोउ नहि पावै जोइ पावै सोइ आनंदघन ध्यावै।
आनंद कौन रूप कोन आनन्दघन, आनन्द गुण कौन लखावै ॥१॥

सहज सन्तोष आनन्द गुण प्रकटत, सब दुविधा मिट जावै ।
'जस' कहे सोही आनन्दघन पावत, अन्तर ज्योति जगावै ॥२॥

चतुर्थ पद

आनन्द ठोर ठोर नहीं पाया, आनन्द आनन्द में समाया ।
रति अरति दोउ सङ्ग लिये, वरजित अरथ ने हाथ तपाया ॥१॥
कोउ आनन्दघन छिद्रहि पेखत, जसराश सङ्ग चढि आया ।
आनन्दघन आनन्दरस झीलत, देखत ही 'जस' गुण गाया ॥२॥

पचम पद, राग-नायकी

आनन्द कोऊ हम दिखलावो ।
कहँ ढूंढत तू मूरख पंछी, आनन्द हाट न बिकावो ॥ १ ॥
ऐसी दसा आनन्द सम प्रकटत, ता सुख अलख लखावो ।
जोइ पावै सोइ कछु न कहावत, 'सुजस' गावत ताको बधावो ॥ २ ॥

पष्ठ पद, राग-कानडो, ताल रूपक

आनन्द की गति आनन्द जाणे ।
वाहि सुख सहज अचल अलख पद, वा सुख 'सुजस' बखाने ॥ १ ॥
सुजस विलास जब प्रकटे आनन्द रस, आनन्द अक्षय खजाने ।
ऐसी दशा जब प्रकटे चित अन्तर, सोहि आनन्दघन पिछाने ॥ २ ॥

सप्तम् पद

एरी आज आनन्द भयो मेरे, तेरो मुख निरख निरख ।
रोम रोम सीतल भयो अंग अंग ॥ ऐरी ॥
सुद्ध समझण समता रस झीलत, आनन्दघन भयो अनन्त रंग ॥ १ ॥
ऐसी आनन्द दशा प्रकटी चितअन्तर ताको प्रभाव चलत निरमल गंग ।
वाही गंग समता दोउ मिल रहे, 'जसविजय' सीतलता के संग ॥ २ ॥

अष्टम् पद

आनन्दघन के संग सुजस ही मिले जव, तव आनन्द सम भयो 'सुजस'।
पारस संग लोहा जे फरसत, कंचन होत ही ताके कस ॥ १ ॥
खीर नीर जो मिल रहे 'आनंद' 'जस' सुमति सखी के संग भयो हैएकरस।
भव खपाइ 'सुजस' विलास भये, सिद्ध स्वरूप लिये धसमस ॥ २ ॥

इस अष्टपदी से कुछ वाते ध्वनित होती हैं जिससे आनदघनजी की जीवन-यात्रा की झलक प्राप्त होती है। प्रथम तो यह है कि जिस समय उपाध्याय यशोविजय जी उनसे मिले उस समय आनन्दघनजी अपनी उत्कृष्ट साधना मे रत थे और एकान्तवास मे थे। वे तत्कालीन जैन साधु समाज को कदाग्रह, गच्छ भेद, और सकुचित पथो के झगडो मे फँसे हुए देखकर बहुत ही खिन्न मना हो गये थे। यह खिन्नता कई प्रकार से उन्होने अपने स्तवनो में प्रकट की है—"चरम नयन करी मारग जोवता रे, भूल्यो सकल ससार"। "पुरुष परपर अनुभव जोवता रे, अन्धोअन्ध पलाय," (श्री अजितनाथ जिनस्तवन) "गच्छना भेद बहु नयन निहालता, तत्त्वनी वात करताँ न लाजै उदर भरणादि निज काज करता थका, मोहनडिया कलिकाल राजै" (श्रीअनतनाथ जिन स्तवन) इस खिन्नता के साथ ही उनके यह उद्गार भी मनन योग्य हैं—"घाती डूंगर आडा अति घणा, तुज दरसण जगनाथ। धीठाई करी मारग सचरूं, सेगू कोई न साथ"। (श्री अभिनन्दन जिन स्तवन) और अन्त में अपनी यह भावना प्रकट कर, एकान्तवासी होकर उत्कृष्ट साधना मे सलग्न हो गये—"काल लब्धि लही पथ निहालशूं रे, ऐ आसा अवलम्भ। ऐ जन जीवे जिनजी जाणज्यो रे, आनन्दघन मत अंव" (श्री अजितनाथ जिन स्तवन)।

श्री आनन्दघन जी के इस प्रकार एकान्तवासी होने से तथा उनके कुछ पदो के आधार पर (वे पद उनके नहीं हैं) लोगो ने अनुमान लगाया है कि आनन्दघन जी जैन साधुवेश त्याग कर, तुम्बा लेकर और लम्बा चोला पहिन कर मस्ती मे घूमा करते थे लेकिन यह वात सर्वथा अयथार्थ, कपोल कल्पित और निराधार है। यदि वे इस प्रकार से जैन साधु-वेश त्याग कर घूमते तो

यशोविजय जी जैसे विद्वान, निष्ठावान साधु कभी भी आनन्दघन जी की स्तुति मे अष्टपदी रचकर श्रद्धाव्यक्त नही करते। इस अष्टपदी के प्रत्येक पद में यशोविजय जी की उनके प्रति श्रद्धा और आनन्दघन जी की अपने श्रद्धेय के प्रति यथार्थ निष्ठा और उच्च साधना के दर्शन होते है।

श्री आनन्दघन जी की रचनाओ के सम्पादको ने इनका जन्म सम्वत् १६६० के आस पास तथा देहोत्सर्ग स० १७३० के लगभग माना है। इस जन्म सम्वत् के अनुमान का कारण यह दिया है कि उपाध्याय श्री यशोविजय जी का स्वर्गवास सम्वत् १७४५ मे बडोदा के अन्तर्गत डभोई गाव मे हुआ था, जहाँ उनकी चरण-पादुका है। यह उसके लेख मे प्रकट होता है। इसके आधार पर उपाध्याय श्री यशोविजय जी का जन्म सम्वत् १६७० के आसपास माना गया है। श्री उपाध्याय जी से श्री आनन्दघन जी जेष्ठ थे अतः इनका जन्म सम्वत् १६६० के आस-पास अनुमान किया गया है और श्री आनन्द-घन जी के स्वर्गवास के सम्बन्ध मे श्री प्रभुदास बेचरदास पारेख ने आनन्दघन चौवीसी के प्रथम सस्करण की भूमिका पृष्ठ १९ मे लिखा है—"मेरी एक समय की यात्रा मे प्रणामी सम्प्रदाय के एक साधु से भेट हुई। वार्तालाप के मध्य प्रसगवश उन्होने कहा कि हमारे सम्प्रदाय के सस्थापक श्री प्राणलाल जी महाराज सम्वत् १७३१ मे मेड़ता गये थे, वहाँ उनकी लाभानन्द जी उपनाम आनन्दघन जी से भेट हुई थी और उसी वर्ष अर्थात् सम्वत् १७३१ मे उनका (आनन्दघन जी का) देहोत्सर्ग हो गया था। यह वर्णन श्री प्राणलाल जी महाराज के जीवन चरित्र मे लिखा मिलता है"। "निजानन्द चरितामृत" के पृ० ५१७ से इस वर्णन की पुष्टि होती है कि श्री प्राणलाल जी महाराज मेड़ता गये थे और श्री आनन्दघन जी से उनकी भेंट हुई थी। पुनः जब वे स० १७३१ मे मेडता गये तब उनका स्वर्गवास हो चुका था।

उक्त अवतरण से यह तो निश्चित हो जाता है कि श्री आनन्दघन जी का स्वर्गवास सं० १७३१ मे हुआ था।

ऊपर के विवेचन का सार यह है कि—श्री कापड़िया जी पदो की रचना पहिले और चौबीसी की रचना आयु के शेष भाग मे मानते हैं

श्री बुद्धिसागर जी स्तवनो की रचना पदों से पूर्व मानते हैं। जन्म और देहोत्सर्ग के सम्बन्ध में दोनो के विचार समान है कि श्री आनन्दघन जी १७वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से १८वी शताब्दी के प्रथम तीन दशक तक थे"।

श्री आनन्दघन जी की भाषा व जन्मभूमि

चौवीसी और पदो के सब ही सम्पादको, श्री देसाई तथा आचार्य क्षितिमोहनसेन ने उक्त विषय पर अपने अपने विचार व्यक्त किये हैं। श्री बुद्धिसागर सूरिजी ने श्री आनन्दघन जी की भाषा पर विचार करते हुए लिखा है—"श्रीमद पहला चौवीसी रची। श्रीमदनी रचना मा गुर्जर भाषाना घरगथु (ठेठ गुजराती) शब्दो ने पेठे मारवाडी घरगथु शब्दोनो प्रयोग आव्या विना रहेन नाहि। तेथी गुजराती भाषा ना घरगथु शब्दोना प्रयोग थी ते गुजरातना हता, अेम सिद्ध थाय छै।" (भूमिका पृ० १५४)

श्री कापडिया जी इस सम्बन्ध मे लिखते हैं—"मि० मनसुख लाल रवजी भाई मेहता 'जैन काव्य दोहन' प्रथम भागना उपोदघात मा जे अनुमानो उपर आनन्दघनजीना सम्बन्ध मा दोरवाई गया छै ते बन्ध बेसता नथी ...... ते ओ जे भाषा ने विशेष काठियावाडी सस्कार वाली कहे छै अने मुनि बुद्धिसागर जी जेने गुजराती कहे छै" (उपोदघात पृ० ५८) तत्पश्चात् श्री कापडिया जी ने स्तवनो और पदो के बहुत से शब्द देकर यह सिद्ध किया है कि श्री आनन्दघन जी की भाषा को काठियावाडी या गुजराती कहना भूल है। श्री कापडियाजी का कहना है कि जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग श्री आनन्दघन जी ने किया है वैसी भाषा बुन्देलखण्ड मे बोली जाती है। यह उन्होने अपने गुरु श्री गम्भीर विजय जी से सुना है जिनका जन्म बुन्देलखण्ड मे हुआ था।

श्री प्रभुदास बेचरदास पारख ने अपनी सम्पादित चौवीसी के—जो स० २००६ मे प्रकाशित हुई है—उपोदघात् पृ० २४ मे लिखा है—"श्री-आनन्दघन जी की चौवीसी गुजराती भाषानु भाषा दृष्टि थी पण एक अनमोल रत्न छै" इनके इस कथन से ऐसा लगता है कि श्री पारेख जी ने उस समय तक के प्रकाशित आनन्दघन जी सम्बन्धी साहित्य पर दृष्टि नही डाली। प्रसिद्ध

जैन इतिहासज्ञ श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने महावीर जैन विद्यालय रजत स्मारक अंक मे लिखा है—"आ पदो शुद्ध हिन्दी-वृज भाषा मां रच्या छे, पण गुजराती लहिया (लेखक) अने प्रकाशकोए तेमने लखवा, छपाववा थी तेमां गुजराती पणु थइ गयु छे अने हिन्दी नहि समजवाथी घणी अशुद्धियां रही गइ छे। आथी ते पदोनु शुद्ध संस्करण कोई हिन्दी मर्मज्ञ विद्वान पासे करावी ने प्रकट करवानी खास जरूरी छे"।

आचार्य क्षितिमोहन सेन एम ए शास्त्री ने श्री आनन्दघनजी, उनके पदों तथा भाषा पर "वीणा" पत्रिका के नवम्बर, सन् १९३८ के अंक में लिखा है—"अन्य प्रमाण के अभाव मे भजन की भाषा से किसी व्यक्ति का देश अनुमान करना कठिन है। जो लोग भजनो को वहन करते थे उनके मुख से भी उनमे कुछ विलक्षणता आजाती थी। आनन्दघन की भाषा पर राजस्थानी और गुजराती का वहुत प्रभाव है। उसमे कितना प्रभाव पदकर्त्ता का है और कितना प्रभाव संग्रहकर्त्ता का है, इसका निर्णय करना कठिन है। मोतीचन्द कापडिया महाशय ने श्री गम्भीरविजयजी गणी द्वारा सुना है कि ऐसी भाषा की सम्भावना बुन्देलखण्ड मे ही सकती है। गम्भीरविजयजी का जन्म बुन्देलखण्ड मे हुआ है। वे समझते है कि ऐसी विशेषतायें केवल उनकी जन्मभूमि मे ही हो सकती है किन्तु पूर्वी राजपूताने के भी वहुत से भक्तो की ऐसी भाषा दिखाई देती है और सव देशो मे ही आनन्दघन के पूर्व और वाद मे भी वहुत से भक्तो का जन्म हुआ था। जैन साधुओ की साक्षी के अनुसार आनन्दघन का अन्तिम जीवन पश्चिमी राजपूताने के मेड़ता नगर मे वीता था। उनकी रचनाओ मे जो गुजराती और राजस्थानी प्रभाव हैं वह बुन्देलखण्ड मे कैसे सम्भव हो सकता है? राजस्थान की रचना मे ही यह खूवी मिलती है। इसलिए मैं ठीक ठीक नही समझ सका कि राजपूताना ही आनन्दघन का जन्म स्थान क्यो न माना जाय?"

ऊपर के अवतरणो से स्पष्ट हो जाता है कि चौवीसी और पदो के सम्पादको ने श्रीआनन्दघनजी की भाषा और जन्मभूमि के सम्वन्ध मे जो विचार दिये हैं, वे पक्षपातपूर्ण हैं। वे समझते है कि उत्कृष्ठ रचनाकार और

साधक गुजरात की ही भूमि मे अवतीर्ण हो सकते हैं। निष्पक्ष विचार तो इनमे श्री देसाई और श्री आचार्य सेन के ही हैं। यह बात निश्चित सी है कि रचनाकार सदा से ही लोक मे प्रचलित काव्य भाषा मे अपने विचार प्रकट करते आये हैं। जिस समय काव्य भाषा संस्कृत और प्राकृत भाषायें थी उस समय कवियो ने इन दोनो भाषाओ मे ही अपने अपने उद्गार प्रकट किये थे। जब लोक भाषा अपभ्रंश का जोर बढ़ा तो महाकवि कालीदास जैसे उद्भट विद्वान अपभ्रंश भाषा मे लिखने से दूर नही रहे। विक्रमोर्वशी इसका उत्तम उदाहरण है। अपभ्रंश भाषा के पश्चात जो भाषा काव्य के लिए उत्तर भारत में स्वीकृति हुई उस विकसित भाषा का नाम विद्वानो ने—जो अन्तरवेद से लेकर गुजरात तक मे प्रसार पा चुकी थी—"पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी" रखा। पूर्व मे तो फिर काव्य भाषा मैथली, ब्रज, अवधी स्वीकृत हो गई और पश्चिम में वही काव्य भाषा रही जिसका नाम आगे चलकर 'पश्चिमी राजस्थानी गुजराती हिन्दी' प्रसिद्ध हो गया। श्री आनन्दघन जी के समय मे यही भाषा काव्य के लिए स्वीकृत थी। श्री आनन्दघन जी ने इसी भाषा मे अपने उद्गार प्रकट किये। तत्कालीन अन्य रचनाकारो की रचनायें देखने से इस बात की पुष्टि हो जाती है। चूंकि जैन संतो की विहार स्थली राजस्थान और गुजरात अधिकांश मे रही, इसलिए उनकी रचनाओ मे गुजराती शब्दो का आना अनिवार्य था। इसी कारण श्री आनन्दघन जी की रचनो मे गुजराती के कुछ शब्द प्रवेश पा गये है, वरना उनकी भाषा तो 'पश्चिमी राजस्थानी गुजराती हिन्दी ही है। इससे उनकी भाषा को गुजराती, बुन्देली, अथवा काठीयावाडी और उनका जन्म गुजरात, बुन्देलखण्ड, काठीयावाड मे अनुमान करना निष्पक्ष विचार के द्योतक नही हैं। प्रमाणाभाव मे उनकी गुरुपरम्परा, जन्मस्थान आदि का अनुमान करना कठिन है। अन्तिम समय मे वह मेडता मे रहे, वही उनका स्वर्गवास हुआ, इससे आभास होता है कि राजस्थान से उनका लगाव था। यही कहीं उनकी जन्मभूमि हो सकती है।

अब हमारा यहाँ एक नम्र निवेदन है कि स्तवनो और पदो की विस्तृत व्याख्या न करके उनका संक्षिप्त मे ही इस प्रकार अर्थ दिया है कि पाठक उनके हार्द तक पहुँच सकें। संभव है, इसमे अनेक त्रुटियाँ रह गई हो, इसका दायित्व

हमारी अल्पज्ञता पर ही है। इसके लिए हम क्षमा के पात्र हैं। हमारा यह प्रयास तो सूर्य को दीपक दिखाने मात्र ही है। हमारी त्रुटियों की अथवा आगम विरुद्ध आशय की ओर ध्यान आकर्षित करने वाले महानुभावों के विचारो का हम कृतज्ञता पूर्वक सहर्ष स्वागत करेंगे।

अन्त मे हम श्री अगरचन्द जी नाहटा के प्रति अभारी हैं जिनकी समय समय पर हमे वहुमूल्य सलाह मिलती रही है और जिन्होने अपने सग्रह का उपयोग हमे स्वच्छन्दतापूर्वक करने दिया और फिर ग्रन्थावली के लिए प्रारम्भिक वक्तव्य लिख भेजा जिससे कई नई वातो पर प्रकाश पडता है। श्री जवाहर चन्द जी पटनी को हम नही भूल सकते जिन्होने इस पुस्तक के लिए हमारी प्रार्थना स्वीकार कर भूमिका लिख भेजी है। अत हम उनके कृतज्ञ है। महामना मुनिवर्य श्री नथमल जी स्वामी के सम्मुख तो करवद्ध नतमस्तक है जिन्होने अपने व्यस्त कार्यक्रमो मे से समय निकालकर इस पुस्तक के लिए "प्राग्वाच्य" लिख दिया। इसके साथ ही हम "आनन्दघन चौवीसी याने अध्यात्म परमामृत" के लेखक मुनिश्री गव्वूलाल जी महाराज और इसके गुजराती लेखक श्री मगल जी उद्धव जी शास्त्री, 'आनन्दघन पद्य रत्नावली' के सम्पादक श्री साराभाई मणिलाल नवाव, आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरीश्वर जी तथा इन पुस्तको के प्रकाशको के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट करते है जिनकी पुस्तको से हमने श्री आनन्दघन जी के कुछ पद और स्तवन अपनी ग्रथावली मे साभार उद्धृत किये हैं।

जय आनन्दघन

विनीत :

स्व० उमरावचन्द जैन जरगड

महताब चन्द्र खारैड

प्रासंगिक वक्तव्य

—श्री अगरचन्द नाहटा—

जैन धर्म मे आत्मा को ही सर्वाधिक प्रधानता दी गई है। अतः वह आत्मवादी दर्शन है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से ही परमात्मा बनता है। परमात्मा एक व्यक्ति नही, स्थिति है। इसलिए जैन धर्म मे भगवान महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा है कि आत्मा ही अपना मित्र है और वही अपना शत्रु है। अपने बुरे विचारो और क्रियाओ से दुर्गति और अच्छे विचारो से सदगति–अर्थात् सुख-दुख–प्राप्त करता है। कर्मो का बन्धन करने वाला वही है। कर्मो का शुभाशुभ परिणाम भी करने वाले को ही भोगना पडता है। अपने प्रयत्न या स्वभाव मे स्थिति होने से आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाता है, पर होता है। अपने पुरुपार्थ से है। जिस तरह अन्य दर्शनो मे ईश्वर को कर्ता-वर्ता माना गया है उसी तरह जैन दर्शन मे आत्मा को ही कर्ता-भोक्ता माना है। आत्म-दर्शन ही सम्यक्-दर्शन है और सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है। इस आध्यात्मिक परंपरा मे समय-समय पर अनेक योगीध्यानी पुरुष हो गये है जिनमे से १७वी के अन्त और १८वी के प्रारभ मे श्वेताम्वर जैन सम्प्रदाय के खरतर गच्छ मे लाभानन्द नामक एक योगिराज हो गये है जिनका आत्मा–नुभव मूलक प्रसिद्ध नाम आनन्दघनजी है। उन्होने अपनी साधना से बहुत ऊ ची स्थिति प्राप्त करली थी। उनकी रचनाओ मे बाईस तीर्थंकरो के बाईस स्तवन और लगभग एक सौ पद तथा पाँच सुमति की सज्झायें ही प्राप्त हैं। उनकी प्राप्त समस्त रचानाऐं ही इस ग्रन्थ मे दी गई है अत. इसका नाम ही आनन्दघन-ग्रन्थावली रखा गया है।

बाल्यकाल से ही मै आनन्दघनजी के स्तवन एव पदो को सुनकर आनन्द प्राप्त करता रहा हूँ। आगे चलकर जब जैन-साहित्य की शोध का काम प्रारम्भ किया तो आनन्दघनजी की रचनाओ की भी खोज की गई। स्तवनो और पदो के अनेक हस्तलिखित प्रतियो का अवलोकन, नकल, पाठान्तर और

संग्रह का कार्य किया गया। गुजराती में उनके बाईस स्तवनों तथा २ अन्यों की पूर्ति मिला चौवीसी पर कई विवेचन देखने में आये और पदों पर भी योगनिष्ठ बुद्धिसागरसूरिजी और स्वाध्याय-प्रेमी मोतीचन्द कापड़िया के विवेचन पढने को मिले। पर हिन्दी मे स्तवनो और पदो का कोई विवेचन नही मिलने से कई वर्षों से यह प्रयत्न चल रहा था कि इस अभाव की पूर्ति शीघ्र ही की जाय। आनन्दघनजी की रचनाए बडी गूढ और रहस्यपूर्ण हैं। अतः विवेचन के बिना साधारण पाठक उनके रहस्य या मर्म को नही प्राप्त कर सकता। उन्हें गाकर भाव विभोर तो हो सकता है पर भावों को हृदयंगम नही कर सकता।

कुछ वर्ष पूर्व जयपुर से श्री उमरावचन्द जी जरगड अपने जवाहरात के व्यापार के सिलसिले मे बीकानेर आये। उनसे बातचीत होने पर उनमे कुछ चिंतन और लेखन की प्रतिभा का आभास हुआ। तब मैंने उनको प्रेरणा दी कि आप श्रीमद् आनन्दघनजी और देवचन्दजी की रचनाओ पर हिन्दी मे विवेचन लिखिए। उन पर चिंतन करने से स्वय आध्यात्मिक भावो से ओत-प्रोत होगे और विवेचन लिखने पर दूसरो के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। उन्हें वह बात जँच गई और श्री देवचन्दजी की चौवीसी और स्नात्र-पूजा पर हिन्दी विवेचन लिख डाला जो श्रीजिनदत्तसूरि सेवा सघ से प्रकाशित हो चुका है। देवचन्दजी की कुछ प्रेरणादायक रचनाओ का संग्रह भी छोटी पुस्तक के रूप मे उनने प्रकाशित करवा दिया।

योगीराज श्रीमद् आनन्दघनजी की रचनाओ पर विवेचन लिखना साधारण काम नही था, इसलिए उनने काफी समय तक जहा जो कुछ मिला पढा और सग्रह किया। मैंने भी आनन्दघनजी की बाईसी पर जो सर्वोत्तम विवेचन श्रीमद् ज्ञानसारजी का लिखा मिलता है, उसे उन्हे दे दिया और अन्य भी जो जानकारी एव सामग्री उन्हे आवश्यक थी, देता रहा। निरंतर प्रेरित करते रहने से उनने आनन्दघनजी की रचनाओ पर विवेचन लिखना प्रारम्भ भी कर दिया पर इस कार्य को वे पूरा करके अन्तिम रूप नही दे पाये। इसी बीच वे अस्वस्थ हो गये और उनकी मानसिक स्थिति गिरती ही गई। अत. वह काम अधूरा ही पडा रहा। हर्ष की बात है कि श्री महतावचन्दजी खारेड़

ने उस काम को वहुत परिश्रम करके पूरा कर दिया और अव वह पाठकों को प्रकाशित रूप मे सुलभ हो रहा है ।

श्री जरगडजी की धर्मपत्नी भी आध्यात्मिक प्रेमी है । उन्हे भी उनकी विद्यमानता मे ही इसे प्रकाशित रूप मे देखने की वडी इच्छा थी पर खेद है कि जरगड़जी की विद्यमानता में यह काम पूरा नही हो पाया । यद्यपि मैं इसके लिए वहुत प्रेरणा देता रहा पर सयोग नही था । अव जरगड़जी की धर्मपत्नी और सुपुत्र विजयचन्दजी इसे प्रकाशित करवा कर श्री जरगडजी की अन्तिम इच्छा को पूर्ण कर रहे है । यह वहुत खुशी की वात है । मुझे भी इससे अपार हर्ष हो रहा है ।

आनन्दघनजी का मूलतः गच्छ

श्रीमद् आनन्दघनजी वैसे तो गच्छातीत ही नही, संप्रदायातीत स्थिति को पहुँच चुके थे फिर भी मैंने प्रारम्भ मे जो उन्हे खरतरगच्छ का वतलाया है उसका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझता हूँ ।

[1]वीसवी शताव्दी के खरतरगच्छीय महान गीतार्थ आचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी ने श्री वुद्धिसागर सूरिजी को वतलाया था कि आनन्दघनजी मूलतः खरतरगच्छ मे दीक्षित हुए एव उनकी परंपरा के यति उनके समय में थे । उनका उपासरा मेड़ते मे विद्यमान है जो उस खरतरगच्छ सघ के ही आधीन था ।

[2]आनन्दघनजी का दीक्षावस्था का नाम लाभानन्द था । उसमे जो 'आनन्द' नामात पद है उसका प्रयोग खरतरगच्छ की चौरासी नन्दियो (नामात पदो) मे होता रहा है । लाभानन्दजी नाम के एक और भी मुनि खरतरगच्छ मे १६वी शताव्दी मे हुए है । अर्थात् लाभानन्द ऐसे नाम रखने की परम्परा खरतरगच्छ मे ही रही है ।

---

१. मोतीचन्द कापडिया लिखित आनन्दघनजी ना पदो की प्रस्तावना पृष्ट २१ की टिप्पणी ।

२. 'लाभानन्द की जगह कईयो ने लाभविजय जी लिख दिया है, वह गलत है । लाभानन्दजी लेख वाला हमे १ पद भी मिल गया है ।

तीसरा एक समकालीन महत्त्वपूर्ण लिखित उल्लेख मुझे और प्राप्त हो गया है। १८वीं शताब्दी की खरतरगच्छीय बीकानेर भट्टारकीय गद्दी के श्री पूज्य श्रीजिनचन्द्रसूरिजी को मेड़ता से एक पत्र उपाध्याय पुण्यकलश, मुनि जयरंग चारित्रचन्द्र आदि ने सूरत भेजा था। वह पत्र आगम प्रभाकर स्वर्गीय मुनि श्री पुण्यविजयजी के संग्रह मे हमे देखने को मिला। उन पत्र में लिखा है—"पं० सुगुणचन्द अष्टसहस्री" लाभाणंद आगइ भणई छइ। अर्द्ध रइ टाणइ भणी। घणु खुसी हुई भणावई छई।"—इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि लाभानन्द, उपाध्याय पुण्यकलश आदि से दीक्षा में छोटे थे। इसलिए उनके नाम के आगे कोई विशेषण नही लगाया गया। पं० सुगुणचन्द्र उस समय लाभानदजी के पास अष्टसहस्री ग्रंथ पढ़ रहे थे। आधा करीब लाभानंदजी उन्हे पढा चुके थे। बहुत प्रसन्न होकर वे पढ़ा रहे थे, इसका उल्लेख जिनचन्द्रसूरिजी को सूचना देने के लिए इस पत्र में किया गया है। उस समय मुनिगण प्रायः अपने ही गच्छ के विद्वान् से पढ़ते थे और जिस रूप मे लाभानंदजी का इस पत्र मे उल्लेख किया है उससे वे मूलतः खरतरगच्छ के ही सिद्ध होते हैं। यद्यपि उनको गच्छ का कोई राग या आग्रह नहीं था पर केवल उनकी परंपरा बतलाने के लिए ही मैंने उपर्युक्त विवरण दिया है क्योकि तपागच्छ वाले* उपाध्याय यशोविजयजी से आनंदघनजी का मिलना हुआ था, इस बात को लेकर उन्हे तपागच्छीय बतलाते रहे हैं। अतएव वास्तविक स्थिति जो ऐतिहासिक तथ्यो के आधार से मुझे विदित हुई है, वही पाठको के सामने यहां उपस्थित की गई है।

आनन्दघन-यशोविजय मिलन

उपाध्याय यशोविजयजी महान् विद्वान् थे। उनने आनंदघन से मिलकर अष्टपदी मे जो प्रसन्नता प्रकट व्यक्त की है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अष्ट-

---

× इससे आनंदघन केवल योगी व साधक ही नहीं, बड़े विद्वान् सिद्ध होते हैं।

* जैनतत्वादर्श के उल्लेखानुसार पं० सत्यविजय आनंदघनजी के साथ कई वर्ष वनादि मे विचरे थे कहा जाता है पर पं० सत्यविजय रासादि मे उल्लेख नहीं होने से वह कथन प्रामाणिक नहीं लगता।

पदी के अतिरिक्त एक अन्यपद से भी उन दोनो महापुरुषो का मिलन सिद्ध होता है। विवेचन मे यह पद उद्धृत किया है—

मेरो निरंजन यार कैसे मिले।
दूर देखूं तो दरिया डूंगर, ऊंचे अवर धरणि तलै ।।मे०।।
धरणि गडूं तो सूझै नही, अगन तपूं तो देही जलै ।।
'आनन्दघन' 'जसां' सुन वातै, सोई मिल्यां मेरो फेरो टलै ।।मे०।।

इसमे 'जसा' शब्द का प्रयोग उपाध्याय यशोविजयजी के लिए ही किया गया प्रतीत होता है।

(यह प्रस्तुत ग्रन्थ का पद नं० ११९ है।)

यशोविजय रचित बावीसी बालावबोध

सं० १७६७ कार्तिक सुदि २ को पाटन मे उपाध्याय यशोविजय की रचनाओ की सूची का एक पत्र लिखा गया था। उसमे न० ११ पर 'आनन्दघनजी बावीसी बालावबोध' का भी नाम है। अर्थात् यशोविजयजी ने आनन्दघनजी के बाईस स्तवनो पर विवेचन लिखा था, पर खेद है उपाध्याय यशोविजयजी जैसे महान् विद्वान् की रची हुई जैसे और भी अन्य बहुत सी रचनाएं अप्राप्य हो चुकी है, वैसे ही यह आनन्दघन बावीसी बालावबोध भी अब कही प्राप्त नही होता। यदि यह कही मिल जाता तो आनन्दघनजी के विषय मे अवश्य ही कुछ महत्त्वपूर्ण बाते जानने को मिलती। एव स्तवनों का सही पाठ व भाव अधिक स्पष्ट होता। जैन गुर्जर कवियो, भाग २ पृष्ठ २५ मे पाटण भण्डार के उस पत्र का उल्लेख है जिसमे यशोविजयजी की रचनाओ मे बावीसी बालावबोध का भी नाम है।

बावीसी या चौवीसी ?

आनन्दघनजी की बावीसी के स्तवनो पर अभी जो सबसे पहला विवेचन प्राप्त है वह ज्ञानविमलसूरि रचित है। पर उन्हे भी यशोविजयजी का वह विवेचन प्राप्त नही हुआ था। इसीलिए उनका विवेचन बहुत साधारण और कही-कही गलत भी हो गया है, इसका उल्लेख ज्ञानसारजी ने अपने विवेचन में अनेक जगह किया है। यशोविजयजी, ज्ञानविमलसूरि और ज्ञानसारजी सभी

को आनन्दघन जी के बाईस स्तवन ही प्राप्त थे, इसलिए अन्य जो दो प्रकार के दो-दो स्तवन पार्श्वनाथ और महावीर के स्तवन आनन्दघनजी के नाम से प्राप्त होते है, उनमे दो तो श्रीमद् देवचन्द्रजी रचित है+। यह ज्ञानसारजी के विवेचन मे स्पष्ट लिखा है। अतः बाकी जो दो स्तवन और रह जाते है, मेरी राय मे वे यशोविजयजी के रचित हो सकते है। क्योंकि जिस तरह ज्ञानविमलसूरि और ज्ञानसारजी ने बाईस स्तवनो का विवेचन लिखने के बाद पूर्ति के रूप में अन्तिम दो स्तवन अपनी ओर से बनाकर चौवीसी की पूर्ति की थी उसी तरह यशोविजयजी ने भी बावीसी पर विवेचन लिखने के बाद अन्तिम दो स्तवनो को स्वय बनाकर पूर्ति की होगी। श्रीमद् देवचन्दजी को भी आनन्दघनजी के बाईस स्तवन ही मिले। इसलिए उन्होने अन्तिम दो स्तवन स्वयं बनाकर चौवीसी की पूर्ति की। हमारे सग्रह के एक गुटके में आनन्दघनजी की चौवीसी लिखी हुई है उसमे अन्तिम दोनो स्तवनो के रचयिता स्पष्ट रूप में देवचन्द्रजी को बतलाया है। सौभाग्य से हमे आनन्दघनजी के बावीस स्तवनो की एक प्राचीनतम प्रति भी मिल गई है जिसमे बावीस स्तवन ही लिखे हुये हैं। कारण कुछ भी रहा हो पर इन सब बातों से स्पष्ट हे कि आनन्दघनजी ने बाईस स्तवन ही बनाये थे। पीछे के पार्श्वनाथ और महावीर के स्तवन अन्य जैन कवियो ने बनाकर चौवीसी की पूर्ति की है।

पू० सहजानन्दजी की पूर्ति चैत्यवंदन एवं स्तुति

यहाँ एक नई सूचना भी देना आवश्यक समझता हूँ कि आनदघनजी ने बाईस स्तवन ही बनाये थे पर मन्दिरो मे स्तवन से पहिले चैत्यवन्दन और स्तवन के बाद स्तुति भी (अन्य नमोत्थुणं जय वीयराय आदि के साथ) बोली जाती है। अतः चैत्यवन्दन और स्तुति की पूर्ति के रूप मे पूज्य सहजानदजी ने २४ चैत्यवन्दन और २४ स्तुतिया भी आनदघनजी के भावो के साथ ताल-

---

\+ प्रस्तुत ग्रन्थ मे २२ स्तवनो के बाद जो पार्श्वनाथ और महावीर स्तवनों को जो ज्ञानविमल सूरि के कहे जाते है लिखा है वे वास्तव में श्रीमद् देवचन्दजी के है। ज्ञानविमलजी ने पूर्ति रूप जो दो स्तवन बनाये है उनको मैंने तो ज्ञानविमल नाम दिया है।

मेल वनाने वाली वनादी है, जो 'सहजानंद पदावली' आदि मे प्रकाशित भी हो चुकी है ।

पद बहुतरी

आनदघनजी की दूसरी प्रमुख रचना है—गीत द्रुपद या आध्यात्मिक पदावली । योगीराज ने समय-समय पर अपने हृदयोद्गार और अनुभूति के व्यक्तिकरण रूप जो पद-भजन वनाये हैं, वास्तव मे वे एक ही समय पर नही वने थे इसलिए पद-संग्रह का नाम 'वहोत्तरी' आदि उनकी ओर से नही रखा गया था । प्राचीन प्रतियों मे वहोत्तर (७२) पद मिलते भी नही है, किसी मे चालीस-पेतालीस के करीव है, किसी मे साठ-सत्तर । अतः उन्नीसवी शताब्दी में किसी सग्रहकर्त्ता ने आनदघनजी के प्राप्त पदो का सग्रह किया और उनकी सख्या चौहत्तर-पचहत्तर के लगभग हो गई तव शायद पद सग्रह का नाम वहोत्तरी रख दिया गया । सवत् १८५७ की लिखी हुई प्रति हमे प्राप्त हुई है जिसमे ७४–७६ पद है पर उसमे पद संग्रह का नाम वहोतरी नही दिया है परन्तु आनदघनजी के सर्वाधिक मर्मज्ञ श्रीमद् ज्ञानसागरजी ने आनदघनजी के अनुकरण मे जो चौहत्तर पद वनाये है उनका नाम उन्होने 'वहोतरी' रखा है । अतः उन्नीसवी शताब्दी मे आनदघनजी का पद सग्रह 'वहोतरी' के नाम से प्रसिद्ध हो गया मालूम देता है ।[+] इसके वाद चिदानन्दजी ने भी समय-समय पर जो पद स्तवन वनाये उनकी सख्या भी वहत्तर (७२) तक पहुँच गई । अत चिदानदजी की वहोतरी प्रसिद्ध हो गई । वहत्तर (७२) सख्या का आकर्षण अठारहवी शताब्दी से रहा है । जिनरगसूरिजी ने वहत्तर पद्यो वाली एक रचना को जिनरग वहोतरी नाम दिया जो अठारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना है ।

स्तवनों एवं पदों के समर्थ विवेचक ज्ञानसारजी

श्रीमद् ज्ञानसारजी ने आनंदघनजी के स्तवनो और पदो पर वर्पो तक गभीर चिंतन किया था । चौवीसी वालाववोध मे ज्ञानसारजी ने स्पष्ट लिखा

१.[+] हमे प्रवर्त्तक कातिविजय के सग्रह की स० १८९० की प्रति मे वहुतरी नाम लिखा मिला है । इससे पहले की स० १८७१ की वनारस की प्रति के अन्त मे वहुतरी' लिखा है । दे जै गु क. भाग ३

है कि सं० १८२९ से मैने आनंदघनजी के स्तवनों पर चिंतन करना प्रारम्भ किया। ३७ वर्ष तक चिंतन चलता रहा, अनेको से पूछा पर संतोष नही हुआ। अन्त मे वृद्धावस्था आने लगी देखकर सं० १८६६ मे किशनगढ़ मे चौमासा करते हुए आनन्दघनजी के बावीस स्तवनों पर उन्होने 'बालावबोध-भाषाई टीका एवं विवेचन' लिखा। उसमे उन्होने आनंदघनजी का आशय अति गहन-गभीर है। उनके भाव को ठीक से समझने की मेरी पहुँच नही है, यह स्पष्ट लिखा है। योगीराज कविजी की महानता और अपनी लघुता तथा पूर्व बालावबोध के लेखक ज्ञानविमलसूरि की असमर्थता पर उन्होंने अनेक जगह उल्लेख किया है।

ज्ञानसारजी ने एक बार विवेचन लिखकर ही सन्तोष नही किया। उन्होने कई बार इसमे संशोधन, परिवर्द्धन किया है। हमे उनके बालावबोध की दो तरह की प्रतियाँ मिली है+ जिनसे मालुम होता है कि सं० १८६६ के बाद उन्होने अपने बालावबोध में जगह-जगह पर आनंदघनजी की उक्तियों के साथ-साथ अपनी ओर से भी बहुत से दोहे आदि बनाकर (यदुक्ति के उल्लेखन) आनंदघनजी के भावो को अधिक स्पष्ट और सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है। खेद है, भीमसी माणेक आदि ने ज्ञानसारजी के विवेचन को मूलरूप में प्रकाशित नही कर सक्षेप कर दिया और भाषा भी बदल दी। हमने मूल विवेचन की प्रतिलिपि कर रखी है यदि आर्थिक सहयोग मिला तो उसे प्रकाशित करने का विचार है। ज्ञानसारजी के पदादि मे आनदघनजी का प्रभाव व अनुकरण स्पष्ट है। आ. जयसागर सूरिजी ने ज्ञानसागर जी को "लघुआनदघन" बतलाया है।

ज्ञानसारजी ने आनदघनजी के स्तवनो के साथ-साथ उनके पदो का विवेचन भी लिखना प्रारम्भ कर दिया था पर संम्भवत. वे सब पदो पर विवेचन लिख नही पाये। पद विवेचन की हमे दो-तीन प्रतियाँ मिली उनमे तो

\+ हमारे सग्रह मे सं० १८६९–७१ की लिखित बालावबोध की प्रति के पत्र भी है, जिनमे लिखा है कि ज्ञानसारजी की स्वय लिखित प्रति से नकल की है। बड़े सस्करण की भी हमारे यहाँ प्रति है।

केवल तेरह पदो का ही बालावबोध था। पर ढूंढते-ढूढते एक प्रति ऐसी मिली जिसमे और भी १८ पदो का विवेचन मिल गया। फिर भी श्रीजिन कृपाचन्द्र सूरिजी ने जिस जैतारण की प्रति की सूचना दी थी उसमें करीब ४० पदो का विवेचन था[1]। वह प्रति हमे प्राप्त न हो सकी। अभी हमे ३१ पदों से अधिक का विवेनच ही मिल गया है। उसमे एक पद के विवेचन मे ज्ञानसारजी ने लिखा है कि आनदघनजी पहिले वैष्णव सप्रदाय मे थे फिर जैन मे दीक्षित हुए।[2]

यदि ज्ञानसारजी रचित आनदघनजी के पदो का विवेचन, परवर्ती विवेचक बुद्धिसागर सूरि को मिल गया होता तो अवश्य ही उनका विवेचन और अधिक ज्ञानवर्द्धक बन जाता। बुद्धिसागर सूरिजी को ५० पदो की गम्भीरविजय विवेचन की एव माणकलाल घेलाभाई की ३६ पद-विवेचन की नोट बुक मिली थी।

मैने कही उल्लेख पढा था कि आनदघनजी के कुछ पदो पर विवेचन प० लालन ने भी लिखा था पर वह मुझे प्राप्त नही हो सका। फुटकर रूप से तो कुछ पदो का विवेचन अन्य विद्वानो का भी किया हुआ मिलता हैं पर समस्त पदो का विवेचन योगनिष्ठ बुद्धिसागर सूरिजी व मोतीचन्द कापडिया का ही प्रकाशित हुआ है। इन दोनो मे कापड़ियजी[3] का विवेचन काफी विस्तृत और अच्छा है क्योंकि गम्भीरविजयजी जैसे विद्वान का उन्हे सहयोग मिल गया था। बहुत से पदो का सक्षिप्त विवेचन गम्भीरविजयजी ने किया उसे कापड़ियाजी या उनके साथियो ने नोट कर लिया था उसे अपनी ओर से अधिक विस्तृत कर दिया। देशाई सग्रह मे पद विवेचन की हमे एक नकल मिली है सम्भवत. वह विवेचन माणकलाल घेसाभाई का हो।

---

१. 'बुद्धिप्रभा' सन् १९१२ जनवरी-फरवरी अंक।

२. वैष्णव सप्रदायी भक्त कवि आनदघन, जैन आनदघन से बहुत पीछे हुए है। इनके समय मे १०० वर्ष का अतर है। संभवतः नाम साम्य के कारण श्री ज्ञानसारजी को भ्रम हो गया हो। (सम्पादक)

३. कापडिया को १ अपूर्ण १ पूर्ण बालोवबोध सहित प्रति मिली जिसका उपयोग उन्होने किया। यह ज्ञानसारजी कृत ही होगा।

पाठभेद

आनंदघनजी के स्तवनो के पाठ मे भी भिन्न-भिन्न प्रतियो मे काफी पाठ-भेद मिलते हैं । मुनि श्री जम्बुविजयजी ने कई प्रतियो के आधार से पाठ-भेद सहित प्रेस कॉपी तैयार की थी और उसको वे प्रकाशित करने वाले भी थे । मुझे नौ स्तवनो का प्रूफ भी उन्होंने एक बार भेजा था पर पता नही क्यो उसका प्रकाशन स्थगित कर दिया । हमने भी कई प्रतियों के पाठ भेद ले रखे है । मूलपाठ का निर्णय और अन्तिम रूप देने का काम हमने पूज्य गुरुदेव श्री सहजानन्दघनजी को सौपा था पर वह पूरा नही हो पाया । **स्तवनों का प्रथम सर्वश्रेष्ठ हिन्दी विवेचन ।**

पूज्य गुरुदेव ने हमारे अनुरोध से आनन्दघनजी के स्तवनों पर मननीय विवेचन लिखना प्रारम्भ किया था पर बीकानेर के निकटवर्ती उदरामसर के धोरों की गुफा मे सोलह-सतरह स्तवनों पर ही विवेचन लिख पाये, उसके बाद जो काम रुक गया, वह रुका ही रहा । अनेक बार अनुरोध किया पर पूरा होने का सयोग नही था । गुरुदेव कहते रहे कि जो पहले लिखा गया है वह भी ज्यो-ज्यो अनुभव और मनन बढ़ता है त्यो त्यों उसमे और सशोधन परिवर्तन की आवश्यकता मालुम देने लगती है । इसीलिए हमे किये हुए विवेचन की भी नकल करने का सुयोग नही दिया और अब वह किसके पास रहा इसका भी पता नही चल रहा है । हिन्दी मे यह सबसे पहला और अच्छा विवेचन लिखा जा रहा था पर वह पूरा और संशोधित परिवर्द्धित नही हो पाया, इसका बड़ा खेद है ।

आनंदघनजी के कई पदो पर पूज्य सहजानंदघनजी ने कई प्रवचनों मे विस्तृत विवेचन किया था पर खेद है वह भी लिखा नही जा सका ।

पूज्य श्री को हमने कई प्रतियो की नकलें करके भेजी तो उन्होने एक काम अवश्य किया कि आनदघनजी के ६० पदो का वर्गीकरण १० भागो में करके उन पदों की विषय-सूचक नामावली की सूची हमे लिखकर भेज दी जो आज भी हमारे पास मौजूद है । अभी तक ऐसा प्रयास किसी ने नही किया और एक आत्मानुभवी ने यह काम करके हमे भेज दिया, इसे भी हम अपना सौभाग्य ही समझते हैं ।

पूज्य सहजानन्दजी की विशेप प्रेरणा से हमने 'ज्ञानसार ग्रंथावली' का प्रकाशन किया था पर खेद है कि कलकत्ते के हिन्दू-मुस्लिम दगे मे मूल ग्रन्थावली के फर्मे मुसलमान जिल्दसाज के पास ही रह गये, इसलिए वीकानेर मे इसका करीव ग्राधा मैटर ही छपाकर प्रकाशित करना पडा। अच्छा यही हुआ कि जीवनी आदि के प्रारम्भिक फर्मे हमे सुरक्षित मिल गये, वे पूरे दे दिये।

इसके वाद उन्होने हमे श्रीमद् देवचन्दजी की भापा वद्ध पद्य रचनाग्रो का शुद्ध पाठ हस्तलिखित प्रति के ग्राधार से तैयार करने का काम सौंपा था और वह ग्रन्थ हमने तैयार करके ग्रन्तिम रूप देने के लिए उन्हे भेज भी दिया था पर स्वास्थ्य अनुकूल नही रहने से वे उस काम को भी कर नही पाये और समाविमरण प्राप्त हो गये।

तीसरा काम आनदघनजी का सौपा था। हमने अपनी ओर से प्राचीनतम प्रतियाँ ढूंढ कर नकल करने और पाठभेद लेने मे यथाशक्ति प्रयत्न भी किया पर वह प्रयत्न भी पूज्य गुरूदेव के चले जाने से पूर्ण सफल नही हो पाया। पूज्य गुरुदेव की सूचनानुसार ज्ञात हुआ कि श्री आनन्दघनजी मेडते के एक वैश्य के तीसरे पुत्र थे। कुछ सामग्री का उपयोग करने के लिए हमने श्री महताव चन्दजी खारेड़ को भेजी थी। पर वह देरी से मिलने से उसका पूरा उपयोग होना रह गया।

आनन्दघनजी के पदों की सख्या

जैसा कि ऊपर लिखा गया है आनदघनजी के पदो की सख्या वहत्तर मानते हुए श्री खारेडजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे पद सग्रह व विवेचन को तीन भागो में वाँट दिया है इसमे से पहले विभाग का नाम 'आनंदघन वहोतरी' उन्होने रखा है। जिसमें तेहतर (७३) पद विवेचन सहित दिए गए है। दूसरे विभाग में स्फुट पद के रूप में उन्होने तीन विभाग कर दिये हैं जिनमें से पदाक ७४ मे ८३ वाले पदो को तो उन्होने आनदघनजी का मानकर विवेचन किया है।

इसके वाद शकास्पद पदो वाला विभाग है। उनके सवध में उन्होने लिखा है कि "ये पद हमारी प्रति मे तो नही किन्तु मुद्रित प्रतियो में है इनकी भापा और शैली आनदघनजी के पदो से भिन्न है। ये पद किसी अन्य जैन कवि

के या और कवियो के हो सकते है। पदाक ९४ के वाद खारेडजी ने लिखा है कि "श्री आनंदघनी के पदो में अन्य कवियो के वे पद जो आनंदघन नाम की छाप के हैं और हमारी प्रतियो में है, यहाँ मूलमात्र दिये जाते है।" पदांक ९९ के वाद मे उन्होने लिखा है कि 'अव इसके आगे के वे पद दिये जा रहे हैं जो हमारी किसी प्रति में नही हैं किन्तु मुद्रित प्रतियों में है, किन्तु वे पद आनदघन जी के नही है, अन्य कवियो के है।" उनमें से कई पदों के वास्तविक रचियता कौन हैं, इस पर भी उन्होने विचारणा की है। पदांक १०९ के वाद वे फिर लिखते है कि "यहाँ वे पद दिये जा रहे है, जो हमारे पास हस्तलिखित प्रतियों मे है किन्तु अव तक की प्रकाशित प्रतियों मे नही है।

इस तरह श्री खारेडजी ने अपनी ओर से प्राप्त पदो के विषय मे काफी विचार और खोज की है पर वे अपने निर्णय मे पूर्ण सफल नही हो पाये हैं। अभी तक प्राचीनतम प्रतियो की खोज आवश्यक है तभी मूल और वास्तविक पाठ का निर्णय हो सकेगा। हमे अव तक जो प्राचीन प्रतियां मिली है उसके आधार से यह कह सकता हूँ कि पद सख्या ७८, ९५, ९६, ९७, ११२, ११३, ११८ ये पद तो निश्चित रूप से आनदघनजी के ही हैं क्योंकि वे प्राचीन १८वीं शताब्दी की प्रतियो मे प्राप्त है। कुछ अन्य पद भी हमे आनदघनजी के ही लगते हैं पर वे उन्नीसवी शताब्दी की प्रतियो मे मिले हैं अतः निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

इस ग्रन्थ मे काफी परिश्रम से जो मूलपाठ दिया है उनमे भी कही-कहीं परिवर्तन की आवश्यकता लगती है। हमारी खोज अभी जारी है। अत. मूल शुद्ध पाठ और आनदघनजी के मूल कृतित्व के सम्वन्ध मे आगे कभी निर्णय किया जा सकेगा।

इस ग्रन्थ में आनंदघनजी के १२१ पद छपे है। १५ हमे अप्रकाशित और मिले हैं। इन सव मे से अन्य कवियो एवं संदिग्ध के वाद देने पर भी करीव १०० पद ऐसे रह जायेंगे जो आनंदघनजी के रचित होने संभव है।

स्तवनों और पदों की प्राचीतम प्रतियाँ

आनंदघनजी के स्तवनों की हमने वीसों प्रतियां देखी है उनमें से एक प्रति तो हमें ऐसी भी प्राप्त हुई है जो निश्चित रूप से कागज, स्याही और

अक्षरों को देखते हुए अठाहरवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की है। हमारी राय में तो वह आनदघनजी की विद्यमानता के समय की ही है क्योंकि प्राणनाथ सम्प्रदाय के 'निजानन्द चरित्र' से आनदघनजी का स्वर्गवास संवत् १७३१ मे मेड़ता में हुआ, यह निश्चित हो गया है। इस प्रति मे आनदघनजी के वावीस स्तवन ही लिखे हुए है।

पद संग्रह की अनेको प्रतियाँ हमने देखी है उनमे से सबसे प्राचीन प्रति सवत् १७०० के आस-पास की लगती है। वह एक गुटके के रूप मे हमारे अभय जैन ग्रन्थालय मे है। कविवर बनारसीदास के मित्र कवरपाल की रचनाएं और हस्ताक्षर भी इसमे है। कई रचनाओ के अत मे लेखक सवत् १६८३ दिया हुआ है। पर उस गुटके के जिन पिछले पन्नो मे कवि रूपचंद और आनदघन के पद लिखे हुए है उनकी स्याही और अक्षर कुछ पीछे के है। स्याही के दोष से आनंदघनजी के पदों वाले कई पत्र तो टुकडे हो गये, नष्ट हो गये फिर भी हमने प्रति की उपलब्धि के समय ही पदो की नकल करवा ली थी जिससे ३८ पद तो सुरक्षित मिल गये बाकी के पत्र टूट जाने के कारण पदो की पूरी नकल करना सम्भव नही हो सका। इस प्रति मे आनदघनजी के ६० से अधिक पद है।

इसके वाद हमे सवत् १७५६, १७६२, १७६८ के सवतोल्लेख वाली अठारहवी शताब्दी की आनदघनजी के पदो की तीन प्रतियाँ और मिल गई। और इन प्रतियो के भी पहले से लिखे हुए गुटके मे कुछ पद और मिल गये।

जैन गुर्जर कवियो मे जैन साहित्य महारथी स्व० मोहनलाल देसाई ने आनंदघनजी के स्तवनो व पदो की प्रतियो का विवरण भाग २ और ३ मे दिया है। उनमे स्तवनो की सवतोल्लेख वाली सबसे प्राचीन प्रति संवत् १७५८ की श्री सीमधर ज्ञान भण्डार मे होने की सूचना है पर वह भण्डार कहाँ का है, स्थान का उल्लेख नही किया इसलिए हम उस प्रति को प्राप्त नही कर सके।

पूज्य मुनि श्री जंवूविजयजी को हमने कई वार पूछा कि आपने कहाँ-कहाँ की किस स० की प्रतियो का पाठ भेद लेने मे उपयोग किया है, इसकी सूचना हमे दें पर उन्होने इसका स्पष्टीकरण नही किया।

मेरी राय मे आनदघनजी के स्तवनो का जो पाठ ज्ञानविमल सूरि और ज्ञानसारजी ने अपने बालावबोधो मे ग्रहण किया है एव इसी तरह पदो के विवेचन मे ज्ञानसारजी ने पदो का जो पाठ ग्रहण किया है उसे अठारहवी शताब्दी का पाठ मानते हुए प्राथमिकता दी जा सकती है । प्राचीनतम प्रतियो के पाठ का तो उपयोग करना ही चाहिए । शुद्ध पाठ होने पर ही अर्थ ठीक हो सकेगा ।

आनंदघन चौबीसी पर आधुनिक विवेचन

ज्ञानविमलसूरि और ज्ञानसारजी के पुराने विवेचन सक्षेप व आधुनिक ग्रन्थ मे छप चुके हैं । इनके आधार से और स्वतत्र रूप से भी बीसवी शताब्दी मे चौबीसी पर कई विवेचन लिखे गये हैं । जिनका यहाँ सक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक समझता हूँ । झवेरी माणकलाल घेलाभाई के प्रकाशित ग्रन्थ तो मेरे देखने मे नही आये पर जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से सवत् १९८२ मे प्रकाशित 'आनदघनजी कृत चौबीसी अर्थयुक्त' नामक ग्रन्थ मेरे ग्रन्थालय मे है उसकी प्रस्तावना मे लिखा है कि ज्ञानविमलसूरि कृत बालावबोध इसमे दिया गया है । पर वास्तव में बालावबोध जिस रूप मे प्राप्त है उसी रूप मे तो यह छपा नही है । इसी प्रस्तावना मे यह भी लिखा गया है कि 'झवेरी माणकलाल घेलाभाई ने जिस रूप मे छपाया यहाँ अक्षरशः छापा गया है । अत शब्दार्थ, भावार्थ और परमार्थ रूप शैली व गुजराती भाषा मे माणकलाल भाई ने ही इस विवेचन को ज्ञानविमलसूरि के बालावबोध के आधार से तैयार किया मालूम होता है ।

श्रीमद् रायचन्दजी ने चौबीसी पर विवेचन लिखना प्रारम्भ किया था पर केवल प्रथम स्तवन का ही वे लिख पाये । पता नही उसमे भी दूसरी गाथा का विवेचन कैसे छूट गया । यदि श्रीमद् जी चौबीसी पर पूरा विवेचन लिख पाते तो अवश्य ही बहुत महत्त्व का होता । आगे का काम डॉ० भगवानदास मेहता ने प्रारम्भ किया और सवत् २००० से २००८ तक मे दूसरे और तीसरे स्तवन का विस्तृत विवेचन लिखा, जो 'जैन धर्म प्रकाश मे क्रमशः प्रकाशित होता रहा । इसमे दूसरे स्तवन के विवेचन का नाम 'दिव्य जिनमार्ग दर्शन'

ग्रौर तीसरे स्तवन के विवेचन का नाम 'प्रभु सेवा नी प्रथम भूमिका' रखा गया है। दोनो स्तवनो का विवेचन स्वतंत्र पुस्तक रूप मे सवत् २०११ मे ३३२ पृष्ठों मे छपा है। इसके परिशिष्ट मे श्रीमद् रायचन्द्र लिखित प्रथम स्तवन का विवेचन भी दे दिया गया है। डॉ० भगवानदास मेहता ने जितने विस्तार से विवेचन लिखा है, उतना ग्रौर किसी ने नही लिखा।

श्री प्रभुदास बेचरदास पारेख ने भी चौबीसी का विवेचन बहुत अच्छा लिखा है, जिसकी प्रथम ग्रावृति सं० २००६ मे प्रकाशित हुई। उसमें बहुत परिवर्तन करके जो नया विवेचन उन्होने तैयार किया वह द्वितीयावृति २०१४ मे जैन श्रेयस्कर मण्डल मेहसाना से प्रकाशित हुई है। ४८० पृष्ठो का यह ग्रथ भी पठनीय है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के मुनि सतवालजी ने चौबीसी का विवेचन लिखा है पर वह ग्रभी तक प्रकाशित नही हुग्रा। उसका उल्लेख इसी सम्प्रदाय के हिन्दी मे विवेचन लिखने वाले मुनि गबूलालजी ने किया है। गबूलालजी का हिन्दी विवेचन भी प्रकाशित नही हुग्रा। उसका गुजराती ग्रनुवाद पण्डित मगलजी उधवजी शास्त्री ने किया, जो ग्रहमदाबाद से स० २००७ मे प्रकाशित हुग्रा है।

ग्रानदघनजी के पदों पर विस्तृत विवेचन लिखने वाले श्री मोतीचन्द कापडिया ने ज्ञानविमल सूरि के ग्राधार पर विवेचन लिखा, जो महावीर विद्यालय बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। वही से कापडिया लिखित पदों के विवेचन के दो भाग इससे पहिले महावीर विद्यालय से प्रकाशित हुए है।

जिस तरह पूज्य सहजानन्दजी ने चौबीसी पर ग्रधूरा विवेचन हिन्दी मे लिखा, उसी तरह प्रो. श्री जवाहरचन्दजी पटनी भी हिन्दी मे विवेचन लिख रहे हैं पर वह ग्रभी पूरा नही हो पाया है।

हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान प्रो. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'ग्रानंद-घन ग्रौर घनानद नामक' पुस्तक प्रकाशित की थी, उसमें से घनानंद की तो स्वतत्र पुस्तक वे निकाल चुके थे। ग्रानदघनजी संबधी ग्रन्थ हनुमान मदिर न्यास, कलकत्ता से २०२६ मे प्रकाशित किया है। उस 'ग्रानदघन' पुस्तक मे

विवेचन तो नही, पर चौवीसी और पदो का मूल पाठ देने के साथ-साथ नीचे टिप्पणी में विशेष शब्दो के अर्थ हिन्दी मे दे दिए गए हैं।

आनन्दघनजी की जीवनी सम्बन्धी दो ग्रन्थ

वैसे तो आनदघनजी सबंधी विशेष वृतांत नही मिलता जो कुछ जानने सुनने में आया वह बुद्धिसागर सूरिजी, मोतीचन्द कापडिया आदि विवेचन लेखको ने अपने ग्रन्थो मे दे दिया। पर आनदघनजी सबधी दो स्वतत्र ग्रन्थ भी गुजराती मे प्रकाशित हुए हैं। इनकी जानकारी प्राय. लोगो को नही है इसलिए उनका उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ।

अब से लगभग ५० वर्ष पहिले शतावधानी प० वीरजलालजी शाह ने 'बाल ग्रन्थावली' के कई भाग तैयार करके प्रकाशित किये थे, इनमे आनदघनजी संबधी एक छोटी पुस्तक भी है।

बम्बई के सुलेखक स्व श्री वसन्तलाल कान्तीलाल ने आनंदघनजी सबंधी निबंध 'जैन सत्य प्रकाश' मे पहले प्रकाशित किया था फिर उन्होंने स्वतत्र पुस्तक 'महायोगी आनंदघन' के नाम से प्रकाशित की। सन् ६६ मे प्रकाशित यह पुस्तक १०४ पृष्ठो की है। इस ग्रंथ मे आनंदघनजी संबधी प्रवादो को सुन्दर शैली मे उपस्थित किया गया है।

आनन्दघनजी के चित्र

आनंदघनजी जैसे योगी का परिचय ही नही मिलता तो समकालीन चित्र मिलने की तो सभावना ही नही है पर लोगों की मांग अवश्य रही, अतः नवीन चित्र बनाकर श्रीमद् बुद्धिसागर सूरिजी के 'आनंदघन पद सग्रह भावार्थ' ग्रन्थ की द्वितीयावृति सं० २००८ में प्रकाशित हुई तब आनंदघनजी के जो कई प्रवाद प्रचलित हैं उनके आधार से कई चित्र बनाकर इस आवृति में प्रकाशित किये हैं। इन्ही चित्रों को मेरे बड़े भ्राता श्री मेघराजजी ने बीकानेर की रेल दादाबाड़ी में भित्ति चित्र के रूप मे चित्रित करवाये हैं।

आनन्दघनजी की स्तुति

समकालीन जैन विद्वानो मे उ. यशोविजयजी ने अष्टपदी रूप आनंदघनजी की भव्य स्तुति की है और विशेष कुछ नही लिखा। २०वी शती मे योगनिष्ठ बुद्धिसागर सूरिजी ने लम्बी स्तवना की है। डा० भगवानदास मेहता ने भी स्तुति बनाई है।

२२ स्तवनों के गाने के तर्ज रूप देसियों का उद्धरण

स्व. मोहनलाल देसाई ने श्री महावीर रजत स्मारक ग्रथ मे आध्यात्मी श्री आनन्दघन अने यशोविजय नामक महत्वपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किया था उसमे प्रकाशित आनन्दघन चौबीसी के प्रारम्भ मे जिन देसियो का उल्लेख हुआ है, उनके सम्बन्ध मे खोजपूर्ण प्रकाश डाला गया है। श्री महतावचन्दजी खारेड ने उस प्रयास को 'चमत्कारी' बताया है पर वास्तव मे उन देसियो का प्रयोग आनन्दघन जी ने अपने स्तवनो मे नही किया था। वह तो प्रतियो के लेखको और स्तवनो के गायको ने कौनसा स्तवन कौनसी प्रचलित तर्ज मे गाया जाय, इसको बतलाने के लिए उन देसियो के नाम लिख दिये हैं। आनन्दघन जी के बाईस स्तवनो की जो प्राचीनतम प्रति हमे मिली है उसमे किसी भी स्तवन की 'देसी' लिखी हुई नही है तथा देसियो के आधार से आनन्दघनजी के समय का जो विचार किया गया है, वह सफल प्रयास नही है।

एक भ्रम का निवारण

श्रीमाराभाई मणिलाल नवाब ने 'आनन्दघन पद रत्नावली' नामक पुस्तक सन् ५४ में प्रकाशित की। इनमे स्तवन और पद प्रकाशित करते हुए निवेदन मे लिखा है कि उनकी मान्यतानुसार श्री यशोविजय जी और आनन्दघनजी एक ही थे, पर उनकी यह मान्यता सर्वथा गलत है। यशोविजय जी ने तो आनन्दघन बावीसी पर बालावबोध लिखा है। उन्होने अष्ट पदों में आनन्दघनजी की महत्वपूर्ण स्तुति की है। इससे दोनो के मिलन की बात तो ज्ञात होती है पर दोनों के एक होने के तो विरुद्ध पड़ती है।

आनन्दघन जी के पदों में कबीर का एक और पद

कई वर्ष पहले मैंने 'सन्त कबीर और आनन्दघन' नामक लेख प्रकाशित किया था, उसमे आनन्दघनजी के नाम से प्रकाशित तीन पदो को कबीर का

वतलाया था । उनमें मे दो पद तो समयसुन्दरजी के लिखे हुए एक पत्र में मुझे मिले थे, जिसके अन्त मे कवीर का स्पष्ट नाम था । अतः मैंने उस पत्र मे प्राप्त पाठ से आनन्दघन वहोतरी मे प्राप्त पाठ की तुलना कर दी थी । श्री विश्वनाथ प्रसाद और खारैड जी ने भी उन पदो को कवीर का वतलाया है । पर इसी तरह एक तीसरा पद और है, वह प्रस्तुत संग्रह पद न ९९ में भी छपा है और कवीर के रचित होने की सम्भावना भी की है पर वह कवीर ग्रंथा-वली में नहीं मिलने के कारण निश्चय नही कहा जा मका । श्री मोहनलाल देसाई ने अपने निवन्ध में लिखा है कि कवीर का एक पद एक प्राचीन हस्त-लिखित पत्र मे से मैंने उतारा है जो आनन्दघन वहोतरी के १०६ वे पद मे मिलता है । उन्होने तुलना के लिए पाठ भी दे दिया है यथा :—

कवीर का पद, (राग सारंग)

भमरा ! कित गुन भयो रे उदासी ।
तन तेरो कारो मुख तेरो पीरो, सवहे फुलन को सुवासी —
ज्या कलि वैठहि सुवासही लीनी, सो कलि गई रे निरासी—
कहेत कवीरा सुन भाई साधो ! जइ करवत ल्यो कासी ।

आनन्दघनजी का १०६ वॉ पद राग नट्ट

किन गुन भयो रे उदासी, भमरा ! किन,

पंख तेरो कारो, मुख तेरा पीरा, सव फुलनको वासी-भमरा
सव कलियन को रस तुम लीना, सो क्यूं जाय निरासी—
आनन्दघन प्रभु तुमारे मिलन कुं, जाय करवत ल्यू कासी ।

इस ग्रथ में प्रकाशित पद न. ११८ आनन्द (वर्द्धन) का है, आनन्दघन जी का नही है ।

क्या आनन्दघनजी मर्मी या रहस्यवादी थे ?

आनन्दघनजी के सम्बन्ध मे जैनेतर विद्वानों मे सवसे पहले सन्त साहित्य के मर्मज्ञ वंगाली विद्वान क्षितिमोहन सेन ने 'वीणा' मे लेख प्रकाशित किया । उसमे उन्होने आनन्दघन को 'मर्मी' या रहस्यवादी कवि वताया पर हिन्दी साहित्य के विद्वान विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपने आनन्दघन ग्रन्थ के

प्रारम्भ मे लिखा है कि आनन्दघन में अध्यातम जैन धर्म का ही अध्यातम है, निर्गु णियों सन्तो मे जो सूफियो का रहस्यवाद घुस गया है उसका प्रभाव अन्य जैन साधुओ की रचनाओं मे चाहे हो भी पर इन जैन आनन्दघन मे उसका प्रभाव बहतर स्थान पर शतादिक पदो मे एकत्र होकर ही डाला है। जैन आनन्दघन को मर्मी सिद्ध करने के लिए श्री सेन ने लिखा है पर इनकी प्रवृत्ति मे वैसा नही जान पडता ।

आनन्दघनजी के अप्रकाशित पद

आनन्दघनजी के पदो के अनेक सग्रह प्रकाशित हुए, उनमे से ज्ञान-सुन्दरजी की 'आनन्दघन पद मुक्तावली' मे तो करीव ६५ पद ही हैं । भीमसी माणेक ने आनन्दघनजी और चिदानन्दजी की वहोतरियो के सग्रह एक साथ पॉकेट साइज और पुस्तक साइज मे प्रकाशित किये । उनमें आनन्दघनजी के पदो की सख्या १०७ तक पहुँची । वुद्धिसागर सूरीश्वरजी के पद सग्रह भावार्थ मे १०८ पद मूल मे और ४ पद प्रस्तावना मे, कुल ११२ पद छपे । प्रस्तुत सग्रह ग्रन्थ मे इनकी सख्या १२१ तक पहुँच गई है । भद्रंकर सूरीजी के शिष्य पुण्यविजय जी सम्पादित 'भक्ति-दीपिका' नामक ग्रन्थ मे चौबीसी के वाद १०९ पद छापे हैं और उसके बाद सज्झाय सग्रह के नाम से ९ स्तवन-सज्झाय और दे दिये गये है। उनमे कई तो स्पष्ट रूप से आनन्दघनजी के नही है वास्तव मे जिस तरह सूर, कवीर, मीरा, तुलसीदास आदि प्रसिद्ध कवियो के नाम से परवर्ती कवि सख्या वृद्धि करते रहे है । इसी तरह आनन्दघनजी के पदो मे भी वहुत अभिवृद्धि होती रही है। हमने अनेक हस्तलिखित प्रतियो मे से समय-समय पर अप्रकाशित पदो की नकल की तो १५ पद ऐसे हमे और मिल गये जो अभी तक कही भी प्रकाशित हुए देखने मे नही आए । इनमे कुछ पद तो दूसरों के रचित लगते है और कुछ आनन्दघनजी के भी हो सकते हैं। इसलिए उन अप्रकाशित पदो को यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है—

(१) राग-आसाउरी

माई प्रीति के फंद परो मत कोई ।
लाज संकुच सुधि बुधि सव विसरी, लोक करे वदगोई ।।मा०।।१।।

असन वसन मन्दिर न सुहावै, रैन नैन भरि रोई ।
नींद न आवै विरह सतावै, दुख की वेलि मैं बोई ।।२ मा० ।।
जेता सुख सनेह का जानौ, तेता दुख फिर होई ।
"लाभानंद" भले नेह निवारई, सुखीय होइ नर सोई ।।३मा०।।
(इति प्रीति निवारण सिझाय । १८वी शती की लिखित प्रति से)

(२)

राग विहाग चोतालो ।
हे नेनां तोहे बरजो, तू नही मानत मोरी सीख ।।ने०।। टेक
वरज रही वरजो नही मानत, घर-घर मांगत रूप भीख ।।ने०१।।
चित चाहे मेरे प्यारे को स्वरूप रूप, स्याम के वदन पर बरसत ईख
आनन्दघन पिया के रस प्यारो, टारि न टरत करम रीख ।
(स० १८७३ प्रति १६ कान्तिविजयजी सग्रह, वडोदा)

(३) राग मारू

हां रे आज मनवो, हमेरो वाऊरो रे ।।टेक।।
आप न आवे पिया लखहु ने भेजे, प्रीत करन उतावरो रे ।।आ०।।१।।
आप रंगीला पियो सेजहुं रंगीली, और रंगीलो मेरो सांवरो रे
।।आ०।।२
"आनन्दघन" बावो निज घर आवे तो मिटै संतावरो रे ।।आ० ३।।
(उपरोक्त सन् १८७३ लिखित कान्तिविजयजी की प्रति से)

(४) राग-काफी

चेतन प्यारा रे मोरा तुम सुमति संग क्यूं न करो, रहो न्यारा ।।चेतन०
पर रमणी से बहुत दुःख पायो सो कछु मन में विचारा ।
या अवसर तुहि आय मिल्यउ है, भूले नहीं रे गिवारा ।।
तुम कछु समझ समझ भरतारा ।।चे० ।१। आप विचार चले घर अपने
और से कियो निस्तारा । चेतन सुमता मांहि मिले दोउ
खेलत है दिन सारा ।। आनन्द ह्वाँ लियो भवपारा ।।चे०।।२।।

(५) राग काफी

आज चेतन घर आवै, देखो मेरे सहिओ। आ०
काल अनादि कियो परवश ही अब निज चित ही चितावे ।।दे० १।।
जनम-जनम के पाप किए ते सो निधन मांहि वहावैं ।
श्री जिन आज्ञा सिर पर धर के परमानन्द गुण गावैं ।।दे०।।२।।
देत जलांजलि जगहि फिरण कुं, फिर के न जगत में आवै ।
विलसत सुख पर अखंडित 'आनन्दधन' पद पावैं ।।दे०।३।।

(६) राग काफी

कव घर चेतन आवेगे ।।क०।। सखिरी री लेउं वलैया वार वार ।क०।
रयण दिना मैनु ध्यान तुषाढा, कबहुक दरश दिखावेगे ।। मे० ।।१।।
विरह दिवानी फिरुं ढूंढती पिउ पिउ करत पुकारेगे ।
पिऊ जाय मिले ममता से काल अनंत गमावेगे ।।मे० ।।२।।
करुं उपाय णक मे उद्यम अनुभौ मित्र बुलावेगे ।
आय उपाय करके अनुभव नाथ मेरा समझावेगे ।।मे०।।३।।
अनुभव मित्र कहे सुनि साइव अरज एक अवधारेगे ।।मे०।।४।।
अनुभव चेतन मित्र मिले दो सुमति निसाण घुरावेगे ।
विलसत सुख आनन्द लीला में अनुभव आप जगावेने ।। मे०।।५।।

(७)

राम रस मुहंगा है रे भाई, जाको मोल मुनत घर जाइ ।।रा०
जेणे चाख्या सोइ जाणै, मुख सुं कहे सो झूठ ।
या हम तुम से वहुत कही परमावै सारो ही कूड़ ।।रा०।१।।
दर्शन-दर्शन भटकियो, सिर पटक्यौ सो वार ।
वाट वटाउ पूछियउ पायो न ए रस र सार ।। रा०।।२।।
तप जप किरिया थिर नही ज्ञान विज्ञान अज्ञान
साधक वाधक जाणियउ और कहा परमाण ।।रा०।।३।।
द्वैत भाव भासे नही ग्राहक घर ही जान ।
द्वैत ध्यान वृथा सही है इक होय मुजान ।।रा०।।४।।
हाय कामना वश तुम्हे मंत्र जंत नहीं तंत ।
अनुभव गम्य विचारिये पावे आनंदघन विरतंत ।।रा०।।५।।

6	6	8	9	10	11	12	13
—	—	—	—	—	—	—	—
48	40	43	39	—	11	—	—
51	43	74	42	—	14	—	—
37	29	52	29	—	—	27	—
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	28	—
46	38	41	77	24	9	—	—
58	50	40	48	19	19	—	27
11	71	29	69	—	38	30	—
22	14	22	14	—	—	—	12
43	35	35	35	25	6	—	—
16	—	—	—	—	—	—	—
55	47	33	45	—	18	—	—
21	13	21	13	—	—	10	11
61	53	76	51	—	22	—	—
60	52	57	50	—	21	—	—
41	33	56	33	33	4	—	32
—	—	—	—	28	—	—	—
—	—	—	—	31	—	—	—
—	—	—	—	35	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—

6	7	8	9	10	11	12	13
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
8	10	18	10	44	—	8	8
49	41	4	40	—	12	—	25
13	73	7	71	—	31	32	—
—	—	—	—	—	—	—	—
—	7	81	75	—	—	—	—
42	34	73	34	36	5	—	33
57	49	39	47	27	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
59	51	31	49	—	20	—	21
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	82	76	—	—	29	—
5	7	16	7	4	—	5	5
6	8	—	8	5	—	6	6
80	—	—	—	—	—	—	—
45	37	37	37	38	8	—	—
69	61	66	59	—	—	—	—
65	57	62	55	18	—	—	—
79	68	10	66	—	35	23	—
25	17	25	17	—	—	—	15

1	2		3	4	5
99.	मेरी मुं मेरी सुं मेरी सुं मेरी सौ मेरी री		51	61	64
100.	मेरे ए प्रभु चाहिये		117	108वु	—
101.	मेरे घट ज्ञान भानु भयो भोर		73	15	73
102.	मेरे प्राण आनन्दघन तान आनन्दघन		72	52	7
103.	मेरे मांभी मजीठी सुण इक वाता		20	72	21
104.	मोको कोऊ कैसई हू तको		9	59	4
105.	मौने कोई मिलावो रे कंचन वरणो नाह		22	49	23
106.	या पुद्‌गल का क्या विसवासा		107	97	—
107.	राम कहो रहिमान कहो		65	67	79
108.	राश शशी तारा कला	साखी	27	65	31
109.	रिसानी आप मनाओ रे		36	18	40
110.	रे घग्यिाली वाउरे मत घरिय वजावै		2	2	72
111.	रे परदेशी भ्रमरा		116	—	29
112.	लागी लगन हमारी जिनराज		91	84	—
113.	वारी हूँ वोलडे मीठडे		18	85	19
114.	वारुं रे नान्ही वहु औ मन गमतुं कीधूं		71	90	71
115.	वारे नाह संग मेरो		90	36	—
116	वारो रे कोई पर घर रमवानो ढाल		47	91	59
117.	विचारी कहा विचारे रे		62	22	87
118.	विवेकी वीरा सह्यो न परे		39	87	45
119.	व्रजनाथ से सुनाथ विण		95	63	11

6	7	8	9	10	11	12	13
68	60	65	58	—	—	—	19
—	—	—	—	—	—	—	38
72	64	69	62	—	25	—	28
—	—	71	—	—	44	—	23
56	48	38	46	26	—	—	—
15	75	34	73	—	33	34	—
64	56	60	54	17	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
78	69	9	67	—	—	22	—
43	35	35	35	25	6	—	—
44	36	36	36	23	7	—	—
2	2	2	2	42	39	2	—
—	76	80	74	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
14	74	26	72	11	32	33	18
62	54	73	52	15	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
63	55	61	53	16	—	—	—
47	39	42	38	—	10	—	—
40	32	54	32	32	3	—	31
9	—	28	—	—	36	—	—

6	7	8	9	10	11	12	13
—	—	—	—	—	—	—	—
39	31	54	31	30	2	—	30
52	44	74	—	—	15	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
77	67	8	65	—	34	21	—
33	25	48	25	3	—	20	34
—	—	—	—	—	—	—	—
4	4	4	4	8	42	4	4
76	66	27	64	—	29	—	—
73	65	70	63	—	26	—	—
10	70	78	68	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—

टिप्पणी :—

(2) क्रम सख्या 7 का पद मुद्रित प्रतियो मे "साधो भाई" शब्द से आरम्भ होता है।

(3) क्रम सख्या 11, 22, 47, 52, 115 के पद श्री नाहटा जी की सं० 1857 की प्रति मे भी प्राप्त है।

(4) क्रम सख्या 8 का पद केवल आचार्य श्री बुद्धिसागर जी के "आनन्दघन पद सग्रह" की भूमिका पृष्ठ 158 पर ही है।

(5) क्रम सख्या 27 पद के साथ 'अ' और 'उ' प्रतियो मे क्रम संख्या 25 की साखा है।

(6) क्रम सख्या 38 और 42 के पद थोड़े से अन्तर से एक ही पद है।

(7) क्रम सख्या 44 का पद "ज्ञान सारजी" कृत टव्वे मे भी प्राप्त है।

(8) क्रम संख्या 61 का पद केवल आचार्य श्री बुद्धिसागर जी के "आनन्दघन पद सग्रह" की भूमिका पृष्ठ 173 पर ही है।

(9) क्रम संख्या 119 का पद "हरि पतितन के उद्धार" के साथ हैं।

(10) क्रम संख्या 122 का पद इस ग्रन्थावली के "देखो एक अपूरब खेला" पद का उत्तरार्द्ध है।

(11) क्रम सख्या 130 का पद "व्रजनाथ से सुनाथ विण" पद के साथ है।

(12) क्रम सख्या 131 का पद श्री साराभाई मणिलाल नवाब द्वारा सम्पादित "श्री आनन्दघन पद्य रत्नावली" से साभार लिया गया है।

संकेताक्षर :—क, का = मोतीलाल गिरधर कापडिया, वि = विश्वनाथ, ब, बु = आचार्य श्री बुद्धिसागर जी, द्य = द्यानतराय, मं = मंगल जी उद्धव जी, मा = माणेकलाल घेलाभाई।

—x—

आनन्दघन ग्रन्थावली

* कहाँ क्या *

※ आनन्दघन बहुत्तरी ※

चेतावनी　　　　　　१　　　　　　राग-वेलावल

क्या सोवै उठि जाग बाउरे ।
अंजलि जल ज्यूं आउ घटतु है, देत पहुरिया घरी घाउरे ।
॥ क्या० ॥ १ ॥

इन्द्र चन्द्र नागिंद मुनिंद चले, कौन राजा पतिसाह राउरे ।
भ्रमत भ्रमत भव जलधि पाई तै, भगवंत भगति सुभाव नाउरे ॥
॥ क्या० ॥ २ ॥

कहा विलंब करै अब बोरे, तरि भव-जल-निधि पार पाउरे ।
'आनन्दघन' चेतनमय मूरति, सुद्ध निरंजन देव ध्याउरे ॥
॥ क्या० ॥ ३ ॥

पाठान्तर—जाग = (अ) जागि । (उ) वाउरे = वावरे । अंजलि = (इ) अजरि । आउ, पहुरियां, घरी, घाउरे = (ड, उ) । आयु । पोहरिया । घरिय । घाव । कोन (इ) कुण । पाई तै = (उ) पायकै । तरि = (ड) तर । ध्याउरे = (अ, ई) गाउरे । इन्द्र चन्द्र नागिन्द मुनिन्द चले = (क वि) इन्द, चन्द, नागिन्द, मुनि चले । (ब) इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र मुनीन्द्र चले । भगवत भगति सुभाव नाउरे = भगवत भजन विन भाउ नाउरे । वोरे = (क, व, वि) वाउरे ।

शब्दार्थ—वाउरे = भोले, पागल। अंजलि = चुल्लू, हाथ से बना हुआ सुम्पुट। आउ = आयु, उम्र। पहुरिया = पहरायती, घड़ियाल बजाने वाला। घरी = घरियाल, घड़ावल, पीतल या कांसे की एक गोल वस्तु विशेष जिस पर डण्डे से चोट मार कर समय सूचित किया जाता है। घाउ = चोट। नागिन्द्र = नागेन्द्र, नाग नामक देवो का इन्द्र, धरणेन्द्र। मुनिन्द = मुनियों के इन्द्र, तीर्थंकर। कौन = किस गणना मे है। पतिसाह = वादशाह। राउ = राजा, राणा। भ्रमत भ्रमत = भ्रमण करते हुये, डोलते डोलते। भव-जलधि = संसार समुद्र। पाई तै = तूने पाकर। सुभाउ = स्वभाव। नाउ = नाव, नौका। विलव = देर। तरि = तैर कर। भव-जलनिधि = संसार समुद्र। पार पाउरे = दूसरा किनारा प्राप्त कर। निरंजन = मल रहित, शुद्ध, निर्दोष, परमात्मा।

उक्त पद के अर्थ से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि जीव का ह्रास विकास क्रम क्या है? जैन दर्शन के अनुसार अनादि काल से यह जीव संसार-समुद्र मे बस रहा है। सर्वप्रथम यह अव्यवहार राशि मे होता है, वहाँ कोई पुरुषार्थ नही करता। जिस प्रकार नदी के जल प्रवाह मे कुछ पत्थर काल प्रभाव से गोल हो जाते है, वैसे ही काललब्धि प्राप्त कर यह जीव व्यवहार राशि मे आता है और विकास करते करते मानव जीवन प्राप्त करता है। किन्तु यह जीव इस दुर्लभ मानव जीवन को अनती वार प्राप्त कर खो चुका है। अव पुनः मानव जन्म मिला, तो फिर यह ऐसे ही व्यर्थ न चला जाये, अतः श्री योगीराज आनन्दघन जी सचेत कर रहे है:—

अरे भोले मानव! मोह निन्द्रा में क्या पड़ा है? उठ, सचेत हो, प्रमाद त्याग कर जागृत हो, तेरी आयुष्य अंजलि के पानी के समान घटती जा रही है। पहरेदार घडियाल पर टंकार मार-मार कर तुझे सचेत कर रहा है। इस प्रकार घड़ियाल पर चोट करते

करते उस स्थान पर घाव-सा दिखाई पड़ने लग गया है परन्तु तेरे हृदय पर जरा भी इसका असर नहीं हुआ है। तू सचेत (सावधान) नही होता है ॥१॥

देवताओं का राजा इन्द्र, चन्द्रलोक का स्वामी चन्द्र, नागलोक का स्वामी धरणेन्द्र और मुनियों के स्वामी तीर्थङ्कर भगवान भी जब इस देह को त्याग कर चले गये तब राजा, बादशाह और चक्रवर्ती की बात ही क्या है ? फिर तेरी तो बिसात (सामर्थ्य) ही क्या है। संसार-समुद्र मे भटकते भटकते यह मानव शरीर मिलकर भगवान की भक्ति रूप स्वाभाविक नाव प्राप्त हुई है। भवसागर से पार पाने के लिये उस स्वभाव रूपी नाव का प्रयोग करके अपने लक्ष स्थान पर जा पहुँच ॥२॥

नोट—"भगवंत भजन बिन भाउ नाउरे" पाठान्तर के अनुसार यह अर्थ होगा—भगवान के भजन के अतिरिक्त (सिवाय) अन्य कौनसी भाव-नौका तुझे प्राप्त होगी जिससे तू इस ससार समुद्र का उल्लघन कर सकेगा।

अरे बावले ! अब देर क्यो करता है। विषय-वासना, राग द्वेष रूपी समुद्र से तैर कर पार होजा। आनन्दघन जी कहते है—घनीभूत आनन्द के घर, चैतन्य स्वरूप, कर्म मल विहीन, राग-द्वेष रहित शुद्ध देव का ध्यान कर, उसी का गुणगान कर, जिससे तू भी वैसा ही हो जाय ॥३॥

विशेष—जीव (आत्मा) का चैतन्य स्वरूप व प्रभु (भगवान) का चैतन्य स्वरूप एकसा (समान) ही है। जीव जब प्रभु-भक्ति करता है—उसके गुणगान करता है तो उसे निज गुणों से गाढ़ परिचय होता है इसलिये प्रभु-भक्ति से बढ़ कर संसार समुद्र से पार पाने का अन्य कोई साधन नही है। संसार के सारे धर्म इसमें एकमत

है। इसमें कोई मतभेद नहीं है। इसलिये हे आत्मन्! तू भगवान का स्मरण कर, इसमे जरा भी देर न कर। उमर का कुछ भी भरोसा नहीं है। कोई भी अमर पट्टा लिखाकर नहीं आया है। तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती ही नहीं रहे तो अन्य प्राणियों की क्या गिनती है, इसलिये तनिक भी विलम्ब किये बिना भगवान का भजन-स्मरण कर। अर्थात् चैतन्य स्वरूप, कर्म-मल रहित, शुद्ध आत्म स्वरूप का ध्यान कर, जिससे तू अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो सके।

ज्ञान घड़ी २ राग विलाउल इकतारी

रे घरिआरे बाउरे, मत घरीय बजावै।
नर सिर बांधै पाघरी, तू क्यों घरीय बतावै ॥ रे घरि० ॥ १ ॥
केवल काल कला कलै, पै तूं अकल न पावै।
अकल कला घट मे धरी, मुझ सो घरी भावै ॥ रे घरि० ॥ २ ॥
आतम अनुभव रस भरी, यामें और न मावै।
'आनन्दघन' अविचल कला, विरला कोई पावै ॥ रे घरि० ॥ ३ ॥

पाठान्तर—घरीआरे = घरीयारे (इ, उ)। बाउरे = बावरे (उ)। मत = मति (आ)। बतावै = बजावै (इ)। कलै = करे (अ, इ)। पावै = कहावै (इ)। मुझ = मुहि (इ)। पावै = गावै (अ)।

शब्दार्थ—घरीआरे = घड़ीबजानेवाला। पाघरी = पगड़ी, पाव घड़ी। काल कला कलै = समय जानने की युक्ति। पै = परन्तु। अकल = सब कलाओं से अलग (चेतन शक्ति)। भावै = पसन्द है। आतम = स्वरूपानुभव रूपी ज्ञानानन्द रस से भरी हुई। मावै = समाता है। अविचल = अचल, स्थिर।

प्रथम पद मे प्रमाद त्याग कर जागृत होने की चेतावनी के

पश्चात इस पद में घडी बजाने वाले को उद्देश कर श्री आनंदघनजी ज्ञानघडी के उपयोग के संबंध मे कहते है :—

अर्थ—हे नादान ! पगले ! घडी बजाने वाले ! तू* घडी मत बजा, अर्थात् तू क्यों घडी बजा बजा कर समय सूचित करता है ? तेरा यह प्रयास व्यर्थ है। देख, मनुष्य ने तो स्वयं ही अपने मस्तक पर पा घडी (पगडी) अर्थात पा (पाव) घडी बांध रखी है जिससे समय की उपयोगिता पर वह बराबर हर समय सचेत रह सके। मस्तक पर पा घडी (पगडी) बांधने का मतलब ही उसका यह है कि वह हर दम यह जानता है कि समय (काल) मेरे मस्तक पर है। फिर अब तू उसे बार बार समय क्या बता रहा है। (यहां श्री आनदघनजी ने पाघडी पर बहुत बडा व्यंग किया है) ॥१॥

हे घडियाल बजाने वाले ! तू तो केवल समय बताने की ही युक्ति जानता है। परन्तु तुझे जरा भी ऐसी बुद्धि नही है जिससे तू

---

*प्राचीन काल मे आजकल जैसी घडियाँ नही थी। उस समय, समय की जानकारी के लिये इस प्रकार के साधन थे :—

(१) धूप घडी—जिससे धूप की परछाई से समय जाना जाता था।

(२) जल घडी—पानी से भरे बडे बरतन मे एक छोटी कटोरी मे बारीक छेद कर पानी मे रख दिया जाता था, कटोरी के पानी मे डूब जाने पर निर्धारित समय जान लिया जाता था।

(३) रेत (बालू) घडी—काँच के दो जुडे हुये लट्टुओ मे बालू भर दी जाती थी। इन दोनो लट्टुओ के मुँह छिद्र सहित जुडे होते थे। बालू वाले भाग को ऊपर करके रख दिया जाता था। बालू धीरे धीरे नीचे के लट्टू मे एक घड़ी अर्थात् चौबीस मिनिट मे आ जाती थी। दुबारा फिर इसी प्रकार यह क्रिया की जाती थी, जिससे समय जाना जाता था।

उस-सब कलाओं से अलग, समय के सदुपयोग कराने वाली ज्ञानघडी को–जो हृदय में ही है–वता सके। मुझे तो वही घडी (ज्ञान घडी) अच्छी लगती है अर्थात प्रिय है।।२।।

यह घडी आत्मानुभव रस से (निज स्वरूप को वताने वाले गुणों से) पूर्ण-लवालव भरी हुई है। इसमे और कोई वस्तु (विजातीय द्रव्य-रागद्वेपादि) नही आ सकती है—नही समा सकती है। यही घडी सचेतक है। श्री आनदघनजी कहते है कि इस अचल, अवाधित, आनंददायिनी घडी की कला को विरला भाग्यवान मानव ही–लाखों में से एक–प्राप्त कर सकता है।

वैराग्य ३ राग-विलावल

जीउ जानै मेरी सफल घरी।

सुत वनिता धन यौवन मातो, गरभ तणी वेदन विसरी ।।जीउ०।।१।।

अति अचेत कछु चेतत नाही, पकरी टेक हारिल लकरी।

आइ अचानक काल तोपची, गहैगो ज्यूं नाहर वकरी ।।जीउ०।।२।।

सुपन राज साँच करि राचत माचत छांह गगन वदरी।

'आनंदघन' हीरो जन छारै, नर मोह्यो माया कँकरी ।।जीउ०।।३।।

पाठान्तर – जीउ = जीय (अ), जिय (इ) जीया (उ)। जानै = जाणे (उ)। यौवन = जोवन (अ इ, उ)। अति = अतहि (इ), अतिहि (उ)। अचेत = चेत (अ)। अति अचेत = अजहु अचेत (क)। आइ = आई (अ), आय (इ, उ) अचानक = अचान (इ)। तोपची = तोवचाही (उ)। ज्यूं = यूं (इ, उ)। राज = राजि (अ)। जन = जव (अ)। छारै = छारी (इ, उ), छारत (क), छांडी (व)।

नोट—क, व, व प्रतियो में प्रत्येक पंक्ति के अन्त में "री" है।

शब्दार्थ – जीउ = जीव । मातो = मस्त होकर । विसरी = भूल कर । अचेत = असावधान, वेमुध । टेक = हठ । हारिल = अपने चगुल मे लकड़ी का टुकडा लिये रहने वाला पक्षी और टेढे (तिरछा) चलते हुये लकड़ी कहीं अटक जाती है तो वह पक्षी उल्टा लटक जाता है, पीडा से चिल्लाता है पर लकडी नही छोडता है । तोपची = तोप चलाने वाला, तोप मे वत्ती लगाने वाला । गहैगा = पकडेगा । नाहर = सिह । माचत = मग्न होता हैं । छाँह = छाया । वदरी = वादल । छारै = छोडकर । ककरी = कंकड़ ।

नोट—दूमरे पद की प्रथम पक्ति किसी किसी प्रति में "अति अचेत……… लकरी" तीसरे पद की प्रथम पंक्ति के साथ है और तीसरे पद की प्रथम पक्ति "सुपन राज …………वदरी" दूसरे पद की प्रथम पंक्ति के साथ है ।

अर्थ—धन यौवन पाकर यह जीव (मानव) अपने आज के समय को अर्थात मनुष्य जन्म को सफल समझने लगता है। गर्भावस्था की सब वेदना (दुख) को भूलकर, स्त्री, पुत्र, धन और यौवन मे मग्न रहता है, और अपने आपको सुखी मानने लगता है ॥१॥

हे भोले मानव ! तू अत्यन्त असावधान है, जरा भी सचेत नहीं होता, तूने तो हारिल पक्षी की लकडो पकड़ने के हठ (जिद) के समान मोह माया मे रच पच रहने की टेक (हठ) पकडली है। जिस प्रकार सिह एकाएक (अचानक) आकर वकरी को पकड लेता है, उसी प्रकार कालरूपी तोपची तुझे आ पकडेगा, इसकी भी तुझे कुछ खवर है ? ॥२॥

हे मूढ ! तू स्वप्न मे मिले हुये राज्य को सत्य समझ कर उसी में मग्न हो रहा है। अरे भोले मानव ! तू तो आकाश मे छाई हुई वदली की छाया मे ही प्रसन्न हो रहा है। क्या तुझे मालुम नहीं कि

बदली हट जाने पर सूर्य की प्रचंड गरमी सहन करनी पड़ेगी ? अतः इस मानव जीवन को व्यर्थ मत जाने दे। प्रमाद में समय न खो। पूर्व पुण्य से धन यौवन कुलीन स्त्री आज्ञाकारी पुत्र आदि का योग मिला, उसमे लुब्ध न हो। अपने स्वरूप का स्मरण कर। (जिस तरह मुनीम के पास सेठ के करोडों रुपये होते हैं। समय समय पर इस दौलत को उसे अपनी भी कहनी होती है पर वह जानता है कि यह सब सेठ का है। उसी तरह तू भी इन सासारिक भोगों को पुण्य रूप सेठ का समझ, और अपने ज्ञान स्वरूप द्रष्टाभाव को न भूल।) आनदघनजी कहते हैं कि कितना आश्चर्य है कि परमानंद स्वरूप साश्वत सुख रूपी हीरे को छोडकर यह जीव (मानव) कंकर-पत्थर रूपी माया जाल मे मस्त हो रहा है।॥३॥

विशेष—नीतिकारों ने छै सुख बताये हैं:—

अर्थागमोनित्यमरोगिताच,
प्रियश्च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरीच विद्या
षड्जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥

अर्थात्—धन का आगम, सदा आरोग्य लाभ, प्रिय बन्धु बांधव, मृदुभाषिणी स्त्री, आज्ञाकारी पुत्र, द्रव्य प्राप्त कराने वाली विद्या ये छै सुख संसार में सर्वोपरि है। इन सांसारिक सुखों में मग्न होकर मानव पिछले सब दुखों को भूलाकर, यहाँ तक की कुछ दिन पूर्व ही गर्भावस्था के दुख उठाये है, उन्हे भी विस्मृत करके धन, यौवन, सम्पदा, स्त्री, पुत्र बडे परिवार को प्राप्त कर अपने जीवन को सफल समझता है। अपने को धन्य समझता है—अहो मेरे समान ससार मे

और कौन है ? इसी मस्ती मे भूल जाता है कि मुझे भी मरना है। यह सब कुछ छोड कर मुझे भी खाली हाथ जाना है। मै किस समय चला जाऊं, इसका जरा भी ध्यान नही रखता है। इस जीवन मे जो कुछ सुख सौभाग्य मिला है, वह स्थिर नही है, बादल की छांह के समान है फिर भी हारिल पक्षी के लकडी की तरह इनको छोडने को तत्पर नही है। इन अस्थिर वस्तुओं में ही लुब्ध है। ऐसे भ्रमित विलुब्ध मानव को श्री आनंदघनजी वैराग्य भाव की ओर उन्मुख करते हुये कहते है कि परमानदरूप हीरे को त्याग कर मानव मोह माया रूप ककर-पत्थर में मोहित हो रहा है अर्थात अनंत सुखदाता हीरे को छोड दुखदाई पत्थर ग्रहण करता है। इसलिये सावधान करते है—परभावरूप ककरो को त्याग कर स्वभाव रूप हीरे को ग्रहण करो।

समता भाव ४ राग-आसावरी

साधो भाई समता संग रमीजै, अवधु ममता रंग न कीजै ॥
सपति नाहि नाहि ममता में, रमतां माम समेटै।
खाट पाट तजि लाख खटाऊ, अंत खाक में लेटै ॥अवधु०॥१॥
धन धरती में गाडै बौरा, धूरि आप मुख लावै।
मूषक सांप होइगो आखर, तातै अलछि कहावै ॥अवधु०॥२॥
समता रतनागर की जाई, अनुभव चंद सु भाई।
काल कूट तजि भव में सेणी, आप अमृत ले जाई ॥अवधु०॥३॥
लोचन चरण सहस्र चतुरानन, इन ते बहुत डराई।
'आनंदघन' पुरुषोत्तम नायक, हितकरि कंठ लगाई ॥अवधु०॥४॥

पाठान्तर—संग = सगि (श्र), रंग (इ, उ)। रंग=संग (इ, उ)। कीजै = कीजइ (श्र)। रमतां माम समेटे = ममता मां मिसमेटे, (क, व), रमता राम समेटे (वि), ममता मांम सव मेटे (श्र)। (इ प्रति मे 'माम' शब्द नही है) खटाऊ = पटाऊ (उ)। श्रंत = श्रंति (श्रा), श्रते (उ)। खाक = खाख (श्र, इ, उ)। धरती = धरनी (उ)। धूरि = धूलि (उ)। मुखि = मुखक (अ)। सांप = साप (श्रा, इ, उ)। होइगो = होयगो (इ), होइजो (उ)। तातै = ताथे (इ), तामे (उ)। कहावै = कहावइ (श्रा)। रतनागर=रतनाकर (क, वि), रत्नागर (व)। कालकूट = काल कूटि (श्र)। भव = भाव (इ)। ले = लेई (इ, उ)। चरण = वरण (श्र)। सहस = सहिस (इ)। तह = ते (श्र, इ, उ)। हितकरि = हितकर (इ)।

शब्दार्थ—समता= राग-द्वेष रहित भाव। रमीजै= रमण करो, आनन्द करना, घूमना-फिरना साथ रहना। ममता = ममत्व, प्रिय वस्तु पर राग। माम = ममत्व। समेटे = लपेट लेता है, एकत्रित करता है। खाट = पलंग। पाट = चौकी, तख्त श्रादि वैठने की वस्तु। लाख खटाऊ = लाखो रुपया पैदा करने वाला। खाक = मिट्टी। वोरा = बावला, पागल। श्रलछि = अलक्ष्मी। रतनागर = रत्नों का खजाना, समुद्र। काल-कूट = हलाहल विष। भव में सेणी = शुद्ध भाव रूप श्रेणी (पंक्ति), शुद्ध परिणाम की धारा। लोचन चरण सहस = लोचन (नेत्र) सहस (हजार) इन्द्र; चरण सहस = सूर्य। चतुरानन = चार मुख वाला ब्रह्मा।

अर्थ—हे साधु पुरुषों! समता के साथ रम जावो—राग-द्वेष को छोडकर समभावी वन जावो। हे अवधु आत्मा! ममता के रंग न पडो। स्त्री पुत्रादि, धन आदि-वैभव और यौवन मे लुब्ध न हो। ममता से किसी भी प्रकार की उन्नति संभव नही है। इसमे रमने से (साथ रहने से) तो अपनी आत्म संपत्ति सिमट कर वहुत थोडी हो जाती है। समता भाव से लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की

उन्नति होती है और ममत्व भाव से यह ज्ञाता-दृष्टा आत्मा अपने अह मे सकुचित हो जाता है।❀ लाखों के कमाने वाले अपनी रत्न जटित सोने की शैय्या और बैठने के सिंहासन को यहीं छोडकर अंत मे खाक (मिट्टी) मे जा लेटे अर्थात् जिस मिट्टी से पैदा हुये थे उसी मे समा गये ॥१॥

भोले लोग धन को मिट्टी मे गाडते है—गड्ढा खोदकर उसमे धन दौलत रखकर ऊपर से मिट्टी डालते है। यह धन पर मिट्टी डालना नही है, अपने ही मुख पर मिट्टी उडेलना है क्योंकि जिनकी धन-दौलत पर अत्यन्त आसक्ति होती है, वे ही धन-दौलत को जमीन मे गाड़ते है। इस दृढ आसक्ति से मर कर वही सर्प या मूषक (चूहे) होते है। शकुन शास्त्रवेत्ता सांप व मूषक को अलक्ष्मी कारक कहते हैं, अत: जमीन मे धन गाडना अपने मुख पर धूल डालना है। वास्तव में यह धन-दौलत लक्ष्मी नही है, अलक्ष्मी है। यदि यह लक्ष्मी होते तो सर्प-मूषक जन्म क्यों प्राप्त होता। असली लक्ष्मी तो आत्मिक गुण है, जिससे वास्तविक सुख प्राप्त होता है ॥२॥

वैदिक मतामुसार समुद्र से चौदह रत्न निकले थे इसलिये उसे रत्नाकर कहा जाता है। मोती, मूंगा आदि अनेक रत्न अब भी उसमे से निकलते है। इन रत्नो से जीव का आत्मिक उत्थान नही हो सकता है, इसलिये ये द्रव्य रत्न है। भाव रत्न तो क्षमा, सन्तोष, ऋजुतादि—जो मनुष्य के अन्तर से प्रकट होते है। इसलिये मनुष्य का हृदय ही भाव रत्नाकर है। श्री आनन्दघनजी कहते है—

❀ एक प्रति मे 'रमता राम सनेटे' पाठ है, जिसका अर्थ—इस रमते राम आत्मा की शक्तियां सीमित हो जाती है।

समता हृदय रूपी रत्नाकर (समुद्र) की पुत्री है। अनुभव रूपी चन्द्रमा इसका श्रेष्ठ भाई है। यह समता आर्त रौद्र ध्यान रूपी हलाहल विष को त्याग कर शुभ परिणाम—धर्म-शुक्ल रूपी अमृत को स्वय ले आती है ॥३॥

समता रूपी लक्ष्मी हजार चरण, हजार नेत्र व चार मुख वाले व्यक्ति को देख कर भयभीत होती है। अर्थात् मोह रूपी महा-राक्षस—जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी चार मुख ह; जिसके हजार नेत्र और पाँव है जिनसे वह समता का नाश करता रहता है—को देख कर डर जाती है। श्री आनन्दघन जी कहते है, आनन्द स्वरूप राग-द्वेष रहित पुरुषों मे श्रेष्ठ वीतरागदेव ने प्रेमपूर्वक समता को गले से लगा लिया, अर्थात् समता से जो व्यक्ति स्नेह रखते है वे ही परमपद के अधिकारी होते है ॥४॥

विशेष—उक्त पद के चोथे पद में एक वैदिक रूपक बहुत ही परिष्कृत रूप मे है। वह इस प्रकार है—अमृत प्राप्त करने के लिये देव और दानवो ने मिलकर समुद्र का मथन किया। सुमेरू पर्वत को 'रई' (भेरना) बनाया गया, शेष नाग से रस्सी का कार्य साधा गया। समुद्र मथ गया। समुद्र से चोदह रत्न प्राप्त हुये। वे चौदह अनुपम वस्तुये इस प्रकार है—(१) लक्ष्मी, (२) कौतुभ रत्न, (३) पारिजातक पुष्प, (४) सुरा, (५) धन्वतरि वैद्य, (६) चन्द्रमा, (७) कामधेनु, (८) ऐरावत हाथी, (९) रंभा देवांगना, (१०) सात मुख वाला उच्चैश्रवा अश्व, (११) काल-कूट [जहर], (१२) धनुष, (१३) पांचजन्य शंख और (१४) अमृत।

योगीराज ने श्रद्धा से मानी जाने वाली इस कथा का अत्यन्त बुद्धिगम्य सुन्दर रूपक दिया है। कवि की कल्पना अद्भुत, प्रकृत, बुद्धिगम्य व अत्यन्त उपदेशप्रद है। कविराज कहते है कि हृदय मे अनेक भाव उत्पन्न होते है और विलय होते है, इसलिये यह समुद्र तुल्य है।

बुद्धि द्वारा हृदय का मंथन होता है। सद् असद् वृत्तिया इसे इधर उधर खेंचती है। सद् वृतिया देव रूप है; असद् वृत्तियां असुर रूप है। इस हृदय-मंथन से ही समता रूपी लक्ष्मी प्रकट होती है। हृदय मथन से ही अनुभव रूपी चंद्रमा प्रकट होता है, जिसके प्रकाश मे यह जीव जड भाव व चेतन भाव को समझ कर देहाध्यास त्यागता है। समता, आर्त्त रौद्र परिणाम रूप कालकूट विष को त्याग कर ज्ञानरूप अमृतरस को ग्रहण करती है।

स्व० श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने "कल्पवृक्ष" नामक पुस्तक मे इस रूपक का भाव इस प्रकार दिया है :—समुद्र मंथन का यह उपाख्यान आध्यात्मिक पक्ष मे मनुष्य की दैवी और आसुरी वृत्तियों के सघर्ष का विवेचन करता है। मनुष्य का मन उसकी सर्व श्रेष्ठ निधि है, मननात्मक अंश ही मनुष्य मे दैवी अंश है। शरीर का भाग पार्थिव और मन का भाग स्वर्गीय है। अथवा यों कहे कि शरीर मृत्यु और मन अमृत है। शरीर का सम्बन्ध नश्वर है, मन क कल्पान्त स्थायी। किसी भी क्षेत्र में देखें, मन की शक्ति शरीर क अपेक्षा वहुत विशिष्ट है। (कल्पवृक्ष पृ० १०,११)

सतसंग विरह ५ राग–रामगिरि

क्यां रे मोनइ मिलस्यै संत सनेही।
संत सनेही सुरजन पाखै, राखै न धीरज देही ।। क्यां०।।१।।
जण जण आगलि अंतरगतिनी, वातड़ी करियै केही।
"आनंदघन" प्रभु वैद वियोगै, किम जीवै मधुमेही ।। क्यां०।।२।।

पाठान्तर—मोनइं = मौनें (अ, ह, उ)। आगलि = आगल (इ, उ)। करियै = कीजै (अ), कहिये (उ),

शब्दार्थ—क्यारि = कब, किस समय। सुरजन = सगा सम्बन्धी, स्वजन। पाखै = पक्ष मे, लगाव मे, विना, विरह में। देही = देह (शरीर) धारण करने वाला, आत्मा। जण जण आगलि = प्रत्येक के आगे। अन्तरगतिनी = मन की। वातडी = वात। मधु मेही = मधु प्रमेह वाला रोगी जिसके मूत्र मे शक्कर निकलती है।

अर्थ—संत पुरुषों से स्नेह करने वाला आत्मस्वरूप मुझे कब प्राप्त होगा। अर्थात् मुझे आत्म बोध कब होगा। संतजन से स्नेह रखने वाले स्वजन के लिये शरीर का धारण करने वाला देही (आत्मा) को अब जरा भी धैर्य नही है। अब विरह को सहन करने की शक्ति नही है। मिलन की उत्कट इच्छा बढती ही जाती है।।१।।

हरेक के सामने अपने हृदय की वात कैसे कहू ? कैसे वताऊँ ? आनंदघन जी कहते है कि किस प्रकार मधु प्रमेह वाला व्यक्ति विना वैद्य के जीवन यापन नहीं कर सकता है, अर्थात् नही जी सकता है, उसी प्रकार आनंद के समूह (आत्म स्वरूप) के वियोग मे अब मै कैसे जी सकता हूं, अर्थात् यह जीवन व्यर्थ है। मुझे तो आत्मस्वरूप प्राप्त करने की उत्कट इच्छा है।।२।।

इस पद का अर्थ इस प्रकार से भी हो सकता है—

सुमति अनुभव से कहती है कि संत पुरुषो का स्नेही मेरा आत्म स्वरुप मुझे कब प्राप्त होगा ? उसके बिना सब सूना सूना है, मुझे कुछ अच्छा नही लगता है। उसके बिना मै बेचैन हो रही हूं। अत्यन्त ही दुख पा रही हू। संतों से स्नेह करने वाले मेरे स्वजन (सबंधी) के लिये शरीर धारण करने वाले मेरे प्राण धीरज नही रख पाते है अब वियोग सहन नहीं किया जाता है ॥१॥

हे अनुभव ! हर व्यक्ति के सामाने अपने मन के दुख को कैसे प्रकट किया। जिस प्रकार मधु प्रमेह से दुखित व्यक्ति वैद्य के बिना नहीं जी सकता है, उसी प्रकार आनंद के समूह आत्मस्वरूप स्वामी के बिना मै कैसे जीवन चला सकती हूं। इस लिये तुझे बता कि मेरे आत्म रूप स्वामी मुझे कैसे प्राप्त होंगे ॥२॥

कहते है कि श्री आनंदघनजी से उक्त पद सुनकर जन समुदाय भक्ति विभोर होकर उनका परिचय जानने के लिये, उनकी परम्परा के विषय मे प्रश्न करता है। उत्तर मे योगीराज आगे का पद कहते मालूम होते है।

परिचय ६ राग—आसाउरी (रामगिरि)

जगत गुरु मेरा, मैं जगत का चेला,
मिट गया वाद विवाद का घेरा ॥ ज०॥१॥
गुरु के रिधि सिधि सम्पति सारी,
चेरे के घर मे खपर अंधारी ॥ ज०॥२॥

गुरु कै घर सब जरित जरावा,
चेरे की मढिया मै छप्पर छावा ।। ज०।।३।।

गुरु मोहि मारै सबद की लाठी,
चेरे की मति अपराधनि काठी ।। ज०।।४।।

गुरु के घर का मरम न पावा,
अकथ कहाणी 'आनंदघन' बावा ।। ज०।।५।।

पाठान्तर—चेला = चेरा (अ, इ) । मिट = मिटि (आ) । गया = गइ (उ) । घेरा = गेरा (इ), फेरा (उ) । रिधि सिधि = रिध सिध (इ), ऋद्धि सिद्धि (उ) । खपर = खपर (इ) । छावा = छाया (इ), "चेरे ...... छावा" = चेरे के घर मे काया मे छपर छाया (उ) । खपर = निपट (बु, वि), न = मै (अ), मौ (उ) । बावा = पाया (बु), भाया (वि) ।

शब्दार्थ—वाद विवाद=तर्क, शास्त्रार्थ, कहा-सुनी । घेरा=सीमा । रिधि= ऋद्धि, समृद्धि, सफलता । खपर = मिट्टी का भिक्षा पात्र । मढिया = रहने का स्थान, झोपड़ी । जरित जरावा = जडाव जड़े हुए । सबद = शब्द, वचन, शास्त्र वचन । काठी = कठिन, मजबूत । अकथ = जो कही नही जा सके ।

अर्थ—यह संसार सद्गुणो की शाला भूत है । इस ससार से मुझे कुछ न कुछ शिक्षा सदा मिलती रहती है । इसलिये सम्पूर्ण संसार ही को मै अपना गुरु मानता हूं और अपने को उसका शिष्य । इस प्रकार करने से तर्क वितर्क या वाद विवाद की सारी परिधि ही समाप्त हो जाती है ।।१।।

जगत रूपी गुरु के घर मे सब प्रकार की ऋद्धि सिद्धि और समृद्धि विद्यमान हैं । वह सद् गुणों व ज्ञान का भंडार है, उसमे कोई कमी नहीं है । लेकिन मुर्ख शिष्य की कुटिया मे अंधकार (अज्ञान) छाया हुआ है तथा मेरे पास मिट्टी का भिक्षापात्र है ।।२।।

गुरु के घर मे (ससार मे) सब प्रकार के रत्न जटित आभूषण है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप आभूपण किन्तु मेरी (शिष्य की) कुटिया मे तो मात्र छप्पर ही छाया हुआ है। (मेरे तो कर्मों का आवरण ही आवरण है) ॥३॥

(इस पद मे कवि ने सामूहिक शक्ति—संघ शक्ति का वर्णन किया है एवं व्यक्तिगत शक्ति का वर्णन कर निरभिमानता का पाठ पढ़ाया है)

गुरू मुझे शब्द रूप (उपदेश) लाठी से ताडना करते है किन्तु मेरी बुद्धि तो घोर अपराधिनी है व कुण्ठित है। मुझ पर तो उन सदुपदेशों का प्रभाव पडता ही नही है ॥४॥

आनन्दघन जी कहते है कि गुरू के घर का भेद पाना कठिन है अर्थात् उनके ज्ञान, उपदेश आदि का मर्म प्राप्त करना कठिन है उसकी तो कथा ही अकथनीय है ॥५॥

(इस पद को सुनकर जनता की उत्कण्ठा और बढती है और उनका विशेष परिचय (सम्प्रदाय आदि) जानने के लिये प्रश्न करती है। उसके उत्तर मे आगे का पद कहते विदित होते है)

७ राग आसाउरी

(साधो भाई) अपना रूप जब देखा।
करता कौन करनी फुनि कैसी, कौन मांगेगो लेखा ॥अपना ॥१॥
साधु संगति और गुरु की, क्रिपा ते मिटि गइ कुल की रेखा।
'आनंदघन' प्रभु परचो पायो, उतर गयो दिल भेखा ॥अपना०॥२॥

पाठान्तर—अपना = साधो भाई अपना (उ)। देखा = देख्या (अ, आ)। करणी फुनि कैसी = कौन फुनि करणी (आ)। क्रिपा = कृपा (अ, उ)। परचो = परचौ (अ, इ, उ)। उतर = उत्तर (इ, उ)।

शब्दार्थ—फुनि = पुन:, फिर। लेखा = हिसाब। रेखा = लकीर, चिन्ह, मर्यादा। परचो = परिचय। उतर गयो = दूर हट गया। भेखा = वेष, रूप।

अर्थ—(हे सज्जनो!) जब मैंने अपने आप का स्वरूप देखा, अपने को पहिचाना अर्थात् अपने चैतन्य स्वरूप को जाना तो प्रश्न हुआ, कर्त्ता कौन है? करणी (कर्म) क्या है? और इसका हिसाब (अच्छे बुरे कार्य का हिसाब) मांगने वाला कौन है? मैं स्वयं ही कर्त्ता हूं, मेरे कार्य ही करणी है, और इनका लेखा मांगने वाला भी मैं ही हू। जैसी करणी (कर्म) की है, उसका भोक्ता मै ही हूं। कोई दूसरा मेरी करणी का हिसाब मांगने वाला नहीं है बल्कि मैं स्वयं ही हूं। उस मेरी करणी के अनुसार ही मुझे फल मिलता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—परमार्थ से यह जीव (आत्मा) स्वभाव परिणति की अपेक्षा निज स्वरूप का कर्त्ता है, व्यवहार मे द्रव्य कर्म का कर्त्ता है और उपचार से घर नगर आदि का कर्त्ता है।

मन तो कभी निश्चल रहता नहीं है, कुछ न कुछ (संकल्प, विकल्प) करता ही रहता है किन्तु इन कार्यों मे जब तक राग-द्वेष है तब तक बन्ध है। राग-द्वेष रहित करणी इस जीव को बन्धन में नहीं फँसा सकती। जिस प्रकार विष खाने से विष का फल और अमृत पीने से अमृत का फल मिलता है, इसमें हिसाब रखने वाले की आवश्यकता नही होती, उसी प्रकार शुभाशुभ करणी के हिसाब की आवश्यकता नही है ॥१॥

शुद्ध साधुओं की संगति करने से, उनके वचनामृत पान करनें से, अर्थात् उनके सदुपदेशों के अनुसार आचरण करने से और गुरू की कृपा से दीर्घ काल के जमे हुये संस्कार नष्ट हो गये। अर्थात् जाति, कुल (वंश), वेष आदि का अभिमान नष्ट हो गया। आनन्द के समूह (आत्मा) से मेरा परिचय हो गया—जान-पहिचान हो गई,—आत्मा को जान लिया, अनुभव कर लिया तो मेरे हृदय से बाह्य रूप का मोह दूर हो गया।

"जाति वेषनो भेद नहिं, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ती लहे, एमां भेद न कोय॥"

(श्रीमद् राजचन्द्र)

८ राग—धन्यासी (सारंग)

अब मेरे पति गति देव निरंजन।
भटकूं कहां कहां सिर पटकूं, कहा करूं जन रंजन ॥अब०॥१॥
खंजन दृग दृग नांहि लगावुं, चाहुं न चित वित अंजन।
संजन घट अंतर परमातम, सकल दुरित भय भंजन ॥अब०॥२॥
एहि काम-गवि, एहि काम घट, एहि सुधारस मंजन।
'आनदघन' घटवन केहरि, काम मतंगज गंजन ॥अब०॥३॥

पाठान्तर—अब = अवर (आ)। भटकूं = भटकों (अ)। पटकूं = पटकों (अ)। करूं = करौं (अ)। दृग दृग = दृगन दृग (इ, उ), दृग ढिग (अ)। नांहि = न (इ), नहि (उ)। लगावुं = लगावौं (अ)। चाहुं = चाहौं (अ), थाउ (उ)। चितवित = चितवन (व), चितवन (वि)। संजन

घट अन्तर = संजन अन्तर (आ) । एहि = एह (इ) । घट = घट घट (अ), प्रभु घट (इ), घटे (उ) ।

शब्दार्थ—गति = अवलंब, सहारा । निरंजन = दोष रहित । रंजन = प्रसन्न । दृग = नेत्र, दृष्टि । चितवित = चित्त (मन) का धन । संजन = सज्जित । घट अन्तर = अंत:करण, हृदय । दुरित = पाप । काम गवि = कामधेनु गाय । काम घट = काम कुंभ । मजन = स्नान । केहरि = सिंह । मतगज = मस्त हाथी ।

अपने शुद्ध स्वरूप को पहिचानने के पश्चात् कवि के उद्गार—

अर्थ—ज्ञान सारजी महाराज ने इस पद पर टब्बा लिखा है, उन्ही के आशय अनुसार इसका अर्थ किया जाता है कि कविराज लाभानन्द जी उपनाम आनन्दघन जी कहते हैं—निश्चय नय से कर्म मल रहित मेरा निरजन आत्मा ही मेरा आराध्यदेव है, यह आत्मा ही मेरा स्वामी है। इसका ही मुझे अवलम्बन है। इसलिये तीर्थादिक में किस लिये भटकूं, कहाँ कहाँ मस्तक झुकाऊँ, किस किस व्यक्ति को प्रसन्न करता फिरूँ ॥१॥

वन्ध मोख नहि हमरै कबही, नहिं उत्पात विनासा ।
सुद्ध सरूपी हम सब कालै, ज्ञान सार पदवासा ॥
(ज्ञानसार जी)

परमात्म स्वरूप को प्रत्यक्ष करने के लिये (देखने के लिये) खंजन पक्षी के नेत्र समान लम्बे सुन्दर नेत्र मुझे नही चाहिये और न मुझे उन नेत्रों को सुन्दर बनाने के लिये जो उनका धन है, ऐसे अंजन की आवश्यकता है क्योंकि समस्त पापों व भयों को दूर

करने वाला परमात्मा तो मेरे घट मे (हृदय मे) ही सुशोभित है, बैठा है ॥२॥

यह परमात्मा ही मेरे लिये मनवंच्छित फल देने वाली कामधेनु है, यही मेरे लिये कामकुंभ है, यही अमृतरस का स्नान है। (मुझे अन्य वस्तुओं की इच्छा क्यों हो ? अर्थात् नहीं है।) आनन्द–धाम आत्मा मेरे शरीर रूपी वन के केसरी सिह है जो काम रूपी मदोन्मत्त हाथी का गजन (नाश) (चूर चूर) करने वाला है।

६ राग–कल्याण

मोकु कोऊ कैसइहु तको।
मेरे काम इक प्रान जीवन सुं, और भावै सो वको॥ ॥मोकुं॥१॥
हूँ आयो प्रभु शरण तुम्हारी, लागत नांहि धकौ।
भुजनि उठाइ कहुं औरनिसों, करहो जुकरहि सकौ ॥मोकुं॥२॥
अपराधी चित्तठानि जगत जन, कोरिक भांति चकौ।
'आनन्दघन' प्रभु निहचै मानो, यह जन रावरो थकौ ॥मोकुं॥३॥

पाठान्तर – कैसइ = कैसे (अ इ), कैहसे (उ)। हु तको = हि ककी (अ)। सो = सु (आ)। तुम्हारी = तुहारी (अ), तुम्हारे (इ), तिहारै (उ)।

नोट—योगिराज जब सर्वसघ परित्याग कर अकेले रहने लगे (विशेष साधना के लिये) तो इनके विषय मे लोग शका करने लगे और तरह तरह की बाते फैलाने लगे। यह समाचार इनके कानो तक भी पहुँचे। वे विचार करते है कि ससार की भी क्या विचित्र गति है ! उसे दूसरो की बाते बनाना (निन्दा करना) ही आता है। यह कुछ भी कहे, कुछ भी समझे, मुझे तो अपने आराध्य से काम है। मुझे आतरिक शांति चाहिये, वह ससार की ओर लक्ष्य देने से नही मिलेगी, प्रभु को सर्वस्व अर्पण से ही मिलेगी। इस ही भाव को इस पद में व्यक्त किया है।

भुजनि = भुजन (इ), भुवजन (उ)। ओरनि = ओरन (अ), औरनि (द. उ)। सो = सुं (आ)। करहोजु = करहुजु (अ), करहुज (आ)

शब्दार्थ—तको = देखो, समझो। भावै = जो दिल में आवे, इच्छानुसार। वको = कहो। धको = धक्का। चको = देखो, आशंका करो। रावरो= आपका। थको = हो चुका।

अर्थ—मुझे कोई कैसी ही दृष्टि से देखो, मुझे तो मेरे जीवन प्राण प्रभु (आराध्य) से काम है, ससार के लोग भले ही मेरे लिये कुछ ही कहा करे ॥१॥

हे प्रभो ! हे स्वामी ! मै आपकी शरण में आ गया हू। ससार की निन्दा-स्तुति मुझे धक्का नही दे सकती है। मुझे मेरे ध्येय से हटा: नही सकती है। मै तो हाथ उठाकर (पुकार पुकार कर) और लोगों से कहता हूं कि अपनी शक्ति भर जो कर सकते हो, करो ॥२॥

संसार के लोग मुझे अपराधी समझकर भले ही नाना प्रकार की दृष्टि से देखें, मन में करोड़ों तरह की आशंकाये करें, मुझे इसकी जरा भी चिन्ता नहीं है। हे आनन्दधाम प्रभो ! आप यह निश्चय मानो कि यह सेवक तो आपही का हो चुका है ॥३॥

इस पद का अर्थ सर्वस्व समर्पण करने वाले भक्त की उक्ति के ऊपर किया गया है। किन्तु यदि यह उक्ति सुमति अथवा चेतना की मानें तो भी अर्थ संगत ही रहता है।

आत्म निवेदन **१०** **राग—आशावरी**

अवधू क्या मांगुं गुन हीना, वै तो गुन गगन-प्रवीना ॥
गाइ न जानुं वजाइ न जानूं, नै जाणु सुर भेवारे।
रींझ न जानुं रींझाइ न जाणु, नै जाणु पद सेवा ॥ अ० ॥१॥

वेद न जाणु' कतेब न जाणु', जाणु' न लक्षण छन्दा ।
तरकवाद विवाद न जाणु', न जाणु' कवि फंदा ॥ अ० ॥२॥
जाप न जाणु' जुआब न जाणु', न जाणु' कथ वाता रे ।
भाव न जाणु' भगति न जाणु', जाणु' न सीरा ताता ॥ अ० ॥३॥
ग्यान न जाणु' विग्यान न जाणु', न जाणु' भजनामा ।
'आनंदघन' प्रभु के घरि द्वारै, रटन करू' गुन धामा ॥ अ० ॥४॥

पाठान्तर— 'तो' 'इ' प्रति मे नही है । गुन गगन = गुन गनन (आ, का), गुण गगन (उ), गुन गनिन (ब), सुर = स्वर (इ. उ) । भेवा = देवा (उ) रीझ = रीझ (आ), रीझाइ = रीभाइ (उ) रिझाइ (अ. इ.) । लक्षण = लछन (इ), लच्छन (उ) । जाप = आप (आ), जुआव = जुआप (आ), जवाव (इ), जवाप (उ) । कथवातारे = कथावातारे (आ), कथवात (इ); कथावतारे (उ) । सीरा = सीला (उ) । ग्यान = ज्ञान (अ) । विग्यान = विज्ञान (अ) । न = नइ (आ), नै (अ) । भज = भजि (अ) । परि = घर (इ. उ) ।

शब्दार्थ—गगन = आकाश । प्रवीन = चतुर । भेवा = भेद । रीझ = प्रसन्नता । रीझाइ = प्रसन्न करना । पद सेवा = चरणसेवा, चारित्रसेवा, स्वरूप सेवा । तरकवाद = न्यायशास्त्र । विवाद = उत्तर प्रत्युत्तर करना, झगडना । कवि फन्दा = कवित्वकला, कविता बनाना । सीरा ताता = ठण्डा गरम । विग्यान = अनुभव जन्य ज्ञान । भजिनामा = भजन की रीति । गुणधामा = गुणो के घर ।

अर्थ—इस पद मे कवि आत्म निवेदन मे अपनी लघुता दिखाते हुये, अपने अहभाव का निराकरण करते हुये कहते है—हे अवधू ! मै गुणहीन क्या मांगू' ? वे प्रभु तो आकाश के समान अनत गुण वाले चतुर है । मांगने के लिये, मै न तो गायन जानता, न (प्रसन्न करने के लिये) अनेक वाद्यन्त्र बजाना जानता, न मै षडज, ऋषभ,

गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निपाद आदि स्वरों के भेदों को जानता, न अपनी प्रसन्नता प्रकट करना जानता, न प्रभु को हाव भाव व वचन चातुरी से प्रसन्न करना जानता और न प्रभु के चरणों की सेवा विधि ही जानता ॥१॥

चारों वेदों को--(ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) मै नही जानता, शास्त्र ज्ञान मुझे नहीं है। न पिंगल शास्त्रानुसार छंदों के लक्षण जानता, न्याय शास्त्र व वादविवाद (शास्त्रार्थ) करना भी मै नही जानता, न कवियों जैसी वाक चातुरी मुझ मे है ॥२॥

न मै जाप करने के भेदों को जानता, (शब्द व मानस दो प्रकार के जाप है)। इनमे नंदावर्त, शंखावर्त, ऊँवृत्त, ह्री वृत्त आदि अनेक भेद है। योग की विधियें जानने वाले शरीर के विविध भागों मे कमलो की कल्पना कर, उन पर अनेक अक्षर व पद स्थापित कर जाप किया करते है। किसको किस भांति कहना चाहिये— जवाब देना चाहिये, यह विद्या भी मुझ मे नही है। न उत्तमोत्तम मनोरंजक कथा-वार्ता कहना ही मुझे आता है। भावों को उल्लसित करने की शक्ति भी मुझे नही है। न मै भक्तिभाव करना ही जानता हूं। क्या वात किसको शांत कर देगी, कौनसा व्यवहार उत्तेजित कर देगा—यह भी मै नही जानता ॥३॥

न मुझे सामान्यज्ञान है, न विशेष ज्ञान है और न भजन कीर्तन की रीति ही का ज्ञान है। आनन्दघन जी कहते है—मै तो केवल मात्र आनन्द स्वरूप गुणो वे निधान प्रभु के घर के दरवाजे

पर (राग-द्वेष रहित, इच्छा रहित होना ही प्रभु का घर द्वार है) उनके गुणों का स्मरण करता हू ॥४॥

सारांश यह है कि मांगने वाले मे भी योग्यता होनी चाहिये। कवि कहते है–उक्त प्रत्येक बात में मुझसे अधिक सैकडों ही व्यक्ति है फिर मै मांगने का कैसे साहस करू ं। वह प्रभु तो घट घट को जानने वाला है। योग्यता होने पर प्राप्ति में देर नही लगती। इसलिए प्रभु से याचना क्या करू ं। उसका स्मरण करते हुये अपना कर्तव्य पालन करते रहना ही श्रेष्ठ साधन है। इस ही मे सिद्धि है। प्रभु से योग्यता के बल पर कुछ भी मांग न करने से फलाशा बढ़ती है और सफलता फल की आशा त्यागने मे है। योगीराज ने निस्वार्थ भाव से प्रभु का स्मरण करते हुये अपने आचरण द्वारा कार्य करने का मार्गदर्शन किया है।

आत्म निरूपण ११ राग–आशावरी

अवधू नाम हमारा राखै, सोइ परम महारस चाखै ॥
ना हम पुरुष ना हम नारी, वरनन भांति हमारी।
जाति न पांति न साधु न साधक, ना हम लघु नहि भारी
॥ अव० ॥१॥

ना हम ताते ना हम सीरे, ना हम दीरघ ना छोटा।
न हम भाई, न हम भगनी, ना हम बाप न धोटा ॥ अव० ॥२॥
ना हम मनसा ना हम सबदा, ना हम तन की धरणी।
न हम भेष भेषधर नाहीं, ना हम करता करणी ॥ अव० ॥३॥
न हम दरसन ना हम फरसन, रस न गंध कछु नाहीं।
'आनन्दघन' चेतन मय मूरति, सेवक जन बलि जाहीं ॥ अव० ॥४॥

पाठान्तर—सोइ = सोई (अ), सो सो (इ)। महा शब्द 'इ' प्रति में नही है। ना = नहि (इ)। भांति = भांत (इ)। जाति न पाति न साधु न साधक = जाति न पाँति न साद न सादुक, ना हम लघु नहि भारी (आ) जात न पाँत न साटक नाही, नहिं हूँ लघु नहि भारी (इ), जाति न पाँति न्यादु नहि सादुक, ना हम लघु ना हम भारी (उ) जाति न पाँति न साधन साधक, नही हम लघु नही भारी (क, व, वि), साधु न साधक = सिद्ध नही साधक (देहरागाजीखाँ की प्रति)। ना = नहि (इ)। ना हम दीरघ न छोटा = न हम दीरघ—छोटा (अ), नही दीरघ नही छोटा (इ), ना हम दीरघ ना हम छोटा (उ)। ना = नहि। भाई = भगनी (इ)। भगनी = भाई (इ)। ना = नही (इ)। वाप = वाद (उ)। धोटा = वेटा (उ)। ना = नही (इ), तन की = तरण (इ)। धरणी = धरनी (इ)। ना = नही (इ)। न = ना (उ), नही (इ)। ना = नही (इ)। फरसन = परसण (अ), परसन (इ)। वलि जाही = वल जाइ (इ)।

शब्दार्थ—अवधू = आत्मा, चेतन। परम महारस = ज्ञानानन्द। वरन = रंग, वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र)। भांति = भेद। पांति = पंक्ति। साधु न साधक = साधु न श्रावक (साधना करने वाला गृहस्थ)। धोटा = पुत्र, वेटा। मनसा = मन, कामना, इच्छा। तन की = शरीर की। धरणी = धारण करने वाली भूमि। भेषधर = वेश को धारण करने वाला। दरसन = दृश्य वस्तु।

अर्थ—अवधू (आत्मा) के नाम से जो हमे पहिचानेगा, यह नाम जो हमारा रखेगा, वही अमृत रस का स्वाद प्राप्त करेगा, मुझको शरीर समझने वाले तो अनेक विपत्तियाँ सहन करेगे, मुझे आत्मा समझने वाले इन सबसे (विपत्तियों से) मुक्त रहेगे क्योंकि आत्मा आनन्द स्वरूप है, अविनाशी व अनन्त शक्ति सम्पन्न है।

मै (आत्मा) न पुरुष हूं, न स्त्री। इसका लाल, पीला आदि कोई रंग नही है। रंग तो इन्द्रिय गोचर पदार्थो मे होता है, यह

(आत्मा) इन्द्रिय अगोचर है। अथवा आत्मा का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णो मे से कोई वर्ण नही है। न छोटे-बडे, ऊँच-नीच का ही भेद है। इसकी न कोई जाति है, न पक्ति है, अर्थात् एकेंद्रिय, द्वेंद्रिय आदि जाति की पक्ति मे यह नही है। न मै (आत्मा) साधु हू, न साधना करने वाला हूं। न मै (आत्मा) छोटा हूं और न मै भारी हूं ॥१॥

मै (आत्मा) न गरम हूं न ठडा, न मै (आत्मा) वडा हूं न छोटा, न मै (आत्मा) किसी का भाई हूं न किसी की वहिन, न मै वाप हू और बेटा हू। (आत्मा) नित्य है—न यह कभी उत्पन्न हुआ, न किसी को उत्पन्न कर सकता है, इसलिये किसी का भाई-वहिन, पिता-पुत्र नही हो सकता है। यह शरीर ही उत्पन्न होता है, इसलिए इसही के संग यह सव सम्वन्ध घटित होते है ॥२॥

न मै (आत्मा) मन से उत्पन्न हू, न शब्द से। न मै मन हूं, न शब्द हूं। न मै (आत्मा) शरीर के धारण करने वाले पंच महाभूत से उत्पन्न हू। न मेरा (आत्मा का) कोई वेष है, जिससे मै वेष-धारी कहलाऊँ। न मै (आत्मा) कर्त्ता हू, न मै करणी हूं। जिस करणी (कर्म) को करता हुआ यह जीव दिखाई पड़ता है, परमार्थ से यह उसका कर्त्ता नही है, उपचार से कर्त्ता है ॥३॥

न मैं (आत्मा) देखा जा सकता हूं, न स्पर्श किया जा सकता हूं। न मेरा (आत्मा का) स्वाद लिया जा सकता है, न मेरी गंध ली जा सकती है। अर्थात् आत्मा के रूप, रस, गंध, स्पर्श कुछ भी नही है। आनन्दघन जी कहते है—चैतन्य गुण युक्त यह आत्मा (मै) है, अनंत ज्ञान, दर्शन, आनन्द व वीर्य युक्त आत्मा है, सत्, चित

व आनन्द स्वरूप यह आत्मा है। सेवक जन (साधक वर्ग) इस रूप पर बलिहार जाते है अर्थात् अपने आपको उत्सर्ग करते है ॥४॥

१२ राग–रामगिरि

माहरो मौनें कब मिलस्यैं मन मेलू ।
मन मेलू विन केलि न कलिये, वालै कवल कोइ वेलू ॥ मा० ॥१॥
आप मिल्यां थी अन्तर राखै, मनुष नहीं ते लेलू ।
'आनंदघन' प्रभु मन मिलिया विरण, को नवि विलगै चेलू ॥मा०।२॥

पाठान्तर—माहरो = मारौ (अ, इ) । मौनैं = मनैं (इ), मुनैं (उ) । कलिये = कलीइ (आ), करिये (अ, इ) । वालै = वाल (इ) । मनुप = सो मिनख (अ, इ) ।

शब्दार्थ—माहरो = मेरा । मौनैं = मुझे । मन मेलू = मन मिलने वाला, जिससे मन मिले, प्रिय । केलि = खेल । कलिये = खेलना । कवल = ग्रास, कौर । वेलू = वालू, रेत । अन्तर = फर्क, परदा । लेलू = इसका अर्थ श्री वुद्धिसागर जी ने 'लवाडी' किया है; श्री कापडिया जी ने 'पत्थर का टुकडा' किया है; यह शब्द हिन्दी का नही ज्ञात होता है। इसका अर्थ हृदय-हीन, पशु से है । विलगै = पास मे आना । चेलू = चेला, शिष्य ।

अर्थ—मुझे मेरा मन मिलापी प्रिय (आत्मा) किस दिन मिलेगा। मेरे मन से जिसका मेल वैठता (मिलता) हो, वह प्रिय कब मिलेगा। मन मिलापी विना और तो क्या, खेल (क्रीड़ा) खेल कर मन वहलाव (मनोरंजन) करने की भी इच्छा नही होती। विना मन मिले प्रीति करना तो वालू-रेत के ग्रास वनाना है ॥१॥

अपने मन मिलने वाले स्नेही मित्र से जो परदा रखता है, कपट करता है, वह मनुष्य नहीं है, वह तो हृदयहीन पशु है। श्री

आनन्दघन जी कहते है—हे प्रभो ! मन मिले विना तो कोई चेला–शिष्य भी पास नही आता है ॥२॥

विशेष—सम्भव है किसी के प्रश्न करने पर कि आप शिष्य करेंगे या नही ? योगीराज को इस पद की स्फुरणा हुई हो। तात्पर्य यह है कि जव तक मन के अनुसार योग्यता वाला कोई न मिले, तव तक योगीराज उसे दीक्षित करने की इच्छा नही रखते। शिष्य वना कर उसे योग्य न वनाना तो बुरा है और शिष्य वन कर गुरु मे श्रद्धा भाव न रखना और भी बुरा है। परस्पर का सम्बन्ध ही फलदायक है।

यदि इस पद को चेतना या सुमति की उक्ति मानें तो चेतना कहती है कि जिससे मेरा मन मिल जावे ऐसा मन मिलापी प्रिय मुझे कव प्राप्त होगा अर्थात् मुझे शुद्ध स्वरूप आत्म-दर्शन कब प्राप्त होगा ? (आगे पद का भी इसी प्रकार अर्थ होगा)

सिद्ध स्वरूप उनके ३१ गुण   १३   राग–आशावरी

अनन्त अरूपी अविगत सासतो हो वासतो वस्तु विचार।
सहज विलासी हासी नवि करै, अविनाशी अविकार ॥अनंत०॥१॥
ज्ञानावरणी पंच प्रकार नी, दरसण रा नव भेद।
वेदनी मोहनी दोइ दोइ जाणीइ रे, आउखो चार विछेद ॥अ०॥२॥
शुभ अशुभ दोउ नाउँ बखाणीयै, ऊँच नीच दोय गोत।
विघन पंचक निवारी आप थी, पंचम गति पति होत ॥अ०॥३॥
जुग पद भावी गुण जगदीसना रे, एकत्रीस मति आणि।
अवर अनन्ता परमागम थकी, अविरोधी गुण जाणि ॥अ०॥४॥

सुन्दर सरूपी सुभग सिरोमणी, सुणि मुझ आतम राम।
तनमय तल्लय तसु भजनै करी, 'आनन्दघन' पद पाम ॥अ० ।५॥

पाठान्तर—वस्तु = वसत (आ)। दरसण रा = दरसण ना (इ)। जाणीइ रे = जाणियै रे (अ, इ)। विछेद = विच्छेद (अ)। दोउ नाउं = दोऊ नांव (इ), दोऊ नाम (उ)। ऊँच = उँच (आ)। दोइ = दोय (इ)। निवारी = निरवारी (आ), निरवार्या (उ)। आप थी = आपथी रे (इ, उ)। जुग पद = युग पद (अ, उ)। मति = मनि (आ), मन (इ, उ)। आगि = आगु (अ)। अविरोधी=अहिरोधी (अ)। सिरोमणि= सिरोमणि रे (अ), सिरोमणी रे (इ, उ)। सुणि = सण (इ, उ)। भजनै = भजनइ (अ), भक्ते (व वि)।

शब्दार्थ—अरूपी = रूप रंग रहित, जो इन्द्रियों द्वारा न जाना न देखा जा सके। अविगत = अनिर्वचनीय, जिसका वर्णन न हो सके। सासतो = शाश्वत, नित्य, अविनाशी। वासतो = निवास करते है, रहते है। सहज विलासी = स्वभाव सुख मे रमण करते है। अविनाशी = विनाश रहित। अविकार = विकार रहित। आउखो = आयुष्य कर्म। विछेद = भेद, प्रकार। विघन = अन्तराय कर्म। पचम गति = मोक्ष। जुग पद = एक ही क्षण मे उत्पन्न ज्ञान, दर्शन। सरूपी = स्वरूप वाला। सुभग = सुन्दर, सुखद। तन्मय = तदाकार, एकाग्र। तल्लय = तल्लीन, निमग्न।

अर्थ—योगीराज आनन्दघन जी कहते है—सिद्ध परमात्मा अनन्त है, अरूपी है—इन्द्रियों द्वारा जाने नही जा सकते, इनके स्वरूप का पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता। वह शाश्वत है। सिद्ध-शिला पर निवास करते है। सम्पूर्ण वस्तुओं के तथा उनके भावों के ज्ञाता है। सहज सुख में विलास करते हैं। किन्तु कभी किसी से हँसी नही करते अर्थात् गम्भीर है क्योंकि विकार रहित और अविनाशी है ॥१॥

मति, श्रुति, अवधि, मनपर्यंव तथा केवल—इन पांच प्रकार

के ज्ञान पर आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानवरणी कर्म कहते हैं। दर्शनावरणी के नौ भेद है—चक्षु दर्शनावरणी, अचक्षु दर्शनावरणी, अवधि दर्शनावरणी, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला प्रचला तथा स्त्यानगृद्धि। साता, असाता वेदनी से, वेदनी कर्म के दो प्रकार, दर्शन मोह और चारित्र मोह—ये मोहनी कर्म के दो भेद है। आयुष्य कर्म चार प्रकार का है—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु॥२॥

शुभाशुभ प्रकार से नाम कर्म के दो भेद, उच्च गोत्र और नीच गोत्र—ये गोत्र कर्म के दो भेद है। दान, भोग, उपभोग, लाभ व वीर्य मे विघ्न पहुँचाने वाले पाँचो अन्तराय कर्मों को अपने से दूर कर, हटा कर पचम गति मोक्ष के स्वामी होते है॥३॥

जगत के स्वामी सिद्ध भगवान् मे एकसाथ एक ही समय में इकतीस गुण होते है। सिद्ध परमात्मा मे और भी अनन्त अविरोधी गुण है जिन्हें परमागम से जानना चाहिये। (१) ज्ञानावरण के नाश से अनन्त ज्ञान प्रगट होता है, (२) दर्शनावरण के नाश से अनन्त दर्शन, (३) वेदनीय कर्म के नाश से अव्याबाध सुख—अनन्त सुख, (४) दर्शन मोह कर्म के नाश से क्षायिक सम्यकत्व तथा चारित्र मोह के नाश से स्वरूप रमणता रूप क्षायिक चारित्र प्रकट होता है, (५) नाम कर्म के नाश से अरूपीपन, (६) गोत्रकर्म के नाश से अगुरु लघु गुण प्रकट होता है, (७) अन्तराय कर्म के नाश से अनंतवीर्य शक्ति प्रकट होती है, (८) आयु कर्म के नाश से अक्षय स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार ये इकतीस गुण सिद्धों में प्रकट होते है॥४॥

हे सुन्दर व सुखद वस्तुओं के सिरताज! शिरोमणी! मेरे आतम राम सुन, तू भी एकाग्र भाव और तल्लीनता से सिद्ध भगवान् के गुणगान कर जिससे आनन्ददायक परमानन्द प्राप्त हो, तदाकार वृत्ति से सिद्ध भगवान् में तल्लीन होकर भजन कर, जिससे परमानंद दायक परमपद प्राप्त होवे ॥५॥

प्रिया प्रलाप **१४** **राग–तोड़ी (टोड़ी)**

तेरी हूँ तेरी हूँ एती कहूँ री।
इन वातन कू दरेग तू जानै, तो करवत कासी जाय गहूँ री॥
॥ तेरी० ॥ १ ॥

वेद पुराण कतेब कुरान में, आगम निगम कछु न लहूँ री।
चाचरि फोरि सिखाइ सब निकी, मै तेरे रस रंग रहूँ री॥
॥ तेरी० ॥ २ ॥

मेरे तो तूं राजो चहीयै, और के बोल मैं लाख सहूँ री।
'आनन्दघन' प्रभु बेगि मिलो प्यारे, नहिं तो गंग तरग वहूँ री॥
॥ तेरी० ॥ ३ ॥

पाठान्तर—तेरी हूँ तेरी हूँ एती कहूँ री = तेरी हूँ एती कहूँ री (आ), तेरी हूँ तेरी हूँ तेरी हूँ तेरी हूँ तेरी हूँ तेरी हूँ (अ, उ)। कू = मैं (अ, इ)। दरेग = दगो (अ, इ)। जानै = ज्यनै (अ, ठ)। कतेव = कितेव (उ)। चाचरि = वाचरि (इ), चाचर (उ)। फोरि = कोरी (उ)। सिखाइ = मिखाय (उ)। सब निकी = सबन की (इ, उ), सेवन की (क, व)। नहि = नांही (अ, आ)।

शब्दार्थ—दरेग = कमी फर्क,। कतेव = किताव, धर्मग्रथ। आगम = जैन धर्म शास्त्र। निगम = अर्थ निर्धारण करने वाले ग्रथ, वेद। चाचरि =

फाल्गुन मे गाया जाने वाला गीत, एक राग। सब निकी = सबने भली भाँति। रस-रग = प्रेम के रंग मे, आनन्द मे।

अर्थ—सद्बुद्धि कहती है—हे चेतन ! तू निश्चयपूर्वक जान कि मै तेरी ही हूं। मै अनेक बार कह चुकी हूं कि मै तेरी हूं, मै तेरी ही हूं, अब फिर कहती हूं कि मै तेरी हूं। इस मेरी बात में कुछ कमी या फर्क समझता हो तो मै काशी जाकर करवत ले सकती हूं ॥१॥

हे चेतन ! चारों वेदों, अठारह पुराणों, कुरान, जैनागमों, उपनिषदों मे तेरे वर्णन के अतिरिक्त और कुछ नही पाती हूं। वाणी के हेर-फेर से, भाषा परिवर्तन से, वचन चातुरी से गा गा कर इन सब ने भले प्रकार से तेरी ही सेवा के विषय मे कहा है। हे चेतन ! मै तो तेरे ही रस-रग (प्रेम) मे रहती हूं ॥२॥

मुझे तो तेरी प्रसन्नता चाहिये (तू मेरे उन्मुख रहे) फिर तो मै लोगों के लाख लाख ताने, अपशब्द भी सहलूँगी। हे प्रिय आनन्दधाम प्रभो ! तुम्हारा विरह अब सहा नहीं जाता है अतः आप शीघ्र आकर मिलो। देखो, मै विचार रूपी गंगा के प्रवाह मे वही जा रही हूं ॥३॥

प्रिया प्रलाप **१५** **राग–तोड़ी (टोड़ी)**

परम नरम मति और न भावै।
मोहन गुन रोहन गति सोहन, मेरी बेर असे निठुर लखावै॥
॥ परम० ॥ १ ॥

चेतन गात मनात न एते, मूल वशात जगात बढ़ावै ।
कोऊ न दूती दलाल बसीठी, पारखो पेम खरीद बणावै ॥
॥ परम० ॥ २ ॥

जाँघि उघारि अपनी कही एती, विरह जार निसि मोहि सतावै ।
एती सुन 'आनन्दघन' नावत, और कहा कोऊ डूंड बजावै ॥
॥ परम० ॥ ३ ॥

पाठान्तर—और = अउर (अ) । भावै = आवै (इ) । वेर = वैरन (इ), विरयाँ (उ) । जगात = लगान (उ) । पेम = प्रेम (इ, उ) । खरीद = खरादि (आ), खरीदि (अ) । जांघ उघार अपनी कही एती = जाँघ उघारि अणत कहै ऐती (उ), जाघ उघार आपनी कही एती (इ) । डूंड = डूंडि (इ, उ) ।

शब्दार्थ—और = अन्य, माया ममता आदि । गुन रोहन = गुणों में पर्वत के समान । गति = चाल । सोहन = शोभायमान, सुन्दर । वेर = समय, वार, दफा, मरतवा । लखावै = देखने मे आता है । गात = गायन कर । मूल वशात = मूल वस्तु से जगात—महसूल (कर, टैक्स) वढ़ा लेता है । बसीठी = सन्देश वाहक । विरह जार = वियोग की ज्वाला । नावत = नही आता है । डूंड = डोंडी, ढोल ।

अर्थ—हे गुणधाम ! सुन्दर गति वाले मनमोहन चेतन ! माया, ममता, विभाव, धन, वैभव, कुटुम्ब परिवार आदि सांसारिक भोगों का प्रसंग जब उपस्थित होता है तब तो अत्यन्त नम्रता से उन सब मे रस लेने लगते हो—रच-पच जाते हो और मेरी वार—सम, दम, सन्तोष, समता आदि के समय आप ऐसे निष्ठुर वन जाते हो कि मेरे से आपका कोई सम्वन्ध ही नहीं है ॥१॥

समुति श्रद्धा से कहती है—हे सखि ! मै चेतन देव को अत्यन्त मधुर शब्दों मे विनती करती हूं, गा-गा कर प्रसन्न करने की चेष्टा करती हूं कि आप मूल वस्तु से हांसिल (टैक्स) क्यों बढ़ाते हो।

कोई ऐसा दूत नहीं है, न कोई ऐसा दलाल है, न कोई ऐसा सन्देश वाहक है जो उन्हे समझा कर परीक्षा पूर्वक प्रेम का सौदा वना देवे ॥२॥

जघा उघाड़ कर, लज्जा त्याग कर, बेपर्दा होकर अपनी कथा इसलिये कह रही हूं कि मुझे आत्म-विरह की ज्वाला रातों सताती रहती है। इतना सुनकर, समझ कर भी आनन्ददायक, स्वरूपानन्द के स्वामी (चेतन) मेरे पास नहीं आवें तो क्या डोंडी पिटाऊँ ? ॥३॥

विरह दशा **१६** **राग–तोड़ी (टोड़ी)**

पिया बिण निस दिन झूरूँ खरीरी।
लहुड़ी वड़ी की कानि मिटाई, द्वार ते आँखैं कब न टरी री॥
॥ पिया० ॥ १ ॥

पट भूषण तन भौकन उठै, भावै न चोकी जराव जरी री।
सिव कमला आली सुख न उपावत, कौन गिनत नारी अमरी री॥
॥ पिया० ॥ २ ॥

सास विसास उसास न राखै, नणद निगोरी भोरै लरी री।
और तबीब न तपति बुझावै, 'आनन्दघन' पीयूष झरी री॥
॥ पिया० ॥ ३ ॥

पाठान्तर—पिया = प्रिय (अ)। लहुडी = लहुरी (इ)। द्वार = द्वारि कव न = कवहु न (उ)। उठै = उढई (अ), औढ़ै (इ), उढइ (उ)। भावै = भावइ (आ)। सुख न उपावत = सुभ उपावत (अ)। भोरै = भोर (इ)। पीयूष = पीऊष (इ)।

शब्दार्थ—झूंरू = अत्यन्त सन्तप्त। लहुडी = छोटी। कानि = मर्यादा। टरी = हटना, टलना। पट = वस्त्र। भूषण = गहने, आभूषण, जेवर। भौकन = भभका। भावै न = अच्छी नही लगती। जरी = जडी हुई। सिव कमला = मोक्ष लक्ष्मी। उपावत = पैदा करती है। अमरी = देवागना, अप्सरा, सुरबाला। विसास = विश्वास। उसास = श्वासोश्वास जितना। निगोरी = निगोड़ी, दुष्ट। भोर = सवेरे। तवीब = हकीम, वैद्य। तपति = दाह, जलन। पीयूष = अमृत। झरी = झड़ी, वर्षा।

अर्थ—सुमति कह रही है—प्राण प्यारे चेतन के बिना दिन-रात मै सतप्त रहती हू। छोटी वडी सवकी मर्यादा त्याग कर मेरी आंखे द्वार से कभी हटती ही नही। प्रीतम की (चेतन की) प्रतीक्षा मे द्वार की ओर टकटकी लगाये रहती हूं। अपने स्वामी का इन्तजार कर रही हूं। कब मेरे स्वामी मेरे घर आवें ॥१॥

(इस वियोगावस्था मे) वस्त्र आभूषणों और शरीर से भभका उठता है। वहुमूल्य जड़ाऊ चौकी भी अच्छी नही लगती है। चेतना कहती है कि हे सखि श्रद्धा! मोक्ष लक्ष्मी से भी मुझे सुख नही है। जब मोक्ष लक्ष्मी से ही मुझे सुख नही हो सका तो स्वर्ग की देवांगनायें तो किस गिनती मे हं। उसकी इच्छा कौन करेगा? चेतना कहती है कि मुझे न स्वर्ग चाहिये, न मोक्ष मुख चाहिये, मुझे तो अपने स्वामी शुद्धात्मा चेतन्य देव से मिलना है ॥२॥

सासू एक क्षण का भी विश्वास नहीं करती है और निगोड़ी ननद सवेरे से ही लड़ना आरम्भ कर देती है। अर्थात् ज्ञानी गुरुजन कहते है कि हे सुमते! आयु का एक पल का भी विश्वास नही है। तू पूर्ण प्रयत्न कर चेतन से मिल क्यों नही लेती? बराबर वालो भी प्रभात में यही स्मरण कराती है कि प्रत्येक प्रभात के संग जीवन

का एक दिन कम होता है। इस दुर्लभ मनुष्य भव में ही तू नहीं मिल सकी तो फिर चेतन से कहां मिलाप होगा। अतिशय आनन्द-मय मेरे स्वामी चेतन देव के मिलने से ही मेरे तन की तपत दूर हो सकेगी क्योंकि मेरे तन का ताप तो उनके मिलाप रूप अमृत झरणे (वर्षा) के अतिरिक्त किसी भी हकीम–वैद्य की औषधि से जाने वाला नही है ॥२॥

प्रिया प्रलाप, ललकार　　१७　　राग–तोड़ी (टोड़ी)

ठगोरी, भगोरी, लगोरी, जगोरी।
ममता माया आतम लै मति, अनुभव मेरी और दगोरी ॥ १ ॥
आत न मात न तात न गात न, जात न बात न लागत गोरी।
मेरे सब दिन दरसन परसन, तान सुधारस पान पगोरी ॥ २ ॥
प्राननाथ बिछुरे की वेदन, पार न पावु पावु थगोरी।
'आनन्दघन' प्रभु दरसन औघट, घाट उतारन नाव मगोरी ॥ ३ ॥

पाठान्तर—गात न जात न = जात न गात न (इ, उ)। मेरे = मेरइ (अ)। तान = तात (इ)। पार न पावु पावु = पांउ न पावु न पावु (अ, इ)। पार न पाऊ अथाग (वि)। मगोरी = न गोरी (अ), मरोरी (उ)।

शब्दार्थ—ठगोरी = ठगने वाली। भगोरी = भाग जावो। लगोरी = पीछे लगी हुई। जगोरी – जागृत हो। ओर = तरफ, पक्ष। दगोरी = दगा, धोखा। जात = सजातीय। गात = शरीर, सगोत्रिय। परसण = स्पर्श, चरण छूना, वंदना, नमस्कार। तान = मधुर स्वर। पगोरी = मस्त, तन्मय रहना। थगोरी = शिथिल, थकना। औघट = विषम, ऊबड़–खावड़। मगोरी = मँगाती हूँ।

अर्थ—आतमा के पीछे अनादि काल से लगे हुये माया, ममता, विभाव रूप परिणामों! हे धोखा देने वालो! अब भाग जावो, दूर

हटो। हे ठगो ! तुम्हारी शिक्षा से अब तक यह चेतन (मेरे स्वामी) मेरे (सुमति के) और अनुभव के संग दगा—धोखा करते आये हैं किन्तु अब मैने तुम्हारे सब प्रपंचों को जान लिया है। अब तुम्हारी दाल यहां नहीं गलेगी, इसलिये तुम सब यहां से चलते बनो ॥१॥

भाई, मां-बाप, पुत्र तथा अपने शरीर की भी बात अच्छी नहीं लगती है। अब तो निशि-दिन चेतन पति के दर्शन और उसके स्पर्श की धुन लग रही है। मुझे तो उसी अनुभव—अमृत रस के पान मे (पीने मे) मग्न रहना है ॥२॥

प्रियतम चेतन के वियोग की वेदना का कोई पार नही है। वह वेदना थका देने वाली है। योगीराज कहते हैं कि हे आनन्दघन प्रभु ! आपकी प्राप्ति का मार्ग बड़ा विषम है, इसलिए पार उतरने के लिये ध्यान रूप नौका मांगती हूं। अर्थात् सतत नाम स्मरण की योग्यता प्राप्त हो, जिससे गुण स्मरण सदैव बना रहे ॥३॥

प्रिया प्रलाप–विरह वेदना १८ राग–मालवी गौडी (काफी)

वारी हुं बोलडे मीठडे ।
तुझ बाजू मुझ ना सरै, सुरिजन, लागत और अनीठडे । वा०॥१॥
मेरे जीय कुं कल न परत है, बिन तेरे मुख दीठडे ।
पेम पीयाला पीवत पीवत, लालन सब दिन नीठडे ।।वा०॥२॥

पूछूं कौन कहां धुं ढूंढू, किसकूं भेजूं चीठडे।
'आनन्दघन' प्रभु सेजडी पावुं, भागे आन वसीठडे ॥वा०॥३॥*

पाठान्तर—तुझ वाजू मुझ ना सरै = तुझ वाजू मुझ ना सरइ (अ), तुझ वोजे नहिं बीसरै (इ), तुझ वातु मुझ ना सरे (उ i), तुझ वोले नहिं बीसरे रे (उ ii), तुअ विन मज नहिं सरे रे (व)। मेरे जीय कुंकल = मेरे कुं जीय जक (उ i), मेरे मन कुं जक (ब), मेर मनवा जक (वि)। दीठडे = मीठडे (आ)। 'पीवत' आ प्रति मे एक ही बार। 'लालन' उ ii में यह शब्द नही है। कहाँ धुं = कहां लूं (इ, उii), कही (उ i)। पावुं = पायो (उ ii), पयै (इ)। भागे = भागइ (आ), भागे (उ i)।

शब्दार्थ - बोलड़े = बोल, वचन। मीठडे = मीठे। वाजू = प्रत्येक कार्य में सहायक, वाहु, भुजा। सरै = पार पाना, जिसके बिना कार्य न चले। सुरिजन = साधु, आचार्य, सम्बन्धी। अनीठड़े = अनिच्छित, खराब, अनिष्ट। क़ल = चैन, आराम। दीठडे = देखें। नीठड़े = कठिनाई से, मुश्किल से। कहाँ धुं = कहा तक। चीठडे = पत्र, चिट्ठी। सेजडी = शय्या। आन = आने वाले, अन्य। वसीठड़े = दूत।

अर्थ—सुमति कहती है—हे मिष्ठ भाषी! मै तेरे पर व तेरे मीठे वचनों पर बलिहारी हूं। हे ज्ञानघन! तू ज्ञान स्वरूप है, इस लिये तेरा प्रत्येक वचन अत्यन्त मीठा होता है। तेरा यथार्थ स्वरूप जानने के पश्चात्, उसे पूर्णतया अनावरण किये विना चैन नहीं पडता। हे स्वजन! तेरी सहायता के विना मेरा कार्य नहीं चल सकता। तेरे वीतराग भाव के अतिरिक्त अन्य रागादि भाव मुझे अनिष्ठकारक लगते है॥१॥

---

*'उ' प्रति में यह पद दो स्थानों पर लिखा हुआ है। प्रथम पत्र पाच पर २६वा पद है, फिर पत्र १५ पर ७९वा पद है। यहा दोनो ही पदो के पाठ दिये गये है। २६वाँ पद (उ i), और ७९वा पद (उ ii) है।

हे आत्म स्वामिन् ! तेरा मुख देखे बिना मन को चैन नहीं पडता है। तेरे प्रेम का प्याला पी-पीकर ही बडी कठिनाई से विरह वे सव दिन निकलते है, अर्थात् तेरे मिलन की आशा ही आशा मे विरह के दिन बिताये है ॥२॥

सुमति फिर कहती है—वहुतों से पूछ-पूछ कर थक चुकी हूं, अव कहां तक पूछती (प्रश्न करती) रहूं, किस ठिकाने (स्थान पर) तलाश करूं, किसके द्वारा पत्र भेजकर खोज करूं ? हे आनन्द के धन स्वामी आत्म प्रभु ! आपकी असंख्यात प्रदेश रूप शय्या प्राप्त हो जावे तो अन्य दूतों की आवश्यकता ही नही रहेगी ॥३॥

विशेष—योगीराज ने इस पद में बहुत बड़े रहस्य का उद्-घाटन कर दिया है। उनका कहना है कि शुद्धात्म स्वरूप प्रकट करने के लिए शुद्ध स्वरूप के प्रति अथवा जिसने शुद्ध स्वरूप प्रकट कर लिया है उससे अत्यन्त प्रेम (लगाव) होना चाहिए। इस उत्कृष्ट प्रेम द्वारा ही निज स्वरूप प्रकट होता है। जैन परिभाषा मे इसे प्रशस्त राग कहते है। इस मार्ग पर चलने वाले विरले ही हुए है। जैन साधु संस्था के नियम बहुत कठोर है। वे पतन की ओर जाते हुए व्यक्ति को बचा लेते है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इसीलिए आनन्दघनजी की साधना को कबीर प्रभृति सहजवादी मरमियों की साधना कहा है। वे नवम्बर सन् १९३८ की वीणा मासिक के पृष्ठ १० मे आनन्दघन के अनेक भाव कबीर और उनके अनुरागी दादु रज्जव प्रभृति के भावों से मिलते है। प्रियतम कह कर प्रेम के जोर से उन पर अपना अधिकार वताना, यति और सन्यासी की वात तो नहीं है। यह सब मरमी सन्तों की बात है

इसी लेख में वे फिर लिखते है--"३८वें पद में लोक-लाज छोड कर वे नटनागर के साथ मिलना चाहते है। यह भाव भी मरमिया भक्तों का है। ४९वे पद में जो वीर रस की खड्ग-हस्त साधना का रूपक है वह कबीर, दादू आदि के सुरातम (Heroic) अङ्ग के पदों की साधना के साथ खूब मिलता जुलता है। ये बाते अहिंसा परायण जैन साधुओं की नही है," इत्यादि बहुत से विचार उन्होंने व्यक्त किये है।

इस मार्ग का सर्वप्रथम दर्शन गणधर गौतम के चरित्र से होता है। उन्हे सहजात्म-स्वरूप परम गुरु भगवान् महावीर के शरीर पर अत्यन्त मोह था। भगवान् उन्हें वार वार चेतावनी देते थे, देह के प्रेम से विलग रहने का उपदेश करते थे। गौतम उस प्रेम के आगे मुक्ति की भी अवगणना करते थे। सारे जैन वाङ्मय मे यह प्रसंग अद्भुत व अद्वितीय है। भागवतकार ने गोपी प्रेम को खूब विस्तृत किया पर जैन वाङ्मय में यह गौतम स्वामी के अद्भुत प्रेम की चेष्टा दिखाई नही पडती। जैन साधु संस्था के नियम अत्यन्त कठोर है। मनुष्य का पतन होते देर नहीं लगती, इसी दृष्टि को मुख्य रख कर सब नियम बनाये जाने की कल्पना बहुत से करते है। जैन साधु संस्था में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अधिक स्थान नहीं मिला है। इसी कारण सन्त परम्परा अधिक पनप न सकी। आनन्दघन जी, चिदानन्द जी आदि सन्त साधु संस्था से प्रायः दूर ही रहे। जैनियों मे अनेक सम्प्रदाय हो चुके। सन्त–मानस वाड़े बन्दी के घेरे में न रहकर लोक कल्याण ही की भावना भाते है। इसलिए साम्प्रदायिक लोगों का सहयोग उन्हें

नहीं मिलता या कम मिलता है। आजकल जैन जनता या तो बाह्य क्रिया काण्डों में लगी हुई है या कुछ व्यक्ति शुष्क ज्ञान मे लीन है। महान् तत्त्ववेत्ता श्री देवचन्द्र जी लिखते है :—

"द्रव्य क्रिया रुचि जीव डारे, भाव धर्म रुचि हीन।
उपदेशक पण तेहवारे, स्यूँ करे जीव नवीन ॥"

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेम लक्षणा भक्ति जैनियों मे विरल हो गई है। योगीराज आनन्दघन जी ने सब पदों मे उसी प्रेम लक्षणा भक्ति का गुणगान किया है।

प्रिया प्रलाप (विरह व्याकुलता) १९ राग—केदारो

भोरे लोगा भूरूं हुं तुम भल हासा।
सलुणे साहब बिन कैसा घर वासा ॥भो०। १ ॥
सेज सुहाली चांदणी राता, फूलड़ी बाड़ी सीतल वाता।
सयल सहेली करै सुख हाता, मेरा मन ताता मुआ विरहा माता ॥
॥ भो० ॥ २ ॥
फिरि फिरि जोवों धरणी अगासा, तेरा छिपना प्यारे लोक तमासा।
उचले तन तइ लोहू मांसा, सांइडा न आवे, धण छोडी निसासा ॥
॥ भो०। ३ ॥
विरह कुं भावै सो मुझ कीया, खबर न पावूं धिग मेरा जीया।
हदीया देवूं बतावै कोइ पीया, आवै 'आनन्दघन' करूं घर दीया ॥

पाठान्तर—भोरे लोगा = भोरि लगा (उ)। तुम = तुम्ह (आ)। सलूणे = सलुने (अ, इ)। साजन = साजण (आ)। बिन = बिण (आ)। कैसा = केहा (इ)। सेज = सेझ (इ)। सुहाली = सुंहाली (इ, उ)। फूलडी= फूलनी (अ, इ), फूलरे (उ)। सयल = सयली (आ)। सुखहाता = सुहाता इ), सुखहीता (उ)। ताता = ताता (आ)। मुआ = मुया (उ)। जोवो = जोवुं (इ, उ)। तेरा = तेरे (अ)। छिपना = छिपणी (इ)। उचले = नवले

(इ, उ)। तइ = ने (अ), ते (इ, उ)। लोहू = लोही न (इ, उ)। आवै = आवो (अ)। छोडी = तजी (अ)। निरासा = निरासा (अ)।

नोट – 'उ' प्रति मे तीसरे पद का अन्तिम चरण इस प्रकार है—
(i) साई नावे धण छोडि निरासा, (ii) साईडा न आवै घरणी छोडी निरासां।
विरह = विरहा (अ)। खबर = खबरि (आ)। पावू = पावो (आ), पावो (अ), पावाँ (इ)। मेरा = मोरा (उ)। हदीया = दहीवा (इ), देवों (आ)।
नोट—'उ' प्रति मे 'घर' शब्द नही है।

शब्दार्थ—झूरू = दुख से व्याकुल होना, सूखना। हासा = हँसो। घरवासा = गृह वास, गृहस्थी। सुहाली = सुहावनी। फूलडी = फूलो की। वाडी = बगीचा, बाग। सयल = सब। सुख हाता = सुख हाथ मे करना। ताता = तप्त गरम। मुआ = मुर्दा, एक गाली। माता = मतवाला, मोटा। जोवो = देखती हूँ। धरणी = धरती। उचले = उबलते है, औटते हैं। साइडा = स्वामी। धण = स्त्री। धिग = धिक्कार है। जीया = जी, मन, हृदय। हदया देवू = हृदय से लगाऊ, छाती से चिपकाऊं। घर दीया = घर मे दीपक जलाऊं, खुशी मनाऊं।

अर्थ—शुद्ध चेतन स्वरूप आत्मा के विरह में सुमति कहती है हे भोले लोगो! स्वजन स्नेहीओ! तुम भले ही मेरी हंसी (मजाक) करो, मै तो दुःख से व्याकुल हू। सलोने साजन (चेतन) विना घर में रहना किस काम का? मेरी गृहस्थी किस काम की? विना स्वामी के भी गृहस्थी होती है क्या? ॥१॥

उद्दीपन साधन सब मौजूद है—चादनी रात है, पुष्प वाटिका है, मद-मंद शीतल पवन वह रही है, सुन्दर सुहावनी शय्या बिछी हुई है, सब सखिये मन बहलाव (मनोरंजन) तथा स्वस्थ करने का प्रयास कर रही है। चेतनजी के आने के लिए सब आकर्षक सामग्री है। लेकिन उनके न आने से उनके विरह मे मतवाला मेरा मन तप्त हो रहा है, जल रहा है ॥२॥

वारंवार पृथ्वी और आकाश को देख रही हूं। हे प्रिय स्वामी ! तेरा नेत्रों से ओझल रहना मेरे लिए दुखदाई हो गया है तथा लोक मे मैं हँसी मजाक का कारण वन गई हूं। स्वामी के न आने से लोग यह कहकर हँसी उडाते है कि इस स्त्री को पति ने छोड़ दी है, इससे शरीर मे रक्त, मांस उत्रलता है और निश्वासा उठती है ॥३॥

विरह को जो अच्छा लागा, वैसी दशा उसने मेरी करदी। मेरी इस अवस्था की आपको खवर भी न पहुँचे तो मेरे जीवन को धिक्कार है। मेरे प्रियतम का कोई पता ठिकाना वता देवे तो मैं उसे छाती से लगा लूँ। अत्यन्त आनन्द के समूह रूप मेरे स्वामी (चेतन) आवे तो घर में दीपावली जगाऊँ ॥४॥

प्रिया प्रलाप–विरह व्याकुलता २० राग–केदारो

मेरे मांझी मजीठी सुण इक वाता, मीठडे लालन विन न रहुं रलियाता ॥ मेरे० ॥ १ ॥

रंगत चूनडी दुलडी चीडा, काथ सुपारीरु पान का वीडा।
मांग सिंदूर संदल करै पीडा, तन कठडा कोरे विरहा कीडा ॥मेरे०॥ ॥२॥

जहां तहां ढूंढूं ढोलन मीता, पण भोगी भवर विन सव जग रीता।
रयण विहाणी दीहाडा वीता, अजहुं न आये मुझे छेहा दीता ॥मेरे०॥ ॥ ३ ॥

नवरंगी फूंदे भमरली खाटा, चुन चुन कलियां विछावो वाटा।
रंग रंगीली पहिनुंगी नाठां, आवै 'आनन्द घन' रहै घर घाटा ॥मेर०॥ ॥ ४ ॥

पाठान्तर– मेरे = मारी (इ), मेरो (उ)। मांझी मजीठी = माझीठी (आ) माझ मजेठी (इ), मांझ मझीती (उ)। इक वाता = ए वाता (अ), इक वात (इ), एक वाता (उ)। रलियाता = रलियात (इ)। रंगत = रगित (आ)। चीडा = वीडा (अ)। काथ = काथा (उ)। सुपारी = सोपारी (इ.उ)। रु =

अरु (इ.उ) । मांग = माग (आ), मागि (अ इ)। संदल = सदल (अ.इ)। करै = करइ (आ) । विरहा = विरह का (उ) । जहाँ तहाँ = जिहाँ तिहाँ (उ) । ढू ढू = ढु ंढु (आ), ढू ढ ढढोलन (अ), ढू ंढु ढोलन (उ)। पण = पाणि(आ), पिण (इ,उ) । भवर = भमर (इ उ) । जग रीता = जु ंग वरीता (आ) । रयण विहाणी = रयनी विहानी (अ.इ) । दिहाडा = दिहाडी (उ) । आये = आवइ (आ), आए (अ), आवै (इ) । मुझ = मुहि (इ) । नवरगी = नवरंग (इ. उ) फू दे = फू दे(आ) । भमरली = भमरीली (आ) । खाटा = खाट (इ) । बिछावो = बिछावु ं (इ), बिछाउ (उ) । वाटा = वाट (इ), वाटा (उ) । पहिनु गी = पहिनु ंचु ंगी (अ), हूँ पहिरु गी (उ) । नाठा = वाटां (अ), वाट - (इ) नाटा (आ) । आवै = आवइ (आ), आवे (अ) । रहै = रहइ (आ), रहे (उ) । घाटा = घाट (इ), थाट (उ।) खाटा (उ।।) ।

शब्दार्थ– माझी = केवट, नाव खेने वाला, मध्यस्थ । मजीठी = मजीठ के समान पक्का लाल रग, परिपक्व । रलियाता = प्रसन्नता पूर्वक । बीडा = रंगत विशेष । काथ = कत्था । सदल = चंदन । काठडा = काष्ठ, कठहरा । कोरे = कुरेदत है, छेदता है । पण = पर, परन्तु । भवर = पौत्र का प्यार का नाम यहाँ पति के अर्थ मे प्रयुक्त है । रयण = रैन, रात्री । रीता = शून्य, खाली । विहाणी = बीत गई, समाप्त हो गई । दिहाडा = दिन । वीता = व्यतीत हो गये, समाप्त हो गये । छेहा = वियोग । दीता = देने वाले । नवरंगी = नो रग की । फू दे = फूंदे लगी हुई । भमरली = खाट की बनावट विशेष । वाटा = आगन, मार्ग । नाठा = कठिनता से प्राप्त । घर घाटा = ठोर ठिकाना ।

अर्थ—समता अनुभव से कहती है—मेरी जीवन नौका को खेने वाले, पक्के सुन्दर लाल वर्ण वाले अनुभव मित्र ! यह बात अच्छी तरह से सुनले, मै अत्यन्त प्रिय प्रीतम (चेतन) के बिना प्रसन्न नही रह सकती ॥ १ ॥

यह चूनडी व दुलडी रंगत के वस्त्र, कत्था, सुपारी और पान का बीडा, मांग की सिदूर और चन्दन का लेप—ये सब मुझे पीडा (दुख), देते है क्योंकि शरीर रूपी काठ को विरह रूपी कीड़ा कुरेदता है । (चेतन के वियोग में सब दुखदाई है) ॥ २ ॥

मित्र की खोज में इधर उधर जाती हूं किंतु आनन्द भोगने वाले स्वामी के बिना सब संसार सूना लगता है। अनेक रात्रियें बीत गई और दिन पर दिन बीत गये किन्तु मुझे छेह देने वाले–वियोग देने वाले आत्म-भरतार अभी नही आये हैं। (अभी तक चेतन से मेरा मिलाप नही हो रहा है) ॥ ३ ॥

नोरंगी फूंदे लगी हुई भरमली खाट बिछी हुई है। फूल की कलिये चुन चुन कर आंगन व मार्ग मे बिछा रखी है। यदि मेरे अनन्दघन स्वामी आ जावें और अपने स्थान पर रहे तो मै रंग विरगे वस्त्र पहिरूंगी अर्थात आनन्द मे रहूगी ॥ ४ ॥

विशेष—इस पद मे योगीराज आनन्दघन जी ने यह प्रतिपादन किया है कि जीव वहिरात्म भाव व अन्तरात्म भाव को समझ कर अपनी कषाय परिणती से सावधान रहते हुए कभी कभी अन्तरात्म भाव भावे तो वह सुधर सकता है। यह स्थिति भी कोई निराशाजनक नही है।

प्रिया प्रलाप, सखि के प्रति　　　२१　　　राग–गौडी

देखौ आली नटनागर के सांग।
औरही और रंग खेलत ताते फीकी लागत मांग ॥दे०॥१॥
उरहानौ कहा दीजै बहुत करि, जीवत है इहि ढांग।
मोहि और विच अन्तर एतो, जेतो रूपै रांग ॥दे०॥२॥
तन सुधि खोइ घूमत मन ऐसे, मानु कछु खांई भांग।
ऐते पर "आनन्दघन" नावत, कहा और दीजै बांग ॥दे०॥३॥

पाठान्तर—के सांग = को सग (इ), को रंग (उ)। और ही = अे रही (आ) ओरही ओर ही (इ), ओरही ओर (उ)। 'इ' प्रति मे रग शब्द नही है। ताते = ताते इ (आ), तात (उ)। माग = अग (इ), सांग (उ)। उरहानी = ओरहनो (इ), उरहानो (उ)। जीवत = जीजत (आ), जीते (अ), जीयत (उ)। ढांग = ढग (इ)। मोहि = मोरे (इ)। विच = विचि (आ) चित (अ)।

रूपै – रूपइ (उ) रांग = रंग (आ,इ, उ)। सुधि = सुध (इ, उ)। खोइ = खोय (इ) घूमत – घुमत (आ)। अैसे = अइसै (अ)। मानु = मानुक (उ)। नावत = राचत (उ)। कहा""बाग = कहा और दीजइ वाग (आ), और कहा कोउ दीजै वाग (इ), कहो ओर दीजै वाग (उ)।

शब्दार्थ—नट = गा बजाकर और नाना प्रकार के भेष बनाकर खेल तमाशा दिखाने वाला। नागर = नागरिक, शहरी, चतुर। साग = स्वाँग, वेशभूषा, भेष। माग = इच्छा, स्त्री के मस्तक मे केशो के बीच का स्थान। उरहानौ = उपालम्ब। ढाग = ढग। रूपै = चादी। राग = कलई, रागा। बाँग = पुकार।

अर्थ—सुमति अपनी सखि (श्रद्धा) से कहती है–हे सखि ! मेरे स्वामी चेतन की नागरिक वेशभूषा तो देखो, उस चतुर नट ने नगर निवासी का भेष बनाकर और ही और रग (विभाव दशा) मे वह रम रहा है, अपने स्वरूप की ओर नही देखता, इसलिये इसकी (चेतन की) सब माँगे-इच्छाये फीकी लगती है अर्थात खराब है ॥१॥

यह मेरा स्वामी सबका मालिक होकर भी इच्छाओं का दास बना हुआ है। इसको बार-बार कहां तक उपालम्ब देती रहूं—कहा तक सावधान–सचेत करती रहूं। यह इसी भाँति जीवन यापन करता है। इसने तो इच्छाओं के ढेर लगा रखे है, जो कैसे पूर्ण होंगे ? इसीलिये तो मै कहती हू कि मेरे और अन्य (माया) के मध्य इतना अन्तर है जितना चांदी और रांगा मे है ॥२॥

मुझको किसी सांसारिक भोग की आवश्यकता नही, मै तो चेतन को कामना रहित निज स्थान की ओर लेजाने वाली हूं किंतु यह (चेतन) माया के चक्कर मे शरीर की सुध-बुध खोकर घूमता है–

मस्त होकर फिरता है मानों भांग पीकर मतवाला (पागल) बन गया हो। (जीवात्मा ने अनादि काल से मोह रूपी भांग पी रखी है जिससे चारों ओर संसार में भटक रहा है) इतना समझाने पर भी यह नटनागर (चेतन) अपने स्वभाव मे नही आता है तो फिर इसे जागृत करने के लिए किस प्रकार से बांग दी जावे -किस प्रकार पुरजोर सचेत किया जावे।

प्रिया प्रलाप, मिलनोत्कंठा २२ राग-सोरठ

मौने मिलावोरे कोइ कंचन वरणो नाह।
अंजन रेख न आंखड़ी भावै, मंजन सिर पड़ो दाह ।।मौ०।।१।।
कोण सयण जाणे पर मननी वेदन विरह अथाह।
थर थर देहड़ी धूजै म्हारी, जिम वानर भरमाह ।।मौ०।।२।।
कोइ देह न गेह न नेह न रेह न, भावै न दुहड़ा गाह।
'आनन्दघन' वाल्हा बाहड़ी साहवा निस दिन धरू उमाह ।।मौ०।।।३।

पाठान्तर—मौने = मोनइ (आ), मुने (उ)। 'इ', 'उ', प्रतियो मे 'मिलाओ' के आगे 'रे' नही है। अन्तिम शब्द नाह के आगे 'रे' है। कोइ = कोई (अ), 'इ', 'उ' प्रतियो मे इस स्थान पर 'कोई' शब्द नही है। वल्कि 'मौने' शब्द के आगे 'कोय' शब्द है। रेख = रेखा (इ,उ)। 'न' शब्द 'अ' प्रति मे नही है। आँखडी = आख न (इ), आखडी न (उ)। 'भावै' शब्द के आगे 'आ' प्रति मे 'मोनइ' और है। दाह = थाह (अ), दाह रे (इ), वाहरे। सयण=सजन (अ), सैन (इ), सेण (उ)। जाणे = जाणइ (आ)। थरथर····· म्हारी = थरथर थरथर देहडी धूजइ माहरी (आ)। थरथर धूजै देहडी मारी। (इ) भरमाह = भरमाह रे(इ, उ)। कोइ····रेह न = देह न नेह न गेह न रेह न(इ), कोइ देह न गेह न, रेह न नेह न (अ. उ)। भावै = भावइ (आ)। दुहडा गाह = दूहा गाह (इ), ही यह माहि (उ)। वाल्हा=वाला (अ), वालो (इ), वाहलो

(उ)। वाह्डी = वाहिडी (अ), बांह्डी (इ, उ); साहवा = साहिवा (अ)। झालै (इ)। उमाह = उच्छाह (अ), उछाह (इ), उमाहि रे (उ)।

शब्दार्थ—कंचन = सोना, स्वर्ण। वरणो = रंग वाला। मंजन = स्नान। दाह = जलन। भर माह = माघ मास में, खूब ठंड में। गेह = घर। दुहडा = दोहा छंद। वाल्हा = प्रिय। वाह्डी = हाथ। साहवा = पडकना, सम्भालना।

अर्थ—अपने स्वामी (चेतन) के विरह से व्याकुल सुमति कहती है कि कुन्दन (सबसे बढ़िया स्वर्ण का रूप) के समान सुन्दर वर्ण वाले मेरे स्वामी से मुझे कोई मिला देवे तो मैं उसका अत्यन्त आभार मानूंगी। स्वामी (चेतन) के विरह में आंखों में काजल की रेखा नहीं सुहाती है। (काजल) आंखों में आंसुओं से ठहरता ही नहीं है। स्नान के सिर तो आग लगे, अर्थात् स्नान जलन पैदा करता है ॥१॥

विरह की पीडा (दुख) अगाध होती है। कोई सज्जन ही (भुक्त भोगी) दूसरे के दिल की व्यथा को समझ सकता है। जिस प्रकार माघ मास के शीत मे बन्दर कांपते है उसी प्रकार मैं भी कांपती हूं ॥२॥

मुझे अपनी देह की, घर की, स्नेही जनों की कुछ भी सुध-बुध नही है और न मुझे दोहे और गाथा आदि काव्य ही अच्छे लगते है। अति आनन्द के समूह प्राण प्रिय प्रभु मेरा हाथ सम्भाल लें—पकड़ लें तो मेरी सब व्यथा जाती रहे और उत्साह व आनन्दपूर्वक मेरे रात दिन व्यतीत होवे और मन मे अत्यन्त उल्लास बना रहे ॥३॥

मिलन अभिलाषा २३ राग–सोरठ

मोने माहरा माधविया नै मिलवानो कोड ।।
मोने माहरा नाहलिया नै मिलवानो कोड ।।
हूँ राखु मांडी कोई वीजो मोने विलगो झोड ।। मो० ।। १ ।।
मोहनियां नाहलिया पाखै माहरे, जग सवि उजड जोड ।
मीठा बोला मनगमता नाहज विण, तन मन थाऔ चोड ।।
मो० ।।२।।
कांई ढौलियो खाट पछेडी तलाई, भावै न रेसम सौड ।
अवर सवै माहरे भला भलेरा, माहरे 'आनंदघन' सिर मोड ।।
मो० ।। ३ ।।

पाठान्तर—मोने = माहरा नाहरा (उ)। माधविया = नाहलिया (अ उ)। 'उ' प्रति मे 'राखु' शब्द नही है। वीजो = वीज ओ (आ) वीजू (अ), 'उ' प्रति मे यह शब्द नही है। मोने = मोनई (आ), मौनो (इ), मुने (उ)। विलगो वलगो (आ), विलगै (इ)। नाहलीया = नाहली (अ)। माहरे = माहरइ (आ) मारै (इ)। नाहज=नाहजी (अ) नाहूजी (उ)। विणु=वीणु (अ,इ) विण=(इ), वणु (उ)। थाओ=थाअ (इ), थाये (उ, व, वि)। ढोलियो=ढोलाओ (अ)। पछेडी = पसेडी)अ), पछेवडी (उ)। माहरै = माहरइ (आ), म्हारे (अ)। भला = भलारे (अ उ), 'इ' प्रति मे यह शब्द नही है। माहरे = म्हारे (अ), 'इ' प्रति में यह शब्द नही है।

शब्दार्थ—नाहलियानै = नाथ से, स्वामी से। कोड = चाव, उत्साह। मांडी = लिखकर, वनाकर। वीजो = दूसरा। विलगो = पृथक होना, अलग होना। झोड = झगडा। नाहज = स्वामी। पाखै = पास। उजड जोड = उजाड तुल्य, सूनसान समान। चोड = पीडा। ढोलियो = पलंग। पछेडी = पछेवडी, ओढने का वस्त्र, पीछे का पर्दा। तलाई = नीचे विछाने की गद्दी।

सौड = ओढने की रुई भरी हुई मोटी रजाई। अवर = अन्य, और, दूसरा। भला भलेरा = भले ही भले है। सिरमौड = सिरमोर, सिर का मुकुट।

अर्थ—विरह अवस्था में विरहणी को कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। विरहणी सुमती कहती है—मुझे मेरे स्वामी से मिलने का बड़ा चाव है। 'उत्कट अभिलाषा है'। मैंने अपने द्वार पर लिख रखा है कि कोई भी दूसरा झंझट डालने वाला मेरे से दूर रहे, अर्थात् आत्मस्वरूप सिवा मै दूसरी बातों से अलग हूं—अन्य सब बातें मुझे झंझट भरी लगती है। अतः विभाव की बातें करने वाले मेरे से अलग रहें ॥१॥

मनमोहन पतिदेव के मेरे पास न होने पर सब संसार उजाड (सूनसान) जंगल के समान लगता है। मिष्टभाषी मन भावन (चेतन) के बिना मेरे तन-मन दोनो को चोट लगती है—पीडा होती है ॥२॥

पलंग, खाट, पछेवडी, बिछावनी (शय्या) तथा रेशम की सोड कुछ भी (उपभोग सामग्री) अच्छे नही लगते है। मेरे लिये सब ही वस्तुयें, सब ही जीव सब ही मनुष्य भले ही भले हैं किन्तु आनंदघन चेतन ही मेरे सिरमोर है अर्थात् सर्वोपरि है ॥३॥

प्रिया प्रलाप विरहवेदन २४ राग–कान्हरो

दरसन प्रांन जीवन मोहि दीजै।
बिन दरसन मोहि कल न परत है, तलफि तलफि तन छीजै॥
दर० ॥१॥
कहा कहुं कछु कहत न आवत, बिन सइयां क्यु जीजै।
सोहु खाइ सखि काहु मनावो आपही आप पतीजे ॥दर०॥ २॥
द्यौर द्यौरानी सास जिठानी, यु ही सबै मिल खीजै।
"आनंदघन" बिन प्रान न रहे छिन, कोरि जतन जो कीजे ॥दर०॥

पाठान्तर—मोहि = मुहि (इ)। तलफि = तलफ (इ उ)। जीजै = जीजइ (अ), कीजै (उ)। सोहु=सौहुं (आ), सोहूँ (उ)। सौहुं........मनावो = सम खावो सखि जाय मनावो (इ), सोहु खाइ सखि काहि मनाऊं (अ), सोहूँ खाइ सखि काहू मनावे (इ)। पतीजै = पतीजइ (अ)। युंही सबै = यु सवहि (इ), युंहि सव ही (उ)। मिल खीजै = मिलि खीजइ (अ)। रहै = रहइ (आ) कोरि = कोर (इ उ), कोडी (ब), कोड (वि)। जो कीजै = जो कीजइ (अ), कर लीजै (इ)।

शब्दार्थ—कल = चैन, आराम। सइया = पति, स्वामी। सोहु = सौगन्ध, शपथ। पतीजै = विश्वास करना। खीजै=क्रोध करना, झुन्झलाना। छिन = क्षणभर। कोरि = कोटि, करोड।

अर्थ—हे जीवनधन ! मुझे शीघ्र दर्शन दीजिये। आपके दर्शन विना (देखेविना) मुझे तनिक भी चैन नहीं पड़ता है। तड़फ तड़फ कर मेरा शरीर क्षीण होता जा रहा है ॥१॥

पति के विना स्त्री किस तरह जी सकती है, यह भेद मै किससे कहूं। मै तो समभाव मे रहने वाली हूं; मुझे कहने का ढंग–वात वनाने की चतुराई भी नही है। हे सखि (श्रद्धा) अव मै सौगंध खाकर किसे मनावुं ! वे (मेरे स्वामी चेतन) मेरे पास कभी आते ही नहीं। पहिले अनेक वार सौगन्ध खाकर मना चुकी हूं, वार वार कह चुकी कि आपके विना मेरा जीवन दूभर (कठिन) है। पर मेरे कहने से उन्हें विश्वास ही नही होता, उन्हें तो स्वयं अपने आप ही पर विश्वास होता दिखाई पडता है ॥२॥

समता की यह हालत देखकर मैत्री भावनारूपी सासु, वैराग्य-रूपी देवर, ऋजुता रूपी देवरानी और प्रमोद भावना रूपी जिठानी सव मिलकर समझाती है, समझाने का कुछ प्रभाव न होने पर कुछ नाराज (क्रोधित) भी होती है। इनका नाराज होना व्यर्थ है। ये

लोग चाहे करोडो उपाय करें मेरे प्राण तो स्वामीनाथ आनंदघन के विना अब नहीं रह सकते ॥३॥

विशेष—कवि ने यहाँ वहुत महत्वपूर्ण वात कही है। कवि की चेतना शक्ति आत्म-दर्शन के लिये अत्यन्त व्याकुल है। वह मैत्री प्रमोद आदि भावनायें भाते है अर्थात् भावनाओं मे लीन रहते हैं, नाना प्रकार की समस्याओं से शरीर को सुखा डाला है, संसार से विरक्त है। रात दिन अनेक उपाय करने पर भी चैतन्यदेव से साक्षात्कार नहीं होता है। तब कवि प्रतिज्ञा करते है चाहे प्राण रहे या न रहे मुझे निरंजन देव का साक्षात्कार करना ही है।

कवि योगीराज ने इस पद में इस महान तत्व को व्यक्त किया है—त्याग, वैराग्य, व मैत्री प्रमोद आदि भावनाये आत्म-दर्शन के साधन अवश्य है परन्तु इन्ही मे अटक जानेवाला आत्म साक्षात्कार नहीं कर सकता। श्रीमद राजचंदजी ने इसी तत्व को इस प्रकार कहा है—

"वैराग्यादि सफल तो, जो सह आतम ज्ञान।
तेमज आतम ज्ञान नी, प्राप्ति तणां निदान॥ ६॥
त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान।
अटके त्याग विरागमांतो भूले निज भान॥ ७॥
ज्यां ज्यां जे जे योग्य छै, तहां समझवुं, नेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन अेह॥८॥ (आत्मसिद्धि)

प्रिय प्रलाप विरह व्यथा २५ राग—कानडो

करेजा रेजा रेजा रेजा।
साजि सिंगार बणाइ आभूषण, गई तब सूनी सेजा॥करे०॥१॥

विरह व्यथा कुछ अैसी व्यापत, मानु कोई मारत नेजा।
अंतक अंत कहालु लेंगो, चाहे जीव तो लेजा ॥ करे० ॥ २ ॥
कोकिल काम चंद्र चूतादिक, देन ममत है जेजा।
नावल नागर "आनंदघन" प्यारे, आइ अमित सुख देजा ॥ करे०
॥ ३ ॥

पाठान्तर—रेजा शब्द 'आ' प्रति में दो बार ही है। अन्य प्रतियों में पाठ है—करे जारे जारे जारे जारे जा। बणाइ = बणाई (अ), बनाये (इ)। आभूपण = अभूपण (अ), भूपण (इ)। सेजा = सेज्या (इ) लेंगो = लेवो (उ)। चाहे = जाहि (उ)। तो = तु (इ)। चूतादिक = आगदिक (उां) भूतादिक (उाi)। देन......जेजा = वे तन मत है जेजा (इ), देन मतन है ले ज्ञा (उ) प्यारे = प्यारो (उ)। आइ = आय (इ) आई (उ)।

शब्दार्थ—रेजा रेजा = टुकडे टुकडे। साजि = सज कर, धारण कर। सेजा = शय्या। नेजा = भाला। अंतक = यमराज। चूतादिक = आम्रफलादि। जेजा = जो जो। नवल = नवीन, सुन्दर, युवा। अमित = अपार।

अर्थ—समता सब शृंगार कर और आभूपणों से सज कर (बाह्याडंबर क्रिया रूप शृंगार कर) चेतनराज के पास गई। उन्हें सम भाव रूप शय्या पर नहीं देखा और ममता के पास गया जानकर उसका कलेजा टुकड़े टुकड़े हो गया ॥१॥

इससे उसको (समता को) चेतनराज के विरह का दुःख इस प्रकार हुआ मानो कोई भाला मार रहा हो। अपने स्वामी चेतन की अनुपस्थिति में भी समता उन्हे उद्देश्य कर कहती है—हे स्वामी! मेरे तो आदि, मध्य और अंत सब आप ही हो, इसलिये हे यमराज! मेरा कहाँ तक अन्त लोगे, भले ही तुम मेरे प्राण ले लो किन्तु मुझे दर्शन दो ॥२॥

तुम्हें सुख देने वाली कोयल की कूक, कामदेव, चन्द्रमा की चांदनी आम्र मंजरी तथा अन्य जो भी वस्तुयें आपको आनंदप्रद है

(मानव भव स्वस्थ शरीर, उत्तमकुल, आत्मोन्नति वाला धर्म आदि उद्दीपन विभाव) उन सहित आकर हे नवल नागर आनंदघन चेतन-राज, मुझे सुख प्रदान करो। तुम यह मत समझो कि मेरे पास आने से तुम्हें ये सब वस्तुये त्यागनी पड़ेंगी। मै तो केवल मायावनी ममता से तुम्हारा छुटकारा चाहती हूं ॥३॥

प्रिया प्रलाप–विरह व्यथा २६ राग-कान्हडो

पिया बिन सुधि बुधि भूली हो।
आंखि लगाइ दुख महल के, झरोखे झूली हो ॥पिया० ॥१॥

हंसती तबहु बिरानियां, देखी तन मन छीज्यो हो।
समुझी तब एती कही, कोई नेह न कीज्यो हो ॥ पिया० ॥२॥

प्रीतम प्रान पती बिना, प्रिया कैसे जीवै हो।
प्रान-पवन बिरहा-दशा, भुअंगनि पीवै हो ॥ पिया० ॥३॥

सीतल पंखा कुमकुमा, चन्दन कहा लावै हो।
अनल न विरहानल यहै, तन ताप बढावै हो ॥ पिया० ॥४॥

फागुन चाचरि इक निसा, होरी सिरगानी हो।
मेरे मन सब दिन जरै, तन खाक उड़ानी हो ॥पिया०॥५॥

समता महल विराज है, वाणी रस द्वै जै हो।
बलि जाउं 'आनन्दघन' प्रभु, ऐसे निठुर ह्वै जै हो ॥पिया०॥६॥

पाठान्तर—बिन = बिनु (अ-इ)। आंखि = आख (इ-उ) लगाइ=लगाय (इ-उ)। महल कै = महल कइ (अ), महिल कइ (इ-उ)। तबहु=तवह (आ)। समुझि = समझा (उ)। एती = अैसी (इ-उ)। प्रीतम = पीतम (आ)। प्रिया = पिया (आ अ), प्रीया (इ), पीया (उ)। भुअंगनि भुयगिनी (अ), भूयंगम (इ-उ)। सीतल = शीतल (अ) कहा लावै = कहां लावइ (अ)। विरहानल = विरहान है (उ)। चाचरि = चाचर (इ-उ)। सिरुगानी=सिरगानी (आ), सिरनानी (उ)।

खाक=खाख (इ-उ)। महल=महिले (ग्र)। विराज=गराज (आ)। ह्वै जै=ह्वै जै (ग्रा), रेजा हो (उ) (ज्ञानसार जी महाराज टव्वाकार)। ह्वै जै=हैजा (उ)। 'इ' प्रति मे अतिम पंक्तिया नही है।

शब्दार्थ—हँसती=मजाक करती थी। विरानिया=ग्रन्य स्त्रिये, सौतें छीज्यो हो=क्षीण हो गया। प्राणपवन=प्राण वायु। भुअंगनी=सर्पणी। कुमकुमा=गुलावजल आदि सुगधित जल से भरापात्र। ग्रनल=ग्रग्नि। विरहाग्नि =जुदाई की ग्राग। चाचरि=चाचर नाम गायन गाने वाले।

ग्रर्थ—(विरहावस्था में होने वाली दशा का वर्णन) समता कहती है—हे श्रद्धे! चेतन पति विना अपनी सुध बुध भूल गई हूं। अपनी सार संभाल रखना भी भूल गई हूं। पति वियोग से दुखित मै अपने दुख रूपी महल से अपने स्वामी को देखने के लिये दृष्टि लगाये हूं परन्तु वे दिखाई नही देते है इसलिये झरोखे (वरामदे) में जाकर देखती हूं अर्थात् पति वियोग रूपी दुःख महल के झरोखे से टकटकी लगाये भूल रही हूं ॥१॥

श्री ज्ञान सारजी महाराज ने इस पद पर टव्वा (टीका) लिखा है, उसके अनुसार अर्थ सारांश मे इस प्रकार है—

सुमती अपनी सखी श्रद्धा से कहती है—'हे सखी' चेतनराम मेरे स्वामी अशुद्धोपयोगी आत्मा से मुझे मिलना उचित है या नहीं? इस धार्मिक विचार से मै रहित हो गई। यहां पर यह प्रश्न होता है कि जिसका नाम ही 'समता' है अथवा जो सुमति है वह अपने को कैसे भूल गई? जव वही भूल जाती है तो उसका नाम 'समता' युक्ति युक्त नहीं कहा जा सकता? इसका स्पष्टीकरण करते हुये वे कहते है—अशुद्धोपयोगी अत्मा के संयोग से मैं सुबुद्धि की कुवुद्धि हो गई। पति के विदेश गमन रूप वियोग दुःख के झरोखे में अश्रुपात करके उसमें स्नान कर लिया। विदेश गमन यहाँ पर परपरिणति रमण, चिन्तवन समझना चाहिये। अशुद्धोपयोग मे प्रवर्तन

को अश्रु पात समझना चाहिये। अश्रु पात मे मै झूरु गई अर्थात् इतने अश्रु गिरे कि आँसुओं से मै झूलसी पड़ी अन्यथा सुबुद्धि को रोने से क्या वास्ता ? किन्तु शुद्धोपयोगी आत्मा के वियोग मे मै अपनी सुध बुध भूल गई।

टव्बाकार का यह अर्थ विचार ने जैसा है। यहां सुमति पति के साथ एकाकार होकर अपनी सुध बुध खो बैठती है। पति पर परिणति में रमण करते है। अशुद्ध उपयोग में प्रवर्तन करते है इससे सुमति दुःख महल के झरोखे मे झूलकर अपने आपको भूल जाती है ॥१॥

हे श्रद्धे ! पहिले जब मुझे शुद्ध चेतन रूप पति का वियोग नही था, उस समय मै यह नही जानती थी कि वियोग का दुःख कितना होता है। इसलिये पति वियोग से दुखित अन्य स्त्रियों को तन से क्षीण (दुबली) तथा मन से दुखित होती देखकर मै उनकी हसी (मजाक) करती थी किन्तु अब शुद्धात्मा के वियोग-दुःख को समझी तो इतना ही वचन मुख से निकला—"कोई कभी भी प्रेम न करो ॥२॥

सुमति कहती है कि मेरे प्राणपति शुद्ध चेतन के बिना मै कैसे जी सकती हूं। आर्जव मार्जव आदि दस यति धर्म रूपी प्राणवायु को विरहावस्था रूपी सर्पणी पीती है। ऐसी अवस्था मे शुद्ध चेतन के वियोग मे सुमति के प्राण कैसे रह सकते ? क्योकि सुमति शुद्ध चेतन बिना कहां से आ सकती है ॥३॥

हे सखी ! शीतलोपचार, खस का पखा, सुगन्धित गुलाब–केवडा जल, बावना चदन आदि क्यों लगाती है। अरे भोली, यह दाह ज्वर नही है। यह तो मदन ज्वर है। ये पंखे आदि सुगन्धित शीतल पदार्थ तो प्रीतम की याद दिलाने वाले है। इसलिये ये तो काम ज्वर की वृद्धि के हेतु है। इसलिये हे सखि इनका प्रयोग न कर ॥४॥

योगीराज ने इस पद मे अद्भुत प्रकार से व्यवहार दृष्टि द्वारा निश्चयका पोषण किया है। श्री ज्ञानसार जी महाराज ने इस पद के

टव्वे (टीका) मे शीतलोपचार को यथाप्रवृत्तिकरण में गिना है और ये उपचार चालू रहे तो अपूर्वकरण भी आवेगा । तात्पर्य यह है कि अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण तक विरह काल है उसके पीछे नियम से अपूर्वकरण आता है जिसमें राग द्वेष की ग्रंथी का भेद हो जाता है और अनवृत्तिकरण मे आत्मा का मिलाप हो जाता है । आत्मा का मिलाप ही सम्यक्त्व प्राप्ति है । फिर चारित्रका विरह होता है ।।४।।

फाल्गुन के मस्त महीने मे चाचर गाने वाले एक रात्रि में होली जलाते है किन्तु मेरे मन में तो प्रतिदिन होली जलती रहती है और शरीर की राख (खाक) उडती रहती है ।।५।।

श्री ज्ञानसारजी महाराज अपने टव्वे मे कहते है—सुमति कहती है—हे चाचर गाने वालो ! तुम्हारे तो होली जलाने का दिखावा मात्र है, पर पति विरह मे मेरे तो रातदिन होली सुलगती है। इसलिये शुद्ध स्वरूप चितवन रूप मेरा शरीर जलकरराख हो गया है और वह राख भी उड गई, रही नही, अर्थात् सुमति की कुमति हो गई ।

टव्वाकारने 'राख भी नही रहीं' यह अर्थ करके रूपक को सांगोपांग बना दिया है ।

सुमति कह रही है-हे आनंदघन प्रभु आप ऐसे निष्ठुर मत होवो, मेरे महल मे विराजकर-बैठकर अपनी वाणी का रस तो देवो अर्थात् मुझ से बातचीत तो कीजिये । मै आप की बलिहारी जाती हूं—मै अपने आपको समर्पण करती हूं ।।६।।

छठे पद का अर्थ श्रीज्ञानसारजी महाराज ने इस प्रकार किया है—"सुमति कहती है- 'हे श्रद्धा मुझ मति के महल मे शुद्धोपयोगी आत्माराम आकर विराजेगे तब मै मति की सुमति हो जाऊंगी । जब तक मै मति थी मेरा चतुर्गति रूप महल था और जब

में मति से सुमति हुई तव शुद्ध स्यादवाद मतानुनायी चरित्र द्वार प्रवेश मुक्ति महल विराजमान एक अरिहत, दूसरे सिद्ध, उनमे यहां केवल अरिहंत का कथन है। उन अरिहत की वाणी रस के रेजा अर्थात् तरग ऐसे आनंद के समूह प्रभु की मैं बलइयां लेती हूं। अव आप पहले जैसा वर्णन किया वैसे अशुद्धोपयोगी मत होना*।

अत्यन्त विरह, तथा प्रिय मिलन की पृच्छा व ज्योतिषी का धैर्यदान

साखी-- **२७** **राग-गोडी-जकड़ी**

राशि शशि ताराकला, जोसी जोइन जोस।
रमता समता कब मिलै, भागै विरहा सोस ।।

पिय विण कोन मिटावेरे, विरह व्यथा असराल ।।

नींद निमाणी आंखितेरे, नाठी मुझ दुख देख।
दीपक सिर डोले खडो प्यारे, तन थिर धरै न निमेष ।।पिया०।।१।।

ससि सराण तारा जगीरे, विनगी दामिनि तेग।
रयनी दयन मतै दगो, मयण सयण विणु वेग ।।पिया०।।२।।

तन पंजर भूरइ पर्योरे, उडि न सके जिउ हंस।
विरहानल जाला जली प्यारे पंख मूल निरवंश ।।पिया०।।३।।

उसास सासै वढाउ कौरे, वाद वदै निसि रांड।
न मिटे उसासा मनी प्यारे, हटकै न रयणी मांड ।।पिया०।।४।।

---

* टब्बाकार श्री ज्ञानसार जी महाराज का यह टब्बा श्री अगरचद जी नाहटा द्वारा संपादित 'ज्ञानसार पदावली' के पृष्ठ स. २३६ में है। उनका यह टब्बा श्री आनंदघन जी के केवल चोदह ही पदों पर मिलता है। क्या ही अच्छा होता यदि अधिक पर मिलता।

इह विधि छै जे घर धणीरे, उससूं रहै उदास।
हर विधि आइ पूरी करै, 'आनन्दघन" प्रभु
आस ॥पिया०॥५॥

पाठान्तर—जोइन = जोय नै (इ) रमता=आतम (उ)। कव=किम (उ)। मिलै = मिलइ (अ)। भागै=भागइ (आ-अ)। विरहा = विरही (उ) कोन=कुंण (उ)।मिटावैरे = मिटावइरे (अ-आ)। आंखितैरे = आखितइरे (आ), आंख तेरे (इ), आंखि ते रे (उ)। देख = देखि (अ,उ)। डोले = डोलइ (आ)। खडो = खडउ (अ)। प्यारे = प्यारो (आ)। ससि = सखि (वु.)। सराण = सिराण (अ), मरिण (क.बु वि.)। जगी = जगइ (अ)। विनगी = त्रिनगी (अ.वि)। दामिनि तेग = दामन तेग (आ,बु.)। दामनि तेज (अ)। दामनी तेग (इ)। रयनी दयन = रयन दयन (उ), झूरइ=झूरै (इ.उ)। सकै=सकइ (आ)। जाला=झाला (इ)। पंख = पंखी (इ)। वढाउ = वटाउ (इ उ)। वाद = याद (बु) वदै = वादै (अ), वेदे (बु)। निसि रांड = जो राम (उ)। मनी = ए महि (उ)। हटकै = हटकइ (अ)। इहि ....उदास = इह विधि इंछे अें घर धणीरे, उस तइं रहइ उदास (अ), इह विध छै अें घर धणीरे, उस सूंरहे न उदास (इ)। एह विधि इंछै से अें घर धणी रे, ऊससूं रहै न उदास (उ) इह विधि इछइ धणीरे उससुं रहे उदास (आ)। आइ = आय (इ), आऊँ (उ)। पूरी पूरूं (उ)। करै = करइ (अ)।

शब्दार्थ—राशि = बारह राशिये मीन, मेष आदि। शशि = चन्द्रमा। कला = अंश। जोश = ज्योतिष शास्त्र। सोस = शोषण। असराल = भयंकर। निमाणी = लाडली। नाठी = भाग गई। सराण = मंद होना, छिपना। विनगी = विनाग्रहण की हुई। रयनी = रात्रि। दयन = देना। मतै दगो= धोखा (दगा) देने का विचार है। मयण=मयन, कामदेव। सयण = सज्जन, स्वजन, पति। पंजर = पिंजडा। जाला = ज्वाला। मूल निरवंग=मूल (जड) से ही नष्ट हो गई है।

समता, श्रद्धा, अनुभव आदि से अपनी व्यथा कह-कह थक गई और चेतन के वियोग से अत्यन्त दुखी हो गई तब विशिष्ट ज्ञानी पुरुष

(ज्योतिषी) से अपने स्वामी चेतन से मिलाप की बात पूछती है कि चेतन से मेरा कैसे और कब मिलाप होगा।

अर्थ—समता कहती है—हे ज्योतिषी ! तुम अपनी पोथी, पंचाग द्वारा राशिबल, चंद्रबल, व अन्य ग्रहों का अंश बल देखकर बताओ कि मेरे रमता राम चेतन जी मुझे कब मिलेंगे जिससे मेरा यह विरह शोषण दूर हो ॥साखी॥

मेरे प्रिय पति चेतन बिना अथाह एवं बिकराल विरह व्यथा को कौन दूर कर सकता है। प्राणी मात्र को प्रिय ऐसी कामिनी निद्रा भी मेरा दुख देख कर आंखों से जाती रही। दीपक की शिखा के समान मेरा मस्तक इधर उधर भटक रहा है। मेरा शरीर एक क्षण मात्र के लिये भी स्थिर नहीं रहता। इसलिये हे ज्योतिषी जी ! अपना ज्योतिष देखकर बताओ कि पतिदेव (चेतन) का मुझ से कब मिलाप होगा ॥१॥

विशेष—बहुत से ऐसे भी जीव देखने में आते हैं जिनको अध्यात्म रुचि तनिक भी नहीं होती पर वे बहुत गंभीर व समभावी होते हैं, पर जब तक आत्मा का आश्रय नहीं मिलता उन्हें वास्तविक समता नहीं कही जा सकती। व्यक्ति समता युक्त हो, अध्यात्म भी हो, किन्तु आत्मानुभवका आश्रय न मिला हो तो उसमें स्थिरता नहीं आ सकती है।वह दीपक की शिखा समान अस्थिर रहता है।

चन्द्रमा अस्तंगत है, तारे टिमटिमा रहे हैं। बिजली तलवार की भांति चमक रही है। अपने स्वजन के बिना रात्रि और कामदेव मिलकर, हे प्यारे चेतन स्वामी ! मुझे वेग पूर्वक दगा देने को उद्यत हो रहे हैं अर्थात् ऐसी उद्दीपक सामग्री मुझे प्रियतम की बहुत याद दिला रही है॥

जो मै अशुद्ध चेतना हूं तो कामोद्दीपन के कारण कामदेव मेरा सज्जन है किन्तु मैं तो शुद्ध चेतना हू इस लिये कामदेव मेरा सज्जन नही है। अन्धेरी रात, तारा दामिनी तलवार धारण किये हुये मुझे कामोद्दीपन रूप दगा देना चाहते है।"

यह हँस रूपी जीव उड नही सकता क्योकि तन रूपी पिजड़े मे कैद है। इसलिये इसमे पड़ा पडा कष्ट भोग रहा है। बिरह रूपी अग्नि की ज्वाला वेग से जल रही है। इस ज्वाला से पंख तो सर्वथा मूल से ही जल गये है। इसलिये हे प्यारे चेतन! मै तो उड के भी आपके पास नही आ सकती हूं ॥३॥

इस पद के अर्थ का सारांश श्री ज्ञानसारजी महाराज के अनुसार यह है—'हे सखि! मै शुद्धात्मा से मिलना चाहती हू किन्तु मिलाप होता न दिखने से शरीर रूप पीजरे में पडा यह जीव अत्यन्त कष्ट पा रहा है।"

श्वासोश्वास बढे हुये है। ज्यो ज्यों रात बढती है त्यों त्यों श्वास-प्रश्वास की गति भी बढती है। मानो रात और श्वास मे परस्पर होड लग रही है। हे प्यारे चेतन! मनाने पर भी श्वास की तीव्रता नही मिटती और लडाई ठाने हुये रात पीछे नहीं हटती है ॥४॥

श्री ज्ञान सारजी महाराज के अर्थ का साराश यह है—

उनका पाठ है—'उसासा से वटाऊ कोरे, वाद वदे निसि राड।

न मने ऊसा सामनी, हटके न रयणी मांड ॥'

श्वासोश्वास रूप वटाऊ तेज गति से चलने वाले घुमक्कड मे व रात्री मे वाद चलता है। आत्मा सोपक्रमी आयुष्यवाली है उसकी सातों ही प्रकार से आयु-स्थिति टूटने वाली है। चेतना विचारती है कि अन्त समय मे शुभ परिणाम होय तो आत्मा से मिलन हो सकता

है परन्तु आत्मा की अशुभ आयु स्थिति पहले ही बंध हो चुकी है, अतः मरण समय अशुभ ही परिणाम आवेगे। अशुभ परिणामी आत्मा से शुद्ध चेतना का मिलाप असंभव ही है। सात प्रकार के उपक्रम में से कोई भी एक उपक्रम लगा कि आयु स्थिति टूटी। इसलिये श्वासोश्वास को मनाती है किन्तु हठग्राही पन से श्वासोश्वास ने रात्रि मे आत्मा को उस गति में नही रहने दिगा ॥

इस प्रकार जिस का गृह स्वामी अशुद्धोपयोग में रमण करता है, उस स्त्री के भाग्य मे सुख कहां ? वह तो पति की स्थिति से उदास रहती है। (फिर भी आशा करती है) आनंद के घन परमानदी प्रभु (चेतन) स्वभाव रूप निज घर मे आकर हर प्रकार से मेरी गुणस्थानारोहण रूप आशा पूरी करेगे ॥५॥

उपालम्ब **२८** **राग-सारंग**

साखी— आतम अनुभव फूलकी, नवली कोऊ रीति।
नाक न पकरै वासना, कान गहै परतीति ॥

अनुभौ नाथ कुं क्युं न जगावै।
ममता सग सुचाइ अजागल थनतै दूध दुहावै॥अनु०॥१॥
मेरे कहै तै खीज न कीजै, तुंही असी सिखावै।
बहुत कहे ते लागत ऐसी, आंगुली सरप दिखावै॥
अनु०॥२॥
औरन के रंग राते चेतन, माते आप बतावै।
"आनंदघन" की समता आनंदघन वाके न कहावै॥
अनु०॥३॥

पाठान्तर–रीति = रीत (इ.उ)। परतीत = परतीत (इ.उ)। सुचाई = सुवाइ (आ), सुपाइ (इ), सुहाई (उ), सोपाय (क बु.वि.)। कीजै = कीजइ (आ)। असी = इसी (अ), येसी (उ)। ऐसी = असी सी (आ), इसी सी (अ),

एसी (उ)। आगुलि = अंगुली (क.बु), अँगुली (वि)। सरप = सरग (आ.उ)। औरन..........बतावै = औरन रंगि राते चेतन, माते आप बतावै (इ), जो औरन के रंग राते चेतन, माने आप बतावै (उ), औरन के संग राचे चेतन, चेतन आय बतावै (क.बु.वि)। माते........बतावै = 'माटे आंख बतावै', एसा पाठ भी एक प्रति मे मिलता है। समता = सुमता। (उ), सुमति (क.बु.वि)। आनदघन........कहावै=आनन्दघन की सुमति आनन्दा, सिद्ध सरूप कहावै (इ.क.बु.वि)।

शब्दार्थ—नवली = नई, नवीन। वासना – गंध। परतीति = प्रतीत, दृढ विश्वास। सुचाइ = इच्छा पूर्वक, भली प्रकार। अजागल थन तै = बकरी के गले के स्तन से। खीज = क्रोध। माते = मतवाला।

अर्थ– आत्मानुभव रूप पुष्प की कुछ नवीन ही रीति है। पुष्प की सुगन्ध नाक को आती है, परन्तु कान को नहीं आती। फिर भी कान अनहत नाद सुनकर प्रतीति करने लगता है कि आत्मानुभव पुष्प खिला है॥साखी॥

कितनी प्रतियों मे "कान न गहै परतीत" पाठ है। उसका अर्थ होता है–न कानो को शब्द सुनने मे उसकी प्रतीति होती है क्यों कि आत्मा को आखे देख नही सकती, न त्वचा स्पर्श कर सकती अर्थात आत्मा किसी भी इन्द्रिय द्वारा जाना नही जा सकता। यह इन्द्रियातीत है। यह स्वय के द्वारा जाना जाता है। जैन दार्शनिकों ने इन्द्रिय द्वारा होने वाले ज्ञान को इंन्द्रिय–प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है।

जैन विचारकों (दार्शनिकों) ने "सम्यक् दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्ग." कहा है। यह सूत्र श्री उमास्वाती के तत्वार्थ सूत्रका पहला सूत्र है, जिस का अर्थ है – सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चरित्र–ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन है। कही कही ज्ञान क्रिया को मोक्ष का साधन कहा है। उसका भी तात्पर्य यही है क्यों कि सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन का अन्योन्याश्रित संबंध है।

जहां एक होगा वहा दूसरा अवश्य होगा ये एक दूसरे को छोडकर नही रह सकते, परन्तु सम्यक् चारित्र के साथ उनका साहचर्य नितांत आवश्यक नही है। इसलिये सक्षेप मे ज्ञान–क्रिया (चारित्र) को मोक्ष का साधन कहा है। तप को भी मुक्ति का साधन माना है। इसलिये नवपद मे उसे भी स्थान मिला है।

जिस प्रकार दर्शन का समावेश ज्ञान में हो जाता है, उसी प्रकार तप का समावेश चारित्र मे हो जाता है। इसलिये संक्षेप में ज्ञान व क्रिया को ही मोक्ष का साधन कहा है। जीव को संसार में फँसाने वाली भी दो ही वस्तुयें है, व तारनेवाले भी दो ही वस्तुयें है। दर्शनमोह और चरित्रमोह–ये दो जीव को संसार में पारेभ्रमण कराते है एवं ज्ञान व क्रिया ये दो तारते है। दर्शनमोह दृष्टि को विगाडता है व चारित्रमोह आचार को। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि, यह कहावत प्रसिद्ध है। दृष्टि विगडती है तो सृष्टि–आचरण अवश्य विगडजाता है। उसी प्रकार दृष्टि सुधरती है तो सृष्टि भी सुधर जाती है, चाहे उसमे विलम्ब लगे, पर सुधरती अवश्य है। इसलिये मोह दृष्टि ससार का हेतु है व ज्ञान दृष्टि मुक्ति का हेतु है ज्ञान दृष्टि प्राप्त होने पर क्रिया की शुद्धि आवश्यक है उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञान ही मुक्ति का प्रधान हेतु है।

इसलिये सुमति कहती है-हे मित्र अनुभव ! आप नाथ को सचेत क्यो नही करते। उन्हें ममता का साथ बहुत ही सुहावना लगता है किन्तु उसका साथ बकरी के गले मे लटकते हुए स्तनों से दूध निकालने के समान है।

आपके परम मित्र चेतन के लिए मै जो बार-बार यह कहती हूं इससे आप नाराज मत होना, क्योकि आपने ही यह शिक्षा दी थी कि चेतन के लिए ममता के सग मे कुछ सार नहीं है। मै तो

चेतनजी (स्वामी) को अनेक बार कह चुकी हूं तो सर्प को अंगुली दिखाने तुल्य, उन्हें अत्यन्त अप्रीतिकर लगता है ॥२॥

अन्य विजातीय पदार्थों में चेतन रस ले रहा है यह उसकी उन्मत्त दशा अपने आप ही बता रही। ('माते' के स्थान पर चेतन पाठ भी है-इसका अर्थ होगा कि सांसारिक भोगों में अचेत होकर भी अपने को चेतन कहता है, कैसी विडंबना है)

सखि कहते हैं-आनंद के स्वरूप चेतन की वास्तविक परिणति तो आनन्द देने वाली सुमति ही है फिर आनंदघन (आनंद स्वरूप चेतन) उससे (समता से) कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते है। (कहीं "आनन्दघन की आनंदा, सिद्ध स्वरूप कहावै" पाठ है, इसका अर्थ यह होगा-'आनन्दघन चेतन का आनद तो सुमति ही है। जो चेतन को सिद्धत्व प्राप्त कराती है इसलिये सिद्धस्वरूप कही जाती है ॥३॥

प्रिय मिलन कठिनाई, खीज व उपालम्भ **२९** **राग-धन्याश्री**

अनुभौ प्रीतम कैसे मनासी।
छिन निरधन सधन छिन, निरमल समल रूप बनासी ॥ अनु० ॥१॥
छिन में शक्र तक्र फुनि छिन में देखुं कहत अनासी।
विरचन पीव आप हितकारी, निज धन झूंठ खतासी ॥ अनु० ॥२॥
तूं हित मेरो मैं हित तेरो अंतर काहे जतासी।
"आनन्दघन" प्रभु आनि मिलावो, नहि तर करो धनासी ॥ अनु० ॥३॥

वीच्च (क)। निज धन = निधन (आ), निरधन (इ. उ. क.), निर्धन (बु), निरचन (वि)। खतासी = खनासी (आ वि)। वतासी (उ)। हितू = हित (आ)। धनासी = धन्यासी (इ. उ)।

शब्दार्थ—मनासी = मनावेगा, प्रसन्न करेगा। सधन = धन सहित। ममल = विकार युक्त। वनासी = वनावेगा। अनासी = अविनाशी। शक्र = इन्द्र। धनासी = विदा होवो। गायन करनेवाले को जब विदा देनी होती है तो 'धन्याश्रीकरो' कहा जाता है। राग रागनियो मे भी अंतिम स्थान 'धनाश्री' राग का है।

अर्थ—श्री ज्ञानसारजी ने इस पद का अर्थ किया है उसका सारांश यह है—"आत्मा को पुद्गल में लोलीभूत अशुद्धोपयोगी देखकर अनुभव से शुद्ध चेतना कहती है।

हे अनुभव ! पतिदेव (चेतन) किस प्रकार प्रसन्न होंगे ? अपना कहना कैसे मानेगे ? मन के वस वर्तते हुये क्षण में ज्ञानदर्शन रहित निर्धन, उसी भांति क्षण मे ज्ञानदर्शन सहित धनवान, फिर क्षणमे ही निर्मल स्वरूपी ज्ञानी और क्षण मे अनंतानुबंधी के उदय से से महा मैला रूप दिखाते है। ऐसे बहुरंगी चेतन को हे अनुभव ! कैसे मनाया जाय ॥१॥

क्षण मे यह आत्मा अपने को इन्द्र जैसा समर्थवान मानने लगता है, अर्थात षट् द्रव्य मे मेरे जैसा कौन है ? यह महानता धारग करता है और क्षण मे तक्र जैसा-छाछ जैसा निसत्व वन जाता है।

यहाँ श्रीज्ञानसारजी महाराज लिखते है—"आगे के पद का किंचित अर्थ भासता तो है पर रहस्यार्थ सहित पूर्णरूप से नही भासता। इसलिए नही लिखा। 'शतवद एको मा लिख,' कोई बात लिखने के पहले बहुत विचार करना चाहिये। फिर इन कविराज आनन्दघन जी का आशय अत्यन्त गंभीर होता है परन्तु इन पदों के

शुद्धाशुद्ध अक्षरों के समझे विना अर्थ किसका किया जावे। जब ऐसे महान पुरुष ही आशय को नही जान सके तो मेरे जैसे अल्पज्ञ की क्या बिसात है। पर जो कुछ समझा है वह लिख देना ही उचित समझता हूँ। विचारक लोग ठीक समझें तो ग्रहण कर सकते है।

चेतना कहती है कि चेतन अपने को क्षण मे इन्द्र जैसा महान समझने लगता है तो क्षण में तक्र जैसा निसत्व वन जाता है, अथवा तक्र के स्थान पर वक्र पाठ रखें तो अर्थ—टेढा व कुटिल हो जाता है। इस भान्ति क्षण क्षण में यह अनेक भाव पलटता दिखाई पडता है। पर संसार से विरक्त ज्ञानियों ने इसे अविनाशी, नित्य व वासना से मुक्त रहने वाला कहा है जो सर्वदा स्वभाव से अपना हित ही करता है किन्तु विभाव परिणामी होने पर यह अपनी ज्ञानादि सम्पति को विपरीत परिणमन करके खोटे खाते खतग्ता है अर्थात अज्ञानवश संसार बधन का खाता खताता रहता है। 'विरचन' पाठ काइस प्रकार अर्थ किया जा सकता है। 'अपने भावो का विरचन-निर्माण करने के बीज इसी मे है, अपना हित आप स्वय ही करने वाला है और विभाव दशा मे अपने आत्मिक धन को पौद्गलिक खाते मे लगा कर अपने अक्षय सुख से विमुख भी स्वयं ही होता है' ॥२॥

समता अनुभव से कहती है - हे अनुभव ! तू मेरा हित (भलाई) चाहने वाला है और मै तेरा हित करने वाली हूँ। तुझ मे और मुझमें क्या अन्तर है - क्या भेद है, मुझे वता। जहां सुमति, सद् वुद्धि, समता, शुद्ध चेतना, ज्ञान चेतना होती है, वहां अनुभव होता ही है। हे अनुभव तेरा मेरा इतना घनिष्ट सबंध है फिर भी तू विलम्ब कर रहा है। अव कृपा कर आनंद के घन (समूह) सामर्थवान आत्माराम को मुझसे शीघ्र मिलाओ अन्यथा यहां से विदा हो। मै और कुछ नही चाहती हूं। (समता ने निराशा व खीज मे यह

वाक्य कहा है -"विदाहो"। दुखी अर्थीजन आवेश में उचित अनुचित का विचार नहीं करते।

विरहोद्रेक व अनुभव धैर्यदान ३० राग—गौडी

मिलापी आन मिलाओ रे मेरे अनुभव मीठडे मीत ॥
चातिक पिउ पिउ करै रे, पीउ मिलावे न आन।
जीव पीवन पीउं पीउं करै प्यारे, जीउ निउ आन अयान ॥मि०॥१॥

दुखियारी निस दिन रहूं रे, फिरूं सब सुधि बुधि खोइ।
तनकी मनकी कवन लहै प्यारे, किसहि दिखावुं रोइ ॥मि०॥२॥

निसि अंधियारी मोहि हंसैरे, तारे दांत दिखाय।
भादु कादुं मइं कीयउ प्यारे, अंसुअन धार बहाय ॥मि०॥३॥

चित चाकी चिहू दिसि फिरैरे, प्रान मैदो करै पीस।
अबला सइं जोरावरी प्यारे, एतो न कीजै ईस ॥मि०४॥

आतुरता नहीं चातुरी रे, सुनि समता टुक बात।
"आनन्दघन" प्रभू आइ मिलेंगे आज घरे हर भांत ॥मि०॥५॥

पाठान्तर—चातिक = चातक (इ.उ)। पिउ पिउ करैरे = पिउ पिउ पिउ करहरे (अ), पीऊं पीऊं करैरे (इ), पीउं पीउं करेरे (उ)। मिलावै = मिलाव (इ)। करै = करइ (आ), करे (उ)। आन अयान = आन अपान (अ), आतंए आन (इ), आरा, अजाए (उ) दुखिआरी = दुखी आरी (अ)। सुधि वुधि = सुद्धि बुद्धि (आ)। खोइ = खोय (इ, उ)। कवन = कवहुन (इ), कवन (उ)। लहै = लहइ (अ), लहु (इ)। प्यारे = वारे (उ)। किसहि.....रोइ = कैसे दिखाउं रोय (इ. उ)। मोहि हंसैरे = मोहि हसइरे (अ. उ), मुहि हसैरे (इ)। तारे = तारइ (आ) मइ = मे (इ.उ)। कीयउ = कियो (इ), कीयो (उ)। वहाय = वहाइ (अ आ)। चाकी = वाको (इ. उ)। फिरैरे = फिरइरे (अ आ)। प्रान = मान (अ)। करै पीस = करइ पीसी (आ), करपीस (इ) करे पीस (उ) सइं = सूं (इ), से (उ)। कीजै = कीजइ (आ), ईस = रीस (इ.उ)।

प्रान''''पीस = प्रण मे दो करे पीस (क), प्रण मे दो कर पीस (त्रु)। आतुरता ''''''''चातुरीरे = आतुर चातुरता नही रे (इ)। मिलेगे = मिलेगे प्यारे (इ.उ) घरे = घरि (आ), घरी अ.उ), घरें (क)। हर = हरि (अ)।

शब्दार्थ—=मिलापी = मिलाने वाला। मीठड़े मीत = स्नेही मित्र। आन = आकर। पीवन = पीने के लिये। जीउ निउ = प्राणधन (जीउ = प्राण, निउ = नीव)। कवन = कौन। कादूं = कीचड़।

अर्थ—सुमति कहती है–हे मेरे परम हित चिन्तक मिलापी मित्र अनुभव ! कृपा कर मेरे प्रियतम (चेतन) को लाकर मुझसे मिलावो।

यह पपीहा पिउ पिउ कर रहा है किन्तु पिउ (पति) को लाकर मिलता नहीं। यह तो मेरे प्राण पीने के लिये ही पिउ पिउ करता है और मेरे जीवन धन को ला नहीं सकता।

प्रियतम विना मै दिन रात दुखी रहती हूं। अपनी सव सुध बुध खोकर इधर उधर भटक रही हूं। मेरे तन मन की पीड़ा (दुख) को कौन समझ सकता है फिर रोकर भी किसको अपनी दशा दिखाऊं ॥२॥

अंधेरी रात में तारे चमक रहे है वह ऐसे लगते है मानों रात दांत दिखलाकर मेरी हंसी (मजाक) कर रही है। (विरह व्यथा से दुखित) मैं आँसूओं की धारा वहाकर अपने समीप भाद्रपदमास के समान कीचड़ कर लिया है ॥३॥

मेरी चित्त रूपी चक्की चारों तरफ घूम रही है जिसने मेरे प्राणों को पीस कर मैदा (वारीक आटा) वना दिया है। इसलिये हे प्रियतम ! हे प्रभो ! मुझ अवला से इतनी जवरदस्ती मत करो–ऐसी ज्यादती मत करो ॥४॥

समता को इस प्रकार अत्यन्त खेद खिन्न देखकर अनुभव उसे आश्वासन देता है–हे सुमते ! जरा मेरी बात सुन, धैर्य रख। इस तरह व्यथित होने और घबडाने मे बुद्धिमानी नहीं है। जल्द बाजी से काम नहीं बनता है। आनंद घन प्रभु शीघ्र ही अपने घर आकर हर प्रकार से तुझ से मिलेगे ॥५॥

विरह में प्रतीक्षा व अनुभव का आश्वासन **३१** **राग–केदारो**

निसि दिन जोवु ं बाटडी, घरि आवरे ढोला ।
मुझ सरीखे तुझलाख है, मेरे तुं ही ममोला ॥नि०॥ १
जोहरि मोल करे लाल का, मेरा लाल अमोला।
जिसके पटन्तर को नहीं, उसका क्या मोला ॥नि०॥२॥
पंथ निहारत लोअनै, टग लागी अडोला ।
जोगी सुरति समाधि मै, मानो ध्यान झकोला ॥नि०॥३॥
कौन सुणै किसकु ं कहूँ, किसै मांडु खोला ।
तेरे मुख दीठै टलै, मेरे मनका झोला ॥नि०॥४॥
मीत विवेक कहै हितूं, समता सुनि बोला ।
"आनंदधन" प्रभू आवसी, सेजडी रंग रोला ॥नि०॥५॥

पाठान्तर—जोवु ं = जोवु ंथारी (इ.उ) । घरि = घर, (इ)घेर (उ) । आवरे = आवोरे (इ), आवोजी (उ) । सरीखे = सरिखा (इ.उ) । तुझ = तोरे (उ) । ममोला = मामोला (अ), अमोला (उ) । जोहरि = जौहरी (अ), जौहरी (इ), जु ंहरी (उ) । मेरा = मेरे (उ) । लाल = मोल (आ) । अमोला = अमूला (उ) । जिसके = जिसकइ (आ) निहारत लोअने = निहारी लाअनै (अ), निहारत लोयनै (इ) निहालति लोयणे (उ) । टग = द्दग (उ) । सुरति = सूरति (उ) । मैं = रो (उ) । मानो = मुनि (उ) । कौन = कोण (अ) । किसै = केम (इ) । मनका = मनकी (उ) । झोला = चोला (इ) । सनता = सुमता (उ) । आवसी = आवसे (इ उ) ।

शब्दार्थ—जोवुं = देखना । वाटडी = वाट, रास्ता, राह । ढोला = प्रियतम, पति । सरीखे = समान । ममोला = ममत्व के स्थान, प्रिय । पटंतर= बराबर । लोअनै = नेत्र । झकोला = मस्ती । मांडु खोला = आंचल पसारु- फैलाऊं । झोला = गोटाला, चंचलता । रंगरोला = रंगरेलियां, चहल पहल ।

अर्थ—सुमति कहती है-हे प्रियतम चेतन ! मै आपकी रात दिन राह देखती रहती हूं। हे स्वामी ! अब तो आप अपने घर पधारिये। (विभाव दशा को छोड़कर स्वभाव दशा में आइये) मेरे जैसी तो आपके लाखों है अर्थात् माया ममता, रति अरति कुटिलता वक्रता आदि लाखों विभाव दशायें है किन्तु मेरे तो आप अकेले ही प्रिय भाजन है-प्रेम के स्थान है ॥१॥

जौंहरी अपने लाल का-माणिक आदि रत्नों का मूल्य आंकता है-करता है किन्तु मेरा लाल तो अमोलख है जिसका कोई पारखी मूल्य नहीं कर सकता। मेरा ज्ञान दर्शन चारित्र रूप लाल चेतन स्वामी तो अमूल्य है। उसका कोई मूल्य नही लगा सकता वह तो अमोल है। उसके बराबर कोई भी वस्तु नही है फिर उसकी क्या कीमत हो ॥२॥

अडोल-अनिमेष आंख से-दृष्टि से-टकटकी लगाकर मैं उसकी खोज मे मार्ग को इस प्रकार देखती रहती हूं जिय प्रकार योगी ध्यान की मस्ती से समाधि में एकाग्र-लीन हो गया हो। मैं आप ही के ध्यान मे स्थिर चित्त रहती हूं ॥३॥

सुमति चेतनदेव से कहती है-हे स्वामी ! आपके सिवा मैं अपना दुख किससे कहूं मेरी व्यथा कौन सुनने वाला है, मैं किसके आगे अपना अंचल फैलाऊं। हे स्वामी ! आपके मुख देखने से ही मेरे मन की चंचलता दूर होगी। अर्थात आप मेरे पास रहेंगे तो मै शांत रहूंगी-आनंद मे रहूगी ॥४॥

सुमति की ये विरह व्यथा युक्त बाते सुनकर उसका परम हितैषी मित्र (अनुभव) उसे आश्वासन देते हुये बोला–हे सुमते ! मेरी बात ध्यान से सुन, तेरे भरतार आनंदघन चेतन स्वामी अवश्य आवेगे और स्वभाव रूपी शय्या पर आनद रूप रगरेलियाँ करेगे। मेरी बात का विश्वास रख ॥५॥

विरह व्यथा-उद्गार और अनुभव का आश्वासन — ३२ — राग–मारू

पिया बिन सुधि बुधि मूंदी हो।
विरह भुयंग निसा समै, मेरी सेजडी खूंदी हो ॥पिया०॥१॥
भोयन पान कथा मिटी, किसकूं कहूं सूधी हो।
आज काल्ह घर आवन की, जीउ आस विलूंधी हो ॥पिया०॥२॥
वेदन विरद अथाह है, पाणी नव नेजा हो।
कोन हबीब तबीब है, टारै करक करेजा हो ॥पिया०॥३॥
गाल हथेली लगाइ कै, सुर सिंधु समेली हो।
अँसुवन नीर बहाय कै, सींचू कर बेली हो ॥पिया०॥४॥
श्रावण-भादू घन घटा, बिच बीज झबूका हो।
सरिता सरवर सब भरै, मेरा घट सर सूका हो ॥पिया०॥५॥
अनुभव बात बनाइकै, कहै जैसी भावै हो।
समता टुक धीरज धरो, 'आनंदघन' आवै हो ॥पिया०॥६॥

पाठान्तर—पिया = पीया (आ)। बिन = विनु (आ)। सुधिवुधि सुधबुध (अ) शुद्धिवुद्धि (इ)। मूंदी = मुंदी (आ)। समै=समइ (अ), समे (उ)। खुंदी = खुंदी (आ, उ)। भोयन = भोअन (अ), भौअन (इ), भोजन (उ)। मिटी = मिटे (उ)। सूधी = सधा (आ) आज = आजि (अ)। काल्ह = कालि (अ)। काल (इ, उ)। आवनकी = आनकी (इ)। जीउ = जीय (इ) विलूधी

= विलूंधा (उ)। अथाह है = अथाह हे (उ)। हवीव तवीव = तवीव हवीव (इ), हवीव तवीव (उ)। सुर = सर (इ). सिर (उ)। समेली = सुमेली (उ)। वहाय = वहाइ (अ)। सीचू = सींचौं (आ) सींच्यौ (उ) श्रावण भादु = सावण भादू (इ), श्रावण मास (उ) विच = विचि (अ), विच (इ) वीच (उ) सरिता ....भरे = सलिता सरस वहैं भरे (आ), सलिता सरवर सव लहै (उ), पपही पिउ पिउ लवइ, जाणौ अमी लवूका हो (अ) सर = रस (उ)। वनाइ = वनाय (इ. उ.) कहै = कहइ (अ), कहे (इ)। वरौ = घरउ (आ)।

शब्दार्थ - मूंदी हो = मंद हो गई, ढंक गई है। सुधि वुधि = होश हवास, चेतना। भुयंग = भुजंग, सर्प। समै = समय। सेजडी = शय्या। खूंदी हो = पैरों से रोंदना, पैरों से दवा दवा कर अस्तव्यस्त करना। भोयन = भोजन कथा = वात। सूधी = सीधी, सच्ची। जीउ = जीव, प्राण। आस = आशा। विलूंधी = नष्ट हो गई, लुप्त हो गई। नवनेजा = नौ खडे भाले की लम्बाइ जितना गहरा, नौ रस्से की लम्बाई जितना गहरा। हवीव = मित्र। तवीव = हकीम, वैद्य, चिकित्सक। करक = कसक, रुक रुक कर होने वाली पीडा। सुर सिन्धु = दुख स्वर का समुद्र, शोक समुद्र। समेली हो = मिल गई, डूव गई। कर वेली = हाथ रूपी वेल। वीज = विजली। झवुका हो = चमकती है। सरिता = नदी। सर = तलाव।

अर्थ—सुमति कहती है—पति देव (चेतन स्वामी) विना मेरी सुधि-वुधि अच्छादित हो गई है अर्थात् मेरे होश हवास गुम हो गये है—खो गये है। मेरा सुमतिपना मद हो गया है। रात्रि के समय विरह रूपी सर्प ने मेरी शय्या को रोंद करअस्त व्यस्त कर दिया है। चेतन की विभाव दशा ने यह भयंकर दशा उत्पन्न करदी ॥१॥

खाने पीने की वात ही जाती रही। किसे खाना पीना अच्छा लगता है? अपनी व्यथाकी सीधी सच्ची वात किस पर प्रगट करूं? आजकल में ही घर आने की वात थी, वह सव आशा मेरे मन से लुप्त हो गई। अर्थात् चेतन देव स्वामी के आजकल में ही

अपने घर (निज स्वभाव मे) आने की बात थी किन्तु उनके निजभाव मे न आने से वह सब आशा विलुप्त हो गई ॥२॥

नौ नेजा गहराई के समान मेरी विरह वेदना अथाह है। ऐसा कौनसा मित्र वैद्य है जो मेरे हृदय की कसक (पीड़ा) को दूर करे ॥३॥

इस पद के द्वारा योगीराज ने सद्गुरु की दुर्लभता बताई है।

गाल पर हाथ लगाकर (विचार मग्न होकर) शोक समुद्र में गोते खा रही हूं, डूब रही हूं। नेत्रों से आंसूओं को बहाकर गाल पर लगे हुए हाथ रूपी बेल को सींच रही हूं। अर्थात् अत्यन्त दुखी हो रही हूं ॥४॥

श्रावण-भाद्रपद की घनघोर घटा के बीच कभी कभी बिजली चमक जाती है। (श्रावण-भाद्रपद की घनघोर घटा रूपी विरह दशा मे चेतन की विभाव दशा मे कभी कभी मेरी ओर उन्मुख होने रूपी बिजली चमक जाती है)। ऐसे श्रावण भाद्र पद मास मे सब नदियें व सरोवर (तलाव) भर गये है किन्तु मेरा हृदय रूपी तलाव सूखा ही है। (चेतन की विभाव दशा मे अशुभ कर्म रूपी नदिये तालाव आदि तो भर गये किन्तु मेरा समभाव रूप तलाव तो सूखा ही रहा) ॥५॥

सुमति को इतनी दुखित देखकर उसका परम हितकारी मित्र अनुभव सुमति की इस विरह दशा के दुख की बात चेतनराज से उसकी रुचि अनुसार अनुकूल भाव से, अवसर देखकर कहता है और उसे समझाता है। समझाने के पश्चात् अनुभव को आशा होती है और वह सुमति के पास आकर कहता है–हे सुमते ! तनिक धैर्य रखो, आनन्दघन प्रभु अब (तेरे पास) आने वाले ही है॥६॥

विरह में प्रेमदशा व अनुभव का आश्वासन ३३ राग-काफी

हठीली आंख्या टेक न मिटै, फिरि फिरि देखन चाहुं ॥
छैल छबीली पिय सबी, निरखत तृपति न होइ ।
हठकरि टुक हटकै कभी, देत निगोरी रोइ ॥ह०॥१॥
मांगर ज्युं टगाइ कै रहो, पिय सबी कै द्वारि ।
लाज डांग मन मै नहीं, कानि पछेवडा डारि ॥ह०॥२॥
अटक तनक नहीं काहू की, हटकै न इक तिल कोर ।
हाथी आप मतै अरइ पावै न महावत जोर ॥ह०॥३॥
सुनि अनुभव प्रीतम विना, प्रान जात इहि ठांहि ।
हैज न आतुर चातुरी, दूर 'आनंदघन' नांहि ॥ह०॥४॥

पाठान्तर—आख्या = आखें (अ) । टेकन = टेकनि (अ) मिटै = मेटै (इ. उ) । चाहु = जाहुं (अ), जाई (इ), जाय (उ) । छैल = छयल (इ. उ) । छबीली = छबीला (आ) । सबी = छबी (उ) तृपति = तृपत (अ) । हठ = हट । (आ) हटकै = हठकै (अ. इ. उ) । 'कभी' यह शब्द 'इ, प्रति मे नही है । मागर = मारग (आ) । टगाइ = टगाइ (अ), दुंगांय (इ.उ) । डांग = डाग (आ) मन मैं = मानै । पछेवडा = पचछेरा (अ), पिछेडा (इ) पिछेवडा (उ) । डारि = टारि (आ) । डार (इ) । टार (उ) । तनक = तटक (आ), तनेक (उ) । इक तिल = नहि तिल । मतै = मतइ (अ) । अरइ = अरै (इ), यरे (उ) । पावै = पावइ (आ) । महावत = मावत (इ.उ) । इहि = इन (आ), नवि (इ) । ठांहि = ठावहि (आ), आहि (इ) । हैज न = हर्जान (इ.उ) । आतुर चातुरी = चांतुर आतरी (इ) । दूर = दूरि (अ.उ) ।

शब्दार्थ—टेक = जिद, हठ । सबी = तसवीर । हटकै = हटाना, मना करना । मांगर = मकर, मछली । डांग = लकडी, डंडा । कानि = मर्यादा । पछेवडा = ओढने का चादरा । ठांहि = स्थान ।

अर्थ—सुमति की हठीली आंखे अपनी हठ (जिद) न छोड रही है, वार वार प्रियतम को देखना चाहती है।

अपने मौजी प्रियतम की सुन्दर छवि को देखते हुये तृप्ति नही होती है। यदि जवरदम्ती से रोका जाता है तो ये निगोड़ी आंखें रो देती है ॥१॥

जल वियोग होने पर (काँटे मे फंसी हुई) मच्छलो की दृष्टि जिस प्रकार पानी की ओर लगी रहती है, उसी प्रकार मेरी दृष्टि प्रियतम के द्वार की ओर लगी रहती है। मुझे प्रियतम की छवि की ओर देखने मे किसी की लज्जा रूप डडे का मन मे भय नही है। और मैने मर्यादा रूप चादर को उतार कर अलग डाल दिया है ॥२॥

अव किसी की जरा भी रोक नही है इसलिये ये हठीली आंखे एक तिल भर तो क्या, तिल के अग्रभाग जितना भी हटना नही चाहती है। हाथी जव अपन मते (मन माना) हो जाता है तव महावत के अंकुश का जरा भी वश नही चलता है ॥३॥

हे अनुभव मित्र! मेरी स्पष्ट वात सुनलो, प्यारे प्रियतम के विना मेरे प्राण इस ही स्थान पर यह देह छोड देगे। यह सुनकर अनुभव राज कहते है—हे सुमते! जल्द वाजी करना बुद्धिमानी नही है। तू धैर्य रख—विश्वास रख कि आनंदघन चेतन तेरे से दूर कहां है? अर्थात् दूर नही है ॥४॥

इस सम्पूर्ण पद मे आध्यात्म अर्थ भरा पडा है। चित्त वृत्ति रूपी हठीली आंखें शुद्ध चैतन्य स्वरूप प्रियतम की ओर लगरही है।

विरहोद्रेक व अनुभव का धैर्यवान **३४** **राग—वसंत***

भादुं की राति काती सी बहइ, छातीय छिन छिन छीन ॥

---

*अलग अलग प्रतियो मे अलग अलग राग है। 'अ' प्रति मे 'नटमल्लार' 'आ' प्रति मे 'वसत,' 'इ,उ' और मुद्रित प्रतियो मे 'धमाल' है।

प्रीतम सवी छबि निरख कइ, पिउ पिउ पिउ पिउ कौन ।
वाही चवी चातिक करै, प्राण हरण परवीन ।।भा०।।१।।
इक निसि प्रीतम, नाउकी, विसरि गई सुधि नीउ ।
चातक चतुर चिता रही, पिउ पिउ पिउ पीउ ।।भ०।।२।।
एक समइ आलाप कै, कीन्हइ अडानै गाव ।
सुघर पपीहा सुर धरइ, देत है पीउ पीउ तान ।।भा०।।३।।
रात विभाव विलात ही, उदित सुभाव सुभानु ।
समता साच मतइ मिलै, आए 'आनंदघन मानु ।।भा०।।४।।

पाठान्तर—छातीय – छाय (अ), आ छातीय (आ) छिन = छिन्न (उ) । सवी छवि – छवि सवि (इ). छवि सव (उ) । निरख कइ – निरखि के हो (इ), निरखि कहै (उ) । 'पिउ' शब्द 'अ' प्रति में तीन वार ही है । चवी=वाची (अ), वची (इ) विच (बु. वि)। चातिक=चातक (इ) । करै=करइ (अ), करैहो (इ. उ)। हरण – हरै (उ) । परवीन – परचीन (उ)। चिता – विना (बु. वि) । पिउ''' पीउ = पिउ३ पीउ (अ) । समइ – सामो (इ), समै (उ) । कै = कइ (अ), कै हो (इ), के है (उ) । कीन्हइ – कीन्हे (अ), कीनै (इ. उ) । पपीहा – वपीहा (अ. आ) । धरइ – धर हो (इ.उ) । देत है= देत हइ (अ), देत हे (इ), देत हो (उ) पीउ पीउ = पिउ पिउ (अ) पीऊ पीऊ (इ) । रात = राति (आ) । ही = है (आ), ही हो (इ. उ) । मतइ मिलै – मतइ मिलइ (अ), मतै मिलै हो (इ. उ) । आए – आइ (अ) ।

शब्दार्थ—काती = कटार, करोत, आरा । वहई = वहती हैं, लगती है । छातीय = सीना, छाती । छिन छिन – क्षण क्षण मे । छीन = क्षीण करती है, छील डालती है । चवी = कथन, वोली, शब्द । नाउकी – नाम की । विसरि गई=भूल गई । सुधि = स्मृति । नीउ = नीव से ही, मूल से ही, विल कुल ही । आलीपकै – आलापलागा कर । अडाने = आडे समय पर, बेवक्त, दुख के समय पर । (यह मराठी शब्द है) । रात 'विभाव विलात ही = विभाव

रूपी रात्रि के विलीन होने पर। उदित सुभाव सुभानु = स्वभाव रूपी सूर्य का उदय होगा। साच मतइ = सच्चे हृदय से, सचमुच, सत्य ही, सम्यक् ज्ञान पूर्वक। मानु = मानो, जानो।

अर्थ—सुमति कहती है कि प्रिय चेतन स्वामी की विभाव दशा रूप भाद्रपद की घनघोर अंधेरी रात्रि मेरी छाती को क्षण-क्षण में करोत के समान छेद रही है—विदीर्ण कर रही है।

प्रिय चेतन की छटा (शोभा) देखकर हृदय प्रेम से विभोर हो उठता है और मुख से "पिया, पिया" शब्द निकल पडता है। पपीहा भी 'पिउ पिउ' शब्द ही बोला करता है। इससे विरहणी को पति की स्मृति ताजा हो जाती है। इसलिए कवियों ने उसे (पपीहे को) वियोगनियों के प्राण हरण करने में चतुर कहा है ॥१॥

एक रात्रि को प्रियतम के ध्यान में मैं ऐसी तल्लीन हुई कि प्रियतम के नाम की स्मृति ही खो बैठी। हे चातक ! पिउ पिउ पिउ की ध्वनि से क्या चेतावनी दे रहा है ? मेरे हृदय मे तो पिउ (पति) ही बस रहा था, मुझे तो पति ही का ध्यान था और पति ही का विचार था, केवल मुख मे पति का नाम नही था ॥२॥

ध्यान मे बहुत बार ऐसी समाधि लग जाती है और दीर्घ अभ्यास से इस ही भांति ध्येय और ध्यान की एकता सिद्ध होती है, फिर ध्याता, ध्यान और ध्येय वे तीनों एक रूप हो जाते है।

ऐसे आडे (दु.ख) के समय किसी ने अलाप लगाकर गायन किया। जब ध्यान टूटा तो मालूम हुआ कि चतुर पपीहा मुझे ध्यान मग्न देखकर 'पिउ पिउ' की तान लगा रहा है ॥३॥

सुमति के साथ यह तान पूरने वाला मन के अतिरिक्त और कौन हो सकता है ? मन और बुद्धि जब एक दिशा में कार्यरत होते है तो सफलता निश्चित है।

सुमति को-मन के इस परिवर्तन से—अनुमान होता है कि विभाव दशा रूपी सूर्य उदय होने वाला है जिससे आनंद के समह चेतन सचमुच स्वेच्छा से आकर मुझसे आ मिलेंगे ।।४।।

आत्मानुभव रस, विरहोद्रेक, व सखि का धैर्यदान **३५** **वसंत–धमार**

साखी—आतम अनुभव रस कथा, प्याला पिया न जाइ ।
मतवाला तो ढहि परै निमता परै पचाइ ।।❀

छबीले लालन नरम कहै, आली गरम करत कहा बात ।।
मांके आगइ मामू को, कोइ वरन न करत गवारि ।
अजहू कपट के कोथरा, कहा कहै सरधा नारि ।।छबी०।।१।।
चौगति माहेल न छारही, कैसे आए भरतार ।
खानो न पीनो वात मै हसत भानत कहा हार ।।छबी०।।२।।
ममता खाट परै रमै, ओनीदे दिन रात ।
लैनो न दैनो इन कथा, भोरे ही आवत जात ।।छबी०।।३।।
कहै सरधा सुनि सामिनी, एतो न कीजै खेद ।
हेरइ हेरइ प्रभु आवही, बढे 'आनन्दघन' भेद ।।छबी०।।४।।

❀श्री ज्ञानसारजी ने इस साखी को अलग रखा है। यह आनन्दघनजी के मर्म को समझने मे एक ही है। इन्होने 'आनन्दनघ' चौवीसी पर वड़ा ही मार्मिक टव्वा लिखा है। इन्होने 'आनन्दघन वहुत्तरी' पर भी टव्वा लिखा है। केवल १४ ही पदो पर टव्वा मिलता है। या तो इन्होने १४ कठिन पदो पर ही टव्वा लिखा है या और पदो का टव्वा नष्ट हो गया हो। लोग इन्हे ल घु आनन्दघनजी कहते थे।

पाठान्तर—ढहि = ढाई (आ)। परै = परेइ (आ)। निमता परै पचाइ = निमिता परिचाइ (आ), निमता परे पचाय (इ.उ)। आली = आलीरी (इ.उ)। कहा बात = अहवान (उ)। गवारि = गवार (अ), गिवार (इ), गमार (उ)। कोथरा = कोथेरा (उ)। नारि = नार (इ.उ)। चौगति = चउगति (अ), 'इ' प्रति मे पद संख्या दो नही है। 'पीनो शब्द' के आगे बु.वि. प्रतियो मे 'इन' शब्द और है। श्री ज्ञानसारजी महाराज के टव्वे मे भी 'इन' शब्द है। रमै = रमैहो (आ)। ओनीदे = दिन दिन (आ), ओनीदे (अ), ओनीदै (इ). ऊनीदे (उi) उलीमदे (उii), और निदे (वि. बु, क)। कथा=जथा (उ)। कहै = कहइ (आ)। सामिनी = स्यामिनी (अ), सामिनी (इ)। हेरइ हेरइ = हेरै२ (इ,उ.क,बु), हरै हरै (वि)। वढै = वढइ (अ), वदे (बु.क)। (पद दूसरे मे)–हार = हाड (बु,क.वि.)।

शब्दार्थ—रस कथा = सरस कथा। मतवाला = मस्त, मताग्रही। ढरि परै = लुढक पडता है। निमता = निर्ममत्वी, मस्त न होने वाला। छबीले = शोभायमान। लालन = पति, आत्मा। गरम करत कहा बात = किस लिये मुझे गरम करती है, क्रोध दिलाती है। कोथरा = थैला। न छारही = नही छोडती है। हसत = हँसी करके। भानत कहा = किस लिये तोड़ता है। हार = हाड, हड्डी।

अर्थ—आत्मानुभव रूप रस कथा का प्याला पिया नहीं जा सकता, इसे पीना अत्यन्त दुष्कर है। जो मताग्रही लोग है जिन्हें अपने-अपने मत का महत्व है, जो सत्य को न पकडकर अपने मत का दुराग्रह रखते हैं अथवा सांसारिक मोह माया में पड़े हुए है, वे तो इस प्याले को पी नही सकते, अथवा पीकर लुढक जाते है और जो मताग्रह से रहित है—सांसारिक बातों से जिन्हें प्रीति नही है, जो मेरा, वह सच्चा, यह न समझकर, सच्चा जो मेरा, ऐसा समझते हैं, वह इस आत्मानुभव रस कथा का प्याला पीकर पचा लेते है—जीवन में उतार लेते है और अपनी आत्मा में तल्लीन हो जाते है। कोई इस

रस का इच्छुक आता है तो उसे भी पान करा देते हैं वरन् अधिकतर आत्मानंद में ही मग्न रहते है। ऐसी अवस्था में जनसाधारण को आत्मानुभव रूप रस वार्ता का पान दुर्लभ ही है ॥साखी ॥

सुमति और श्रद्धा मे वार्ता हो रही है। सुमति कहती है—हे श्रद्धे ! तू छबीले लाल को–मेरे पति चेतन को नरम कहती है और शास्त्र की साक्षी भी देती है कि आत्मा महा समरसी है पर यह तो सव निश्चय नय की वात है, किन्तु जहाँ तक विभाव दशा है वहाँ तक तो यह कषायों से तप्त है–गरम है। हे सखि ! वता, छबीले आत्माराम का मोह-ताप रूप गरम बात करने का अन्य क्या कारण है ? हे सखि ! मां के सामने मामा का–मां के भाई का गुण-दोष वर्णन कोई गँवार (मूर्ख) ही किया करता है क्योंकि भानजे की अपेक्षा उसकी वहिन उसे अधिक जानती है। इसी ही भांति हे श्रद्धे ! मै तेरी अपेक्षा अपने पति के गुण अधिक जानती हूं। तेरा तो प्रत्येक वात पर विश्वास करने का स्वभाव सा हो गया है पर मै गुण-दोष का भली भांति परीक्षण करती हूं। वह नरम-गरम जैसे भी है, मैं अच्छी तरह जानती हूं। अरे भोली ! वह अव भी कपट का थैला है। तू उसका सर्व विरति रूप देखकर उन्हे नरम कह रही है, यह तेरी भूल है। वे अव भी कपट (कषाय आदि) की गठरी वांधे हुए है। इसलिये हे श्रद्धे ! तू अपने स्त्री सुलभ स्वभाव वश ही मुझे वार-वार यह कह रही है कि छबीले लाल नरम है। मुझसे उनके लक्षण कहां छिपे है। तू तो विश्वास करना जानती है। परीक्षा करना तूने सीखा ही नही, इसलिये तू मेरे बिना अन्धी है। संसार में मेरे अभाव में तू अन्धश्रद्धा कहलाती है। यह वात सुन, श्रद्धा अव क्या कहे ॥१॥

हे श्रद्धे ! मेरे भरतार—छबीले लाल चतुर्गतिरूप महल को छोड़ नही रहे है फिर मेरे पास कैसे आ सकते है। इन विरह की

वातों मे मुझे खाना पीना कुछ अच्छा नही लगता है। हे सखि! 'लाल नरम है' इस तरह हँसी करना मेरी हड्डियों को चकनाचूर करना है। पति वियोग मे रुधिर मांस तो पहिले ही जाता रहा, तेरी इस हँसी से अब हाडों का नाश हो रहा है ॥२॥

सुमति कहती है—मेरे लाल (पति) रात दिन ममता की सेज (शय्या) पर क्रीडा करते हुए सुख मना रहे है फिर भी उनीदे ही रहते है अर्थात् रात दिन माया में लिप्त रहने से कभी तृप्त नहीं होते, हमेशा अतृप्त ही बने रहते है।

कई प्रतियों मे 'औरनिंदे दिन रात' पाठ है, जिसका अर्थ है—ममता की सेज मे अत्यन्त लुब्ध है, दिन रात उसी मोह निद्रा मे पड़े रहते है।

इन बातों में कुछ लेना देना नहीं है अर्थात् ये सब बातें व्यर्थ है। प्रातःकाल होता है और चला जाता है अर्थात् काल (समय) यों ही बीता जा रहा है ॥३॥

श्री ज्ञानसारजी ने इस तीसरे पद का रहस्यार्थ किया है उस का सार यह है—विभाव रूप रात्री के जाने पर स्वभाव रूप सूर्य के उदय होने से ही चेतन देव आवेंगे। हे सखि श्रद्धे! तेरा यह कहना कि 'लाल' नरम है, अभी आवेंगे, इस बात में कुछ सार नहीं है—कुछ लेने देने जैसी बात नही है ॥३॥

सुमति को इतनी अधीर देखकर श्रद्धा उसे आश्वस्त करती है कि हे स्वामिनी! तनिक मेरी बात सुनो, आप इतना खेद न करो। आनन्दधाम आत्माराम उद्यम करने से अवश्य आवेंगे। आप यों शोक करके बैठी रहोगी तो कुछ नही होगा। आप ममता की अनुपस्थिति (मंदता) में चेतनजी के पास जावो, उधर की निस्सारता दिखाओ। इस प्रकार प्रमाद त्यागकर सर्वदा पुरुषार्थ करती रहोगी

तो शनै शनै (धीरे धीरे) चेतन निजस्वरूप में अवश्य आजावेंगे। आपकी सफलता धीरे धीरे उद्यम में ही है। इस प्रकार स्वरूपानन्द रूप-मेद (मोटापन) की वृद्धि होगी अर्थात् आपसे (सुमति से) प्रेम बढता जावेगा ॥४॥

मनुहार व प्रिय मिलन ३६ राग--गौडी

रिसानी आप मनावोरे, बीच बसीठ न फेर ॥

सौदा अगम प्रेम का रे, परिख न बुझै कोइ।

लै दै वाही गम पडै प्यारे, और दलाल न होय ॥ रि०॥१॥

दोइ बातां जियकी करउ रे, मेटोन मनकी आंट।

तन की तपत बुझाइयै प्यारे, वचन सुधारस छांट ॥रि०॥२॥

नेक कुनजर निहारियै रे. उजर न कीजै नाथ।

नेक निजर मुजरइ मिलै, अजर अमर सुख साथ ॥रि०॥३॥

निसि अंधियारी घन घटारे, पाउं न वाट के फंद।

करूण कर तो निरवहुं रे देखुं तुझ मुख चंद ॥रि०४॥

प्रेम जहां दुविधा नहीं रे, नहि ठकुराइत रेज।

"आनन्दघन" प्रभु आइ विराजै, आप ही समता सेंज ॥रि०॥५॥

पाठान्तर—आप = आय (उ)। मनावोरे = मनावउरे (अ)। बसीठ = बसीठि (उ)। फेर = पे.रु (अ)। फेरा (ई)। अगम = आगम (अ)। परिख = परीख (अ), पारख (इ)। कोइ = कोय (इ.उ)। लै....प्यारे = लै दै या ही गम पडइ प्यारे (आ), ले दे वाही गम पडेरे (इ.उ)। और = और (आ)। होइ = होय (इ.उ)। दोई = दो (इ). दोय (उ)। वातां=वात (आ), वतइं (अ), वातां (इ.उ)। जिय = जियै (आ), जी (इ), जीय (उ)। करउरे=करोरे (उ)। मेटोन = मेटउन (अ), मेटो मनकी (इ.उ)। तपत = तपति (आ)। बुझाइयै

= बुझाइयइ (अ), बुझाई (इ) (इ), बुझाइएरे (उ)। नेक कुनजर = नेकु कुन। जरि (आ), नेकुसुनजर (अ), गेक नजर (इ), नेक निजर (उ)। निहारियै रे = निहारीयइरे (अ, आ), निहारिएरे (उ)। कीजै = कीजइ (अ, आ)। मुजरइ मिलै = मुजरा न लै प्यारै (इ), मुजरो मिलेरे प्यारे (उ)। निसि = निस (अ) निशि (उ) अंधियारी = अंधिआरी (अ)। अंधारी (उ)। फंद = फंदा (आ) फांद (अ)। निरवहुं रे = निरवहौ (व, इ)। चंद = चाद (अ)। प्रेम = पेम (अ.इ) जिहां = तिहां (उ)। नही = न (आ)। नहि.....रेज मेट कुराही तरेज (इ), नही ठकुराइ तेज (उ)। समता = सुमता (इ)

शब्दार्थ—रिसानी = क्रोधित, रूसी हुई रुष्ट हुई। मनावो = राजी करो, प्रसन्न करो। वसीठ=दूत, दलाल, मध्यस्थ। न फेर=न फिर, फेरना नही, लाना नही। अगम = अगम्य। बुझै = जानता हैं परिख = परीक्षा। वाही = उसको ही। गम = खवर। आट = आंटी, उलजन, गांठ। छांट = छिडक कर, डालकर। नेक = तनिक, थोड़ी सी। उजरे = उज्र, विरोध। मुजरइ=अभिवादन करते हुये। वाट = मार्ग, राह। निरवहुं = निर्वाह करलूं, पालन करू।ठकुराइत = बडप्पन। रेज = जराभी. रजमात्र भी।

अर्थ—माया के फेर में पडे हुये चेतन को अपनी गलती का कुछ भान होता है! वह श्रद्धा से समता को प्रसन्न करने को कहता है। श्रद्धा उसको वहुत ही सुन्दर उत्तर देती है। वास्तविकता यह है कि चेतन जव स्वयं राग-द्वेष विषम भाव छोड़ेगा तव ही उसे समत्व प्राप्त होगा। राग द्वेष छोडने से ही आत्म साम्राज्य मिलता है। श्रद्धा होने पर भी जव तक ये विषम भाव छोडे नहीं जाते तव तक मात्र यह विश्वास रखने से कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। जीव को पुरुषार्थ करके रागादि भाव न्यून करते हुये समत्व प्राप्त करने का प्रवल पुरुषार्थ करना चाहिये। योगीराज ने श्रद्धा के मुख से स्वयं पुरुषार्थ करने का उपदेश दिया है। ममता वश वह अपनी समता को स्वयं भूला है। अब उसे स्वयं ही प्रसन्न करना होगा।

श्रद्धा कहती है—हे चेतनराज ! रुष्ट हुई समता को आप ही मनावो-प्रसन्न करो। पति को अपनी पत्नी के व अपने प्रेम के बीच किसी विशिष्ठ (मध्यस्थ) पुरुष को भी नही लाना चाहिये क्यों कि यह प्रेम का सौदा (व्यापार) बड़ा ही अगम्य है—बड़ा गहन है। इसे कोई विरला ही पुरुष परीक्षा पूर्वक समझ पाता है। जो हृदय लेता है व देता है। वही इसके मर्म को जानता है। अहो चेतनराज ! क्याअपनी पत्नी के पास कोई दूती या दलाल भेजे जाते है ? अतः आपइस फेर-चक्कर में न पड़ें, अपनी पत्नी के लिये किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नही है। दूती व दलाल तो उप-पत्नियों के लिये होते है ॥१॥

श्रद्धा फिर कहती है—हे चेतनराज ! आप यह न समझो कि सुदीर्घ काल से समता से अलग रहे हो, वह कैसे प्रसन्न होगी ? आपको ध्यान रखना चाहिये कि समता महान पतिव्रता है, वह पति का कभी तिरस्कार नहीं कर सकती है, न कभी उसको निराश कर सकती है। चेतन फिर प्रश्न करता है कि मुझे क्या करना चाहिये। उत्तर मे श्रद्धा संक्षेप मे कहती है कि हे चेतनराज ! आप अपने मन की आंट-ग्रंथी को क्यों नही मिटा कर समता से अपने हृदय की दो दो बातें कर लेते ? अथवा आप अपने जीव के सबंध मे दो बाते करिये। प्रथम तो यह कि आप अपने मन की परभाव रमण रूप ग्रंथी को खोल डालिये और दूसरी यह कि विषय कषाय जन्य शारीरिक तपत को (अग्नि को) स्वरूप ज्ञान रूपी अमृत रस की बुंदे छिड़कर बुझा डालिए-शांत कर दीजिये ॥२॥

चेतन फिर श्रद्धा से प्रश्न करता है—इन पंचेन्द्रिय के विषयों को कैसे छोड़ा जाय। परभाव रमणता कैसे दूर हो, यह कषाय जन्य मानसिक ताप कैसे शांत हो ?

उत्तर में श्रद्धा कहती है—हे चेतनराज ! आप अनन्त शक्तिशाली है। इस परभाव रमणता व विषय वासना की ओर थोड़ी भी

टेढी दृष्टि रखोगे तो हे स्वामी ! ये कुछ भी विरोध न करके अलग हो जावेंगी अथवा हे नाथ ! इस विषय वासनाओं को कुदृष्टि से देखिए, इसमें आप कुछ भी उज्र न करे, ये सब पलायन कर जावेंगी। आपकी शक्ति के आगे कौन ठहर सकता है। फिर आपकी तनिक दृष्टि मात्र से ही समता अक्षय व एक रस रहने वाले अव्याबाध सुख के साथ आपका अभिवादन करती हुई, आमिलेगी ॥३॥

श्रद्धा द्वारा यह संवाद पाकर समता कहती है–हे सखि ! स्वामीनाथ ने स्मर्ण किया है तो मैं तैयार ही हूं किन्तु अंधेरी रात है और घनघोर घटा छाई हुई है, ऐसे समय में मै मार्ग कैसे प्राप्त करूं हे स्वामी ! यदि आप ही दया करें तो मेरा निर्वाह हो जावे और आपके चन्द्र मुख का दर्शन हो जावे ॥४॥

योगीराज ने यहा अत्यन्त गम्भीर व मार्मिक बात कही है । उक्त पद का तात्पर्य यह है कि चेतन के पुरुसार्थ से ही सम भाव प्राप्त हो सकता है। अविरति रूप रात्रि प्रत्याख्यान व अप्रत्याख्यान कषयों की घनघोर घटा में अप्रमत्त मार्ग कैसे जाना जा सकता है। चेतन जब तक अविरति परिणाम, प्रत्याख्यान व अप्रत्याख्यान कषायों को न त्यागे तो समता कैसे प्राप्त हो सकती है।

समता का यह संदेश चेतन को तनिक भी नहीं अखरता है। मेरे बुलाने पर आप न आकर मुझे ही वहां बुलाती है ऐसी द्विधा चेतन को थोडी सी भी नही होती है। जहां प्रेम होता है वहां जरा भी द्वैत भाव नही होता। बडप्पन का तनिक भी अभिमान नहीं होता। आनन्द के समूह चैतन्य प्रभु स्वयं ही समता की सेज (शय्या) पर आ विराजे अर्थात् अविरति परिणामों को त्याग कर अप्रमत्त भाव ग्रहण कर लिया ॥५॥

प्रियतम का समाचार व मिलन ३७ राग--बसंत, धमाल

पूछीइ आली खबरि नई, आए विवेक वधाई ॥
महानंद सुखकी वरनिका, तुम्ह आवत हम गात ।
प्रान जीवन आधार कुं, खेम कुशल कहो वात ॥पू०॥१॥
अचल अबाधित देव कुं, खेम सरीर लखंत ।
विवहारी घट वढ़ि कथा, निहचै शरम अनंत ॥पू०॥२॥
बध मोख निहचै नहीं, विवहारी लखि दोइ ।
कुशल खेम अनादि ही, नित्य अबाधित होइ ॥पू०॥३॥
सुनि विवेक मुखते नई, वानी अमृत समान ।
सरधा समता दोइ मिली, लाई "आनंदघन" तान ॥पू०॥४॥*

पाठान्तर—पूछीइ = पूछीयइ (अ), पूछीये (इ)। खवरि = खवर (इ. उ)। वधाई = वधाय (इ) वरनिका = वरनिकारे (उ)। नोट–उ प्रति मे सव ही पंक्तियों में प्रथम विराम में 'रे' है। आधार कुं = आधार की ही (इ)। देवकुं = देवकुं हो (इ)। वढि = वढ (इ)। वध (क. बु. वि) कथा = कला (उ)। निहचै = निहचइ (इ) शरम = सरम (इ) परम (उ)। मोख = मोक्ष (उ)। निहचै = निहचइ (अ)। विवहारी = विवहारैं (इ) लखि = लखी (अ) लख (इ)। मुख = सुख (आ)। दोइ = दुइ (अ), दो (इ), दोय (उ)। मिली= मिलि (अ. इ), मिलैरे (उ)। तान = तान (इ). ताम (उ)।

शब्दार्थ—महानंद = पूर्णानंद। वरनिका = वर्णन। गात = गाती हैं, शरीर। अचल = जो चलायमान न हो, स्थिर। अवाधित = जिसे कोई वाधा (रुकावट) न हो–पीडा न हो। खेम = क्षेम कुशल। विवहारी = व्यवहार नय से। घट वढि कथा = घटने वढने की वात। निहचै = निश्चय से। शरम = शांति, समभावी। श्री ज्ञानसारजी ने शरम के स्थान पर समर पाठ रखा है और उसका अर्थ शांत किया है।

---

*श्री ज्ञानसारजी ने इस पद पर टब्बा लिखा है।

अर्थ—श्रद्धा कहती है—हे सखि समता ! विवेक महोदय पधारे है। उनको बधाले—स्वागत करले और कोई नये समाचार हो तो पूछले।

विवेक के पास जाकर कहती है कि आपके आगमन से हमें व हमारे मन व शरीर को जो महा आनंद प्राप्त होता है, उस महान सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता है। आप प्राणनाथ, प्राणधार के कुशल समाचार बताइये ॥१॥

समता का प्रश्न सुनकर विवेक महोदय उत्तर देते हैं—अचल व अबाधित देव के तो सर्वदा ही कुशल-क्षेम देखी जाती है। वास्तव मे तो उनका असख्य प्रदेशात्मक शरीर तो बाधा रहित निश्चल है। व्यवहार से घटाव बढाव की, सुख-दुख की, लाभ अलाभ की बात है किन्तु स्वरूप से तो अनत शाति विद्यमान है ॥२॥

निश्चय से तो बंध मोक्ष नहीं है, व्यवहार से ही बंध और मोक्ष-इन दोनों का विचार देखा जाता है—कहा जाता है। जब निश्चय से बंध-मोक्ष हैं ही नहीं, तब अनादि से आनन्द ही आनन्द है-क्षेम कुशल है, अबाधितपन है॥ यह आत्मदेव शाश्वत है, बाधा रहित हैं, फिर बंधन कैसा ? दुख कैसा ? संकट कैसा ? पीड़ा कैसी ? अपने आपको—अपने आत्मा को भूले हुओ के लिए ही यह सब विघ्न है। श्रीमद्‌राज चन्द्र जी ने कहा है—

> छूटेदेहा ध्यासतो, नहि कर्ता तुं कर्म।
> नहि भोक्ता तुं तेहनो, अेज धर्म नो मर्म ॥११५॥
> अेज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छे मोक्ष स्वरूप।
> अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध्य स्वरूप ॥११६॥

(आत्मसिद्धि)

देह को ही सब कुछ समझनेवाले विभाव परिणामियों को ही संसार बंधन है। आत्मा की ओर लक्ष देने वाले तो साता-असाता से परे (दूर) रह कर अव्याबाध सुख के अधिकारी होते है ॥३॥

इस प्रकार विवेकके मुख से यह अमृत समान नवीन वाणी सुन कर श्रद्धा और समता दोनो ने मिलकर आनद स्वरूप अपने स्वामी आत्मदेव को निज स्वरूप की ओर खेंच कर ले आई ॥४॥

प्रिय आगमन पृच्छा, व परिवार सम्मेलन — **३८** — **राग–वसंत, धमाल**

सलूने साहिब आवैगे, मेरे वीर विवेक कहौन सांच ॥
मोसूं सांच कहो मेरी सुं, सुख पायौ कै नांहि ।
कहानी कहा कहुं उहां की डोलै चतुरगति मांहि ॥स० ॥१॥
भली भई इत आवही, पंचम गति की प्रीति ।
सिद्धि सिद्धि रस पाक की, देखै अपूरब रीति ॥स० ॥२॥
बीर कहै एती कहा, आए आए, तुम्ह पास ।
कहै सुमत परिवार सौं, हम है अनुभवदास ॥स० ॥३॥
सरधा सुमता चेतना चेतन अनुभव वांहि ।
सकति फौरि निज रूप की, लीनै 'आनन्दघन' मांहि ॥स० ॥४॥

पाठान्तर—मेरे = मेरे आलीरी (इ.उ)। सुं = सौं (अ)। उहां की = वहां की (आ), कहा कहूं कहानी ऊंही की (उ)। आवही = आवही हों (इ), आवही हूं (उ)। सिद्धि""पाक की = सिद्धि सिधंत रस पाक की हो (इ), सिद्ध सिद्ध रस पाक की ही (उ)। कहा = कहो (इ), कहा ही (उ)। आए आए = ममता आए (उ)। पास = पासि (आ)। सुमता = समता (अ.इ)।

सौ = सु (अ), सौंहो (इ), सुंहो (उ)। चेतन = चेतना हो (इ.उ), चेत (आ)। वाहि = आहि (इ.उ)। सकति = सगत (इ)। रूप की = रूप की हो (इ.उ)। लीजै = लीजै (उ)।

शब्दार्थ —सलूनें = सुन्दर। मेरी सु = मेरी शपथ है। उहां की = वहां की। चतुरगति = चारगति (नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव) पंचमगति = मोक्ष। सिद्धि सिद्धि रसपाक की = पारे (पारद) के रस की सिद्धि, चन्द्रोदय, मकरध्वज आदि रस को ६४ प्रहरी अग्नि देकर जो सिद्ध किया जाता है उसे रसपाक की सिद्धि कहते है। सोना (स्वर्ण) पारा व गंधक का एक-एक अपूर्व ही रूप बन जाता है। यह योग बहुत प्रभावशाली होता है। मृत्यु के मुख में पड़े हुए को भी थोड़े समय के लिये मृत्यु मुख से बचा लेता है। कहा = कथा। वाहि=वही पर। सकति = शक्ति। फोरि = फोड़कर, उपयोग कर, लगाकर।

अर्थ—सुमति अपने भाई विवेक से पूछती है—मेरे सलोने साजन (प्रियतम) आत्माराम यहाँ आवेंगे या नहीं ? हेभाई विवेक ! सच-सच बताओ आपको मेरी शपथ है, मुझसे सत्य कहो कि वहाँ, उन्हें कुछ प्राप्त हुआ क्या ?

सुमति के वचन सुनकर प्रत्युत्तर मे विवेक कहता है—हे सुमते ! वहाँ की कहानी तुम्हे क्या कहूं, कहने जैसी नहीं है। वहाँ वे (चेतन) माया के वश होकर चारों गतियो मे भटक रहे है ॥१॥

विवेक फिर कहता है कि यह अच्छा हुआ कि अब आत्मराम इधर तेरे सयंम रूप महल मे आवेंगे। उधर जाना-चारों गतियों में भटकना है औरइधर आना मोक्षरूप पंचम गति की प्रीति है। हे सुमते ! तुम्हारी प्रीति स्वरूपानुभव रूप परम सिद्धि रस के परिपाक की सिद्धि है। जो समता को धारण करताहै—इसको वरण करता है वह तदाकार वृत्ति रूप अपूर्व परिपक्व अवस्था को प्राप्त करता है।

श्री ज्ञानसार जी महाराज के टब्बे मे सिद्धि सिद्धांत पाठ है। उसका अर्थ किया है—सिद्धान्त से जो सिद्ध हुआ है ऐसे स्वरूपा-

नुभव संबंधी जो परम रस है उसके परिपाक की पूर्णता प्राप्ता करता है अर्थात आत्म स्वभाव के अनुभव से आत्म स्वरूप की तदाकार वृत्ति की परिपाक अवस्था को अपूर्व रीति से प्रत्यक्ष करता है ।।२।।

विवेक सुमति से कहता है—मै तुम को केवल इतना ही कहता हूं कि तुम्हारे भरतार चेतन तुम्हारे पास आ गये हैं। अरी भोली ! इधर उधर क्या देखती है वह तेरे ही हैं। जब तू सुमति से मति होकर नाना प्रकार की कल्पना जल्पना में रहती है, वह तेरे से दूर प्रतीत होते है अन्यथा वह तेरे पास ही है । विवेक से ऐसे मर्म की वात सुनकर सुमति अपने परिवार—श्रद्धा, क्षमा, मार्दव आदि से कहती है कि अपन सब वास्तव मे अनुभव के दास है ।।३।।

श्रद्धा,सुमति और चेतना वहीं होती हैं जहाँ चेतन अनुभव होता है । अपनी स्वरूप संबंधिनी शक्ति लगाकर यह सारा परिवार ज्ञानानंद की सघनता मे लीन हो गया अर्थात आनंदघन रूप हो गया ।।५।।

जब तक चेतन को अपनी शुद्ध शक्तियों का वियोग है उसे परमानंद प्राप्ति नही हो सकती।

उपालम्ब व प्रीतम प्राप्ति ३९ राग—बसंत-धमाल

विवेकी वीरा सह्यो न परें. वरजो न आपके मीत ।।

कहा निगोरी मोहनी मोहक लाल गँवार ।

वाके घर मिथ्या सुता, रीझ परे तुम्ह यार ।। वि० ।।१।।

क्रोध मान बेटा भऐं, देत चपेटा लोक ।

लोभ जमाई माया सुता, एह बढ्यो परिमोक ।।वि० ।।२।।

गई तिथ कौ कहा बाभरण पूछै समता भाव ।

घर को सुत तेरे मतै, कहा लु करू वढाव ।।वि० ।।३।।

तब समता उदिम कियो, मेट्यो पूरव साज।
प्रीति परम सु जोरिकै, दीन्हो 'आनंदघन' राज ॥वि० ॥४॥

पाठान्तर—विवेकी = विवेक (आ)। सह्यो = सहनो (उ)। परै = परि (आ), परैआलीरी (इ.उ)। आपके = सबके (उ)। मोहनी = मोहनीहो (इ.उ)। मोहक = मोह कलाल (आ)। गँवार = गिमार (इ)। घर = पर (इ) सुता = सुताहो (इ.उ)। तुम्ह = कहा (इ)। भये = भयेहो (इ.उ)। जमाई = जवाई (आ) सुता = सुताहो (इ.उ)। परिमोक = परिकोक (इ), परिफोक (उ)। तिथकी = तिथिको (अ), तियकूं (उ), तिथ (इ)। बांभरा = बांभराहो (इ), बाभराहो (उ)। मतै = मतैहो (इ.उ)। कहालु = कहालो (इ) करू = करत (इ)। कियो = कियोहो (इ.उ)। प्रीति = प्रीतम (उ)। जोरिकै = जोरिकैहो (इ.उ)। दीन्हो = दीनी (अ), लीनी (इ)।

शब्दार्थ—वीरा = भाई। सह्यो न परै = सहन नहीं होता है, बरदाश्त नहीं होता है। वरजो = रोको। मोहनी = मोहनीय कर्म प्रकृति। मोहक = मोहित करने वाला गुण, लुभावना। लाल = चेतन रूप। मिथ्यासुता = मिथ्यात्व मोहनी नामक कन्या। यार = मित्र। चपेटा = तमाचा, थप्पड़। परिमोक = परिवार, (टब्बेकार श्री ज्ञानसारजी के अनुसार) विस्तार, परमपद, मोक्ष। गई तिथ = गये हुये मुहूर्त को। बाभरा = ब्राह्मरा, ज्योतिषी। घर को सुत = स्वरूप घर का पुत्र, ज्ञान गुरा। करू बढाव = इससे अधिक बढाकर क्या कहूँ।

अर्थ—सुमति विवेक से कहती है—हे विवेक भाई! मुझे अब सहन नहीं होता है। स्त्री को सोत का दुख मृत्यु से भी अधिक होता है। इसलिये आप अपने मित्र को रोकते क्यों नही हो?

निगोडी मोहनी का क्या माजना है—साहस है? उसमें कौन सा ऐसा मोहक गुण है? हे भाई विवेक! तुम अपने मित्र

चेतन को समझाते क्यों नही कि गंवार-बुद्धहीन ही स मोहनी के चक्कर में फँसते है। उसका परिवार भी कोई, अच्छा नही है। इस मोहनी के मिथ्यात्व मोहनी नामक कन्या है। क्या देखकर उस पर तुम्हारे मित्र चेतन मोहित हो गये हैं ॥१॥

इस मोहनी के क्रोध और मान दो पुत्र हैं। ये दोनों ही पुत्र संसार के लोगों को प्रिय नही है। ये जहाँ जाते हैं, लोगों से तिरस्कृत होते हैं, लोग इन के थप्पडे लगाते है। इस मोहनी ने अपनी मिथ्यात्व परिणति रूपी कन्या का लोभ के साथ पाणिग्रहण कर दिया है। लोभ जवांई (जामाता) तथा मिथ्यात्व मोहनी के संयोग से माया नामक कन्या उत्पन्न हुई है। इस प्रकार इस मोहनी के परिवार का विस्तार फैला हुआ है। (एह वढ्यो परिमोक के स्थान पर 'यह चढ्यो परिमोक' पाठ रखा जावे तो यह अर्थ होगा—स मोहनी ने परम पद मोक्ष के अभिलाषियों पर अपने परिवार सहित चढाई कर रखी है। हे विवेक बन्धु! मोहनी के परिवार पर तुम्हारे मित्र रीझे हुये है और व्यर्थ ही जंजाल वढा रहे है। यह मुझे सहन नहीं होता ॥२॥

योगीराज ने इस पदमे बडे सुन्दर ढग से जीव की विभाव दशा का वर्णन किया है। कषायो का यथार्थ स्वरूप दिखाकर जिज्ञासु को चिन्तन के लिये तथा अपने सुधारके लिये सरल शब्दों मे प्रेरक सामग्री दी है।

सुमति के यह वाक्य सुनकर विवेक कहता है—हे सुमते! विगत तिथि का मुहूर्त ब्राह्मण से क्या पूछती है अर्थात वीते हुये समय का वर्णन ज्योतिषी से क्या पूछती है। होना था, वह हो चुका। तेरे लिये यह कितना बड सौभाग्य है कि तेरा पुत्र बैराग्य तो तेरे आधीन है। उसकी प्रशंसा कहाँ तक बढाकर वर्णन करूं। टब्बे मे

श्री ज्ञानसारजी ने यह अर्थ किया है—'तेरे स्वरूप रूप घर का पुत्र ज्ञानगुण तेरे मत का ही है-तेरे ताबे है इसलिये जब चेतन का तेरे से मिलाप होगा तब ही वह केवल ज्ञान रूप पुत्र का मुख देख सकेगा। इसलिये तू खेद न कर। चेतन कहाँ तक मोहनी का परिवार बढावेगा यदि उन्हें केवल ज्ञान रूप पुत्र का मुखदेखना होगा तो तेरे पास आना ही होगा ॥३॥

नोट—श्री ज्ञानसार जी महाराज ने 'घर को सुत' का अर्थ 'केवल ज्ञान' किया है। इसलिये तीसरे पद के अंतिम पंक्ति की व्याख्या उनके अनुसार ही की गई है। हमने 'घर का सुत' का अर्थ वैराग्य किया है।

विवेक के उपदेश से समता ने आत्म रूप पति से मिलने का उपाय किया और आत्मा मे रमकर उसके सम्पूर्ण पूर्व के साथ को दूर कर दिया (छुडा दिया) अर्थात् मोहनी और उसके परिवार का साथ छुडा दिया परम तत्व आत्माराम से निरूपाधिक प्रीति जोडकर आनंदघन रूप मुक्ति नगरी का राज्य दे दिया। तात्पर्य यह है कि विवेक प्राप्त होने पर आत्मा में समत्व आ जाता है और उससे कषाय व मोह दूर हो जाता है। इससे परम पद की प्राप्ति हो जाती है ॥४॥

उपालम्ब व मिलन ४० राग–सारंग

अनुभौ तू है हितू हमारौ।

आउ उपाउ करो चतुराई, और को संग निवारो ॥अनु०॥१॥
तिसना रांड भांड की जाई, कहा घर करै सवारौ।
सठ ठग कपट कुटंबहि पोषत, मन में क्यूं न विचारौ ॥अनु०॥२॥
कुलटा कुटिल कुबुधि संग खेलिके, अपनी पत क्युं हारौ।
'आनन्दघन' समता घर आवै, बाजै जीत नगारौ ॥अनु०॥३॥

पाठान्तर—अनुभौ = अनुभव (उ)। तू है = तुंहि (उ)। हितू = हितु (अ), हेतु (इ.उ)। आउ=आय (इ)। उपाउ=उपाव (आ), उपाय (उ)। औरको = औरन (उ)। घर = घरइ सवारी (आ), घरि (उ)। मनगे....विचारो = वाको संग निवारो (इ)। में = मइं (आ)। संग = सगि (आ)। अपनी = आपनी (आ)। क्यु = क्यूं (इ)।

शब्दार्थ—हितू = हितेच्छु, भलाई चाहने वाला। उपाउ = उपाय और = अन्य, माया-ममता। निवारो = दूर करो। तिसना = तृष्णा, संग्रह की लालसा। जाई = उत्पन्न हुई, पैदा हुई, पुत्री। सवारी = सँवारना, संभालना, कल्याण। सठ = शठ, दुष्ट। पोपै = पोषण करती है, पालती है। पति = पत, प्रतिष्ठा, इज्जत, विश्वास।

अर्थ—हे अनुभव! तुम तो हमारे (मेरे व चेतन दोनों के) हितेच्छु हो—भलाई करने वाले हो। चेतन (मेरे स्वामी) के पास जाकर ऐसी चतुराई या ऐसा उपाय करो जिससे वह (चेतन) माया-ममता का संग (साथ) न करे ॥१॥

यह तृष्णा रांड तो भांड की पुत्री है जो नकल करके लोगों को प्रसन्न किया करती है। इसने किसके घर मे प्रकाश फैलाया है? किसके घर को सजाया है? यह तो दुष्ट, ठग, कपट आदि अपने परिवार का ही पोषण करती रहती है। इस स्पष्ट और सीधी सच्ची बात को आप मन मे क्यों नही विचारते हो, सोचते हो॥२॥

इस कुलटा, दुष्ट, कुबुद्धि के साथ खेलकर इस के हाथों का खिलौना बनकर, आप अपनी प्रतिष्ठा क्यों खोते हो अथवा आप में हमारा जो विश्वास है (आप हमारे हितेच्छु हो यह विश्वास, क्यों नष्ट करते हो?) आनंद के समूह चेतन समता के घर आ जावै तो विजय के नगारे बजने लगें अर्थात सब कार्य सिद्ध हो जावें ॥४॥

प्रिया विवशता, व प्रियतम का मिलन ४१ राग–धन्यासिरी

बालूडी अबला जोर किसौ करै, पीउडो पर घर जाइ ।
पूरब दिसि तजि पच्छिम रातडौ, रवि अस्तंगत थाइ ॥बा०॥१॥
पूरण शशि सम चेतन जाणिये, चन्द्रातप सम नाण ।
बादल भर जिम दल थिति आणियै, प्रकृति अनावृत जाण ॥बा०॥२॥
पर घर भमता स्वाद किसौ लहै, तन धन जोबन हाणि ।
दिन दिन दीसै अपजस, बाधतो, निज मन मानै न काणि ॥बा०॥३॥
कुलवट लोपी अवट ऊवट पडै, मन महुता नै घाट ।
आंधै आंधौ जिम जग ठेलियै, कौण दिखावै वाट ॥बा० ॥४॥
बंधु विवेकै पीवडौ बूझव्यौ, वार्‍यो पर घर संग ।
हेजै मिलीया चेतन चेतना, वरत्यो परम सुरंग ॥बा० ॥५॥

पाठान्तर—पीउडो = पियडौ (अ) । घर = घरि (अ) । जाइ = जाय (इ.उ) । तजि = जप तप (इ,उ) थाइ = थाय (इ.उ) । पूरण = पूरब (इ) पूनम = (व वि.) जाणीयै = जाणीइ (इ.उ) । नाण = भाण (इ) । अनावृत = अनाहत (अ) भमता = भमता (आ) ; भमत (अ) । जोबन = योवन (इ.उ) मन = जन (अ) । मानै = मानइ (अ) । लोपी = खोइ (इ) । अवट ऊवट पडै = अवट उवट पडइ (उ) । नै = नई (आ) । मन महुता = मान महुआ (इ), मन मे हुआ (वि) आवै = आघइ (अ) जिम जग ठेलिये = जिम ठेलिये (इ,उ) । मिले वे जण (व.वि.क) । कौण = कूण (इ), कुण (उ) । दिखावै = दिखाडै (इ) । वार्‍यो = चार्‍यो (आ) । हेजै....सुरंग = होजइ मिलिया चेतना, वरत्थौ परम सुरंग (आ) । हेलै मिलिया चेतन चेतनां, वरत्यौ परम सुरंग (अ) आनंदघन' समता घर आणे वाधे नव नव रंग (व. वि. क) ।

नोट—हमारी चारों प्रतियों मे ही आनंदघन जी की नाम वाली पंक्ति नही है। और छपी हुई प्रतियों मे हमारी अंतिम पंक्ति नही है, यह आगे शोध का विषय है। जब तक कोई अन्य प्राचीन प्रति १८ वी शताब्दी की न मिले तब तक कहा नही जासकता है।

शब्दार्थ—बालूडी = बाला, अल्प वयस्क। अस्तंगत = अस्त। चंद्रातप = चांदनी। नाण = ज्ञान। बादल भर = बद्दलो का घिराव। दल थिती = कर्म दलो की स्थिति। आणियै = जानिये। प्रकृति = स्वभाव। अनावृत = विना ढकी हुई, खुली। भमतां = घूमते हुये, भटकते हुये। तन = स्वरूप। हाणि = हानि। बाधतौ = बढता हुआ। कांणि = मर्यादा। कुलवट = कुल की मर्यादा, वंश गौरव। अवट = उलटे रास्ते। ऊवट = ऊवड खावड, असमतल। महुता = महता, मंत्री। घाट = चक्कर में आना, वशीभूत होना। ठेलियै = धकेलना। वाट = मार्ग। बूझव्यौ = समझाया। वार्यो = छुडा दिया, अलग कर दिया।

अर्थ—बेचारी बाला स्त्री क्या जोर (अधिकार) दिखावे—किस प्रकार क्रोध दिखलाकर अपने पति को पर घर (ममताकेघर) जाने से रोके। पूर्व दिशा को त्यागकर पश्चिम दिशा से अनुरक्त सूर्य अस्त हो जाता है और अंधकार छा जाता हैं। अर्थात्—चेतन जब समता रूपी स्व परिणति को छोडकर ममता रूपी पर परिणति में चला जाता है तो उसका ज्ञान प्रकाश अस्त हो जाता है अज्ञानान्धकार छा जाता है ॥१॥

पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान चेतन को समझना चाहिये और उस की चांदनी के समान ज्ञान को जानना चाहिये। चन्द्रमा जिस प्रकार बादलों से घिर जाता है उसी प्रकार यह चेतन कर्म दलिकों से आवृत्त हो जाता है - ढक जाता है ॥२॥

दूसरों के घर भटकने से क्या स्वाद मिलता है? क्या आनंद आता है? केवल मात्र धन, योवन और शरीर की क्षति है और

र्दिनों दिन अपयश बढता जाता है तथा मन अपनी मर्यादा को नहीं मानता है। बेकाबू हो जाता है। लाज-शर्म छोड देता है ॥३॥

अपने कुल की मर्यादा लोपकर मन रूपी मंत्री के चक्कर में पडकर उल्टे और उबड-खाबड मार्ग मे–उन्मार्ग मे (बुरे रास्ते) चेतन राज जा पडा है। अन्धा मनुष्य अंधे मनुष्य का ही सहारा लेकर चले तो संसार मे रास्ता कौन दिखा सकता है। नेत्र हीन व्यक्ति यदि नेत्रवाले का साथ करे तवही वह मार्ग पार कर सकता है ॥४॥

समता की बाते सुनकर, विवेक वन्धु ने चेतन स्वामी को समझाया और पर परिणति रूप पर घर का साथ छुडाया। उस समय चेतन व चेतना सहज ही मिलगये जिससे सहजानंद रूप परम सुरंग रंग प्राप्त होगया।

आश्वासन व प्रियतम केलि ४२ राग–तोडी (टोडी)

मेरी तुं मेरी तुं काहे डरै री।
कहै चेतन समता सुनि आखर, और देढ़ दिन झूठी लरै री॥
मेरी०॥१॥

एती तो हूँ जानु निहचै, री री पर न जराव जरै री।
जब अपनो पद आप संभारत, तब तेरै परसंग परै री॥मेरी०॥२॥
औसर पाइ अध्यातम सैली, परमातम निज जोग धरै री।
सकति जगाइ निरूपम रूप की, 'आनन्दघन' मिलि केलि करै री॥
मेरी०॥३॥

पाठान्तर—मेरी.....डरैरी = मेरीतुं, मेरी तुं, मेरी तुं मेरी तुं मेरीतुं काहै डरैरी (अ.उ)। कहै = कहि (इ)। समता = सुमता (इ.उ)। देढ = मेढ (इ)। लरै = लरइ (अ)। तो = तउ (अ), तौ (इ.उ)। पर न =

परत (आ)। जरै = जरइ (अ)। ;पर संग = पद संग (इ)। परै = परइ (अ)। औसर = अवसर (अ)। जोग = योग (इ)। धरै = धरइ (अ)। सकति = सगति (इ)। जगाइ = जगावे (इ)। मिलिकेलि = मिलकेल (इ), पद केव (उ)। करै = करइ (अ), करी (उ)।

शब्दार्थ—झूठी = व्यर्थ, झूठमूठ ही। निहचै = निश्चय। री री = पीतल। पद = स्वरूप। संभारत = संभालेगे, याद करेगे। परसंग = प्रसंग, संगति। औसर = अवसर, समय। अध्यातम = आत्मा सम्वन्धी। सैली = शैली, रीति, ढंग। निरुपम = अनुपम, अनोखा। केलि = क्रीडा, आनन्द।

अर्थ—चेतन कहता है—हे सुमते! तू मेरी है, तू मेरी है, फिर क्यों डर रही है, तेरे भय का क्या कारण है? ममता का और मेरा सुदीर्घकाल का सम्वन्ध है, इसको वह (ममता) हटता हुआ–टूटता हुआ देखकर एक डेढ दिन (एक दो दिन) अर्थात् कुछ समय तक तो तुझसे मुझसे व्यर्थ ही झगडा करेगी, परन्तु तू विश्वास रख, मैंने उसे अब अच्छी तरह से पहिचान लिया है। उसने मुझे वहुत भटकाया है। उसके फेर (फदे) मे मैनें अनन्त वेदनायें सही है। उसके चक्कर मे (फंदे में) मै अब नही आऊंगा–नहीं पड़ूंगा। इसलिये एक दो दिन में वह निराश होकर सदा के लिये स्वतः पलायन कर जावेगी ॥१॥

इतना तो मै निश्चयपूर्वक जानता हूं कि चतुर जौहरी पीतल पर कभी हीरे पन्ने आदि बहुमूल्य रत्न नहीं जड़ाते है और यह भी मै अच्छी तरह जानता हूं कि तेरी ही संगति से मै अपने स्वरूप को पहिचानता हूं। (सुमति की संगति से ही चेतन अपने स्वरूप को प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी बनता है) ॥२॥

आध्यात्म शैली अर्थात् जिसमें आत्मा की ओर ही लक्ष रहे, उस ही की धुन रखे और समय पर परमात्मा योग धारण करे—परमात्मपद प्राप्त करने के लिये जिस प्रकार महापुरुषों ने प्रयत्न

किया था उसे यथार्थरूप से जानकर, उसी प्रकार आचरण करे। इस प्रकार परमात्मपने का योग धारण कर अपनी अनुपम शक्तियों को जो सुदीर्घ काल से सुप्त पडी है, उन्हें जागृत करे। अपने मे गुप्त वीर्य शक्ति से ज्ञानानंद प्राप्त कर समत्व भाव में रमण करे ॥३॥

नोट—जब जीव पुरुषार्थ करते-करते थक जाता है तब उसे काल लब्धि का सहारा लेना ही पडता है। समय पर ही सब कुछ होता है। समय पर ही सूर्य उदित होता है; समय पर ही वर्षा होती है; समय पर ही सर्दी व गर्मी पडती है। इस प्रकार काल का महत्व सिद्ध होता है। ज्ञानियों ने पांच कारण मिलने पर कार्यसिद्धि बताई है। वे पांच समवाय कारण ये है-(१) काल, (२) स्वभाव, (३) नियति, (४) पूर्व कृत्य और (५) उद्यम। काल लब्धि का परिपाक कब होगा यह तो सर्वज्ञ के सिवाय कोई नहीं जानता। इसलिये जीव को पुरुषार्थ करने में कभी कमी नही करनी चाहिये।

प्रियतम को उपालम्ब व प्रार्थना — **४३** — **राग–सारंग**

अनुभौ हम तो रावरी दासी।
आइ कहाँ ते माया ममता, जानु न कहा की वासी ॥अनु०॥१॥
रीझि परै वाके संग चेतन, तुम्ह क्यु रहे उदासी।
वरजो न जाइ एकंत कत कुं, लोक में होवत हाँसी ॥अनु०॥२॥
समझत नांहीं निठुर पति एती, पल इक जात छ मासी।
'आनन्दघन' प्रभु को घर समता, अटकलि और लिबासी ॥अनु०॥३॥

पाठान्तर—हम तो = हम हे (इ)। रीझि = रीझ (इ.उ)। तुम्ह = तुम (इ.उ)। रहे = रहत (इ). रहै (उ)। वरजो = वरज्यो (इ.उ)। होवत = होत न (आ)। पल इक = पलक (इ)। आनन्दघन.........समता = आनन्दघन

प्रभु घर समता के (आ), आनन्दघन प्रभु घट की ममता (उ) आनन्दघन प्रभु घर की समता (क.बु.वि.) । अटकलि = अटकल (ड) । लिवासी = निवासी (उ), लवासी (आ), (क.वि), लखासी (व) ।

शब्दार्थ—रावरी = आपकी । रीझि परे = आसक्त हो गये, मोहित हो गये । एकत = सर्वथा । अटकलि = काल्पनिक, आनुमानिक । लिवासी = छद्मवेशी ।

अर्थ—सुमति कहती है—मैं तो आत्माराम की दासी हूं । हे अनुभव ! बताओ, यह माया-ममता कहां से आ गई । मैं तो यह भी नहीं जानती कि यह (माया-ममता) किस देश की रहने वाली है ॥१॥

अनुभव कहता है—चेतन उस माया पर मोहित हो गये हैं । इसलिये उसी के साथ रहते हैं, पर इससे तुम उदास क्यों रहती हो ? तुम अपना स्वभाव क्यों छोडती हो ?

प्रत्युत्तर मे समता कहती है—'हे अनुभव !' पति को सर्वथा रोका नहीं जा सकता, क्योंकि इससे मेरी लोक में हँसी होती है। लोग कहेंगे कि पति को वश मे कर रखा है, न मालूम कौन से वशीकरण का प्रयोग किया है। इस प्रकार लोग बातें बनाकर मेरी हँसी करेंगे, वह कैसे सहन की जा सकती है ? लोग पति के लिये कहेंगे कि यह स्त्रैण है—स्त्री का दास है। पति का यह उपहास मुझे सर्वथा असह्य होगा ॥२॥

निष्ठुर पति इन बातों को समझ नही रहे हैं। इसलिये मेरा एक एक पल छै छै मास के समान व्यतीत होता है। आनंद के भु (चैतन्य) का घर (घर वाली) तो समता ही है। अन्य तो (माया-ममता) आनुमानिक है काल्पनिक छद्मवेषी है ॥३॥

प्रेमोपालम्ब, सखि संवाद ४४ राग–कान्हरौ

पिया तुम निठुर भये क्युं ऐसे ।
मैं तो मन क्रम करी राउरी, राउरी रीती अनैसे ॥पि० ॥१॥
फूल फूल भंवर की सी भांउरी भरत हो, निवहै प्रीति क्युं अैसे ।
मैं तो पिय तैं अैसी मिली आली, कुसुम वास संगि जैसे ॥पि० ॥२॥
अठी जात कहा पर एती, नीर निबहीयै भैसै ।
गुन औगुन न विचारो 'आनंदघन', कीजीयै तुम हो तैसे ॥पि० ॥३॥

पाठान्तर—पिया = प्रीया (अ)। ऐसे = अैसे (अ)। करी = करि (अ), कर (इ.उ)। राउरी = रावरी (उ)। रीति = रीत (इ उ)। नोट–"उ" प्रतिमे "मैंतो""राउरी' के स्थान पर 'मै तेपिय वै अैसी मिली याली' है। सी = सो (उ)। अंसे=एसे (उ)। पिय = प्रिय (अ)। नोट–'उ' प्रति मे 'मै तो ""आली के स्थान पर "मै तो मन वच क्रम करी रावरी" है। वास संग = वासि संग (अ), वास सग (इ.उ) अैठी = अैठी (इ), एसी (उ)। जात = यान (इ) नीर निवहीयै = नीर न वहियै (अ), नारी नवहिइ (उ)। नोट–'उ' प्रति मे यहाँ पाठ इस प्रकार है। "ऐसी भैजात कहा पर येती, नारी न वहिइ भैसे (उ।)अै वीया न कहा पर एती, नित निरवहियै भैसे"। औगुन=अवगुन (अ) औगुन विचारो (आ)।

शब्दार्थ—निठुर = निष्ठुर, कठोर। क्रम = कर्म। अनैसे = बुरी, अनिष्ट कारक, और ही तरह की। भंवर की सी = भ्रमर जैसी। भांउरी भरत हो = चक्कर काटते हो।

अर्थ—सुमति अपनी सखी श्रद्धा को साथ लेकर अपने स्वामी चेतन को उपालम्ब देती हुई प्रसन्न करने का प्रयत्न करती है।

सुमति कहती है—हे नाथ! आप ऐसे कठोर हृदय क्यों हो गये, जो मेरी खोज खबर ही नहीं लेते हो। मै तो मन, वचन और कर्म से (काया से) आपकी ही हूं। सदा आपके स्वभावानुसार चलने वाली हूं किन्तु आप की रीति (व्यवहार) और ही तरह की है- अच्छी नहीं है, अनिष्ट कारक है ॥१॥

जिस प्रकार भ्रमर एक फूल से दूसरे फूल पर फिर तीसरे पर चारों ओर चक्कर काटा करता है (घूमता है) उसी प्रकार हे चेतन-राज! आप ममता के वश होकर चारों ओर भटक रहे हो। इस प्रकार प्रीति (प्रेम) कैसे निभ सकती है? जब आप पर भाव में रमे हुये हो तो मुझ से प्रीति कैसे कर सकते हो।

फिर श्रद्धा की ओर देख कर सुमति कहती है-हे सखि! मैं तो अपने प्रिय चेतन के साथ इस प्रकार एक रंग हो रही हूं जिस प्रकार फूल में सुगंध बसी रहती है ॥२॥

सुमति की यह बात सुनकर श्रद्धा कहती है - हे सुमते! फूल का और सुगंध का जो संबंध है वह तो तेरा और चेतन का नहीं है, वह संबंध तो चेतना का है तू यह अभिमान की बात क्यों करती है? किस बल पर इतनी अकड दिखाती है? बैल के न होने पर क्या भैंसे पर पानी नही लाया (ढोया) जाता? हे सुमते! तेरा व चेतन का संबंध उपशांत मोह ग्यारहवें गुण स्थान तक ही है। यथाख्यातचारित्र जो, १२वें, १३वें गुण स्थानों में होता है, वहाँ तेरी गति नहीं है। वहाँ तो चेतना ही का साथ है। इस चेतावनी को सुन कर सुमति तनिक लज्जित होकर चेतन से कहती है कि आनंद रूप चेतन प्रभु! मैं आगे गुणस्थानों में नहीं पहुँचा सकती—इस अवगुण का, तथा चेतना अंत तक पहुँचा सकती है—इस गुण का विचार न कर के मुझे आप जैसे हैं वैसी बना लीजिये ॥३॥

श्री ज्ञानसारजी महाराज ने अपने टब्बे मे इस प्रकार इस पद का अर्थ किया है। सुमति श्रद्धा सखी सहित आत्म भरतार से उपालम्भ के रूख से विनतो कर मनाने की इच्छा करती हुई कहती है - हे भरतार! आप कठिन हृदय किस कारण से हो गये? मै तो मन कर के, वचन कर के, काया कर के आप ही की रीति-चाल को ग्रहण किये हुये हूं, फिर भी आप ऐसे निष्ठुर क्यों हो ॥१॥

हर्षित भँवरा जिस प्रकार फ़ल पर वार वार फिरता है, उसी प्रकार मैं फिर रही हू किन्तु आप को मेरी गिनतो नही है। गिनती रखे बिना प्रीति कैसे निभ सकती है। सुमति ने जव ऐसे वचन भरतार से कहे तब श्रद्धा सुमति से कहती है—हे सखि! तुम 'गउरी रीति अनैसे' ऐसा मुख से कहती हो, पर कोई भी रीति से तुमने भरतार से दुभात दिखाई होगी तभी भरतार निष्ठुर हुए होंगे-मन फेर लिया होगा। इस पर सुमति श्रद्धा से कहती है—हे सखि! मै तो फ़ल और सुवास के मिलाप के समान भरतार से मिल रही हूं किन्तु मालूम नही भरतार किस कारण निष्ठुर हो रहे है ॥२॥

सुमति फिर कहती है—हे सखी श्रद्धा! मै तो जितनी वात कहती हू—सीख की कहती हूं, और वह अंठे जाते है-अवगुण मानते है। इस का क्या कारण है? पखाल (पानी भरने का चमडे का वडा थैला) के पाणी का निभाव बलद (बैल) से होता है पर वह हाजिर न हो तो भैसे से ही निभाना पड़ता है अर्थात् शुद्ध चेतना रूप बलद के अभाव मे मुझ सुमति भैसे से ही निर्वाह करे। मेरे और शुद्ध चेतना अवगुण गुण न विचारें। मेरे से दशम गुणस्थान के ऊपर नही चढा जा सकता है। इस अवगुण को तथा शुद्ध चेतना से बारहवे तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान अरोहण रूप गुण का विचार न कर के हे आनंद के समूह आत्माराम! आप आनंदघन हो, इस भांति मुझे भी अपने चेतन स्वभाव में मिला लीजिये ॥३॥

विनती ४५ राग–जैजैवन्ती

ऐसी कैसी घर वसी, जिनस अनैसी री ।
याही घर रहसी वाही आपद हैसी री ।।ऐसी०।।१।।
परम सरम देसी घर मेउ पैसी री ।
याही ते मोहिनी मैसी, जगत संगैसी री ।।ऐसी०।।२।।
कौरी की गरज नैसी, गुरजन चखैसी री ।
'आनन्दघन' सुनौसी, बंदी अरज कहैसी री ।।ऐसी०।।३।।

पाठान्तर—ऐसी = अइसी (आ), अैसी (अ), इसी (उ)। घर – घरि (अ.उ)। है सी री = है इसी री (अ)। मेउ – मउ (अ), मैहु (इ)। मैसी = मइंसी (उ)। जगत संगैसी री – जग जस गैसी री (अ.इ), जस रहसी री (उ)। गुरजन = गुरज (आ)। सुनौसी = सुनैसी (आ)। बंदी – वांदी (उ)। कहैसी री = कहिसीरी (उ)। नोट–'आ' प्रति मे नं० २ का पद नही है जवकि अ.इ.उ तीनो प्रतियों मे है।

शब्दार्थ—घर वसी – घर में वस गई,–रह गई। जिनस – जिन्स, वस्तु। अनैसी – अमंगलकारी, अनिष्टकारी। पैसी – घुसकर, प्रवेशकर। परम सरम=अत्यन्त लज्जा। मैसी – मेषी, मादा भेड। कौरी – कोडी। गरज – प्रयोजन, मतलव। नैसी – वुरी। चखैसी – चखने वाली, खाने वाली, नाश करने वाली।

अर्थ—सुमति कहती है—यह ऐसी अनिष्टकारी माया किस प्रकार ज्ञान स्वरूप चेतन के घर में वस गई है। यह जिस के घर मे रहती है वहाँ अनेकानेक संकट व विपत्तियां पैदा करती है।।१।।

घर में प्रवेश कर यह अत्यन्त लज्जा दिलाने का कारण होती है। लोग अनेक प्रकार से उपहास करते है जिस से लज्जित

होना पडता है। भेड के समान यह मोहनी माया संसार से संबंध रखने वाली है ।।२।।

इस ही लिये इससे एक कौडी की भी गरज सरनेवाली नहीं है। अनुभव विवेक आदि गुरूजनों को यह नाश करने वाली बडी बुरी है। यह बदी (दासी) सुमति माया के सब गुण वर्णन कर रही है। हे आनद स्वरूप चेतन ! इन्हे सुनिये, और माया का साथ छोड दीजिये ।।३।।

विनय **४६** **राग—सारंग**

नाथ निहारो न आप मता सी ।

वंचक सठ सचक सी रीतै, खोटो खातो खतासी ।।नाथ०।।१।।

आप बिगूचन जग की हांसी, सैणप कौण बतासी ।

निज जन सुरिजन मेला अैसा, जैसा दूध पतासी ।।नाथ०।।२।।

ममता दासी अहित करि हर विधि, विविध भांति सतासी ।

"आनन्दघन" प्रभु बीनती मानो, और न हितू समता सी ।।नाथ०।।३।।

पाठान्तर—नाथ"""मतासी = नाथ निहारो आप मत मतासी (इ), नाथ निहारू आप सनासी (उ)। संचक = चंचक (उ)। रीतै = रीतइ (उ)। निज""अैसा = निज जन मेला अैसा (आ) ममता = समता (इ)। करि = करै (अ)। हर = हरि (इ)।

शब्दार्थ—आप मता सी = आप के मतानुयायी। वंचक = ठग, धूर्त। संचक = कृपण, संचय करने वाला, जमाखोर। खातो = हिसाव, खाता। खतासी = खताया जायगा, लिखा जायगा। विगूचन = बुराई करना, असमंजस, डूवना। सैणप = सयानापन, बुद्धिमत्ता। वतासी = वतायेगा। सुरिजन = सज्जन लोग। पतासी = पताशा, वताशा। संतासी = सतायेगी, दुख देगी।

अर्थ—सुमति कहती है—हे चेतन ! आप विश्वास क्यों नहीं करते कि मै आप की इच्छानुसार चलने वाली हूं। धूर्त, कपटी और कृपण ममता बुरा खाता बताने वाली है अर्थात दुर्गति मे लेजाने वाली है ॥१॥

ममता का साथ अपने आपको दुखों मे डालना या डुबोना है, साथ ही संसार मे अपनी हसी कराना है। ऐसे कार्य को कौन बुद्धि-मत्ता (समझदारी) कहेगा ? अपने सगे सबधियों व सज्जन पुरुषों का मिलाप तो दूध-बताशे के समान है जिससे मधुरता की वृद्धि होती है अर्थात् सयम-सतोप विवेक आर्जव औरमार्दव आदि चेतन के स्वजन है। इनके संयोग से अनेक गुण प्रगट होते हैं और उनकी वृद्धि होती है।।२॥

इनके विपरीत ममता दासी व उसका परिवार हर प्रकार से अहितकर हैं और अनेक प्रकार के संतापों को (दुखो को) उत्पन्न करनेवाला है। योगीराज आनंदघनजी कहते हैं—हे आनद के समूह चेतन ! मेरी विनय सुनो, समता के समान आपका हितकारी और कोई नही है॥ ३ ॥

सपत्नी दोष वर्णन **४७** **राग—सोरठ**

वारो रे कोई पर घर भमवानो ढाल, नान्हीं बहु नै पर घर भमवानो ढाल।

पर घर भमतां भूठां बोली थई देस्यै घनीजी नै ग्राल ।।वा०॥१॥

अलवै चालो करती देखी, लोकडा कहिस्ये छिनाल।

ओलंभडा जरा जरा ना आरणी. हीयडे उपासै साल ॥वा०॥२॥

बाई पडोसरण जोवो नै लिगारेक, फोकट खास्यै गाल।

'आनंदघन' सुरंग रमे तो, गोरे गाल भबूकइ भाल ॥वा०॥३॥

पाठान्तर—भमवानो = रमवानो (अ.इ) भमचावो (उ)। ढाल = टालो (उ)। भमता = रमता (अ.इ)। झूठा = झूठो (उ) देस्यै = देसइ (आ.उ) धनीजीनै = धणीनै (इ), धणीजीनै (अ उ)। चालो = चाला (आ)। देखी = हीडै (इ)। लोकडा=लोकडला (अ)। कहस्ये=कहिसइ (आ), कहसी (अ), कहिसै (उ)। जण जण = जिण जिण (अ)। हीयडै = हीयडइ (आ), हियडै (अ)। उपासै = उपासइ (आ), उपास्ये (अ.इ.)। बाई = वाई (आ), वाइ रे (उ) लिगारेक = लगारेक (आ)। खास्यै = खासइ (आ), खासी (उ)। सु = स्यु (अ,इ), सु (उ)। रग रमै = रंगे रमे (उ), रंग रमइ (आ)। गाल = गालि (आ)। झबूकइ = झबूके (अ)।

शब्दार्थ—वारो = रोको। भमवानो = भ्रमण करनेका, घूमनेका। ढाल = आदत। नान्ही = छोटी। थई = होगई। धनीजी = पतिदेव, स्वामी। आल = कलक। अलवै = इधर उधर की व्यर्थ बाते। चालो = काम, ख्याल, तमाशा। लोकडा = लोग। छिनाल = बदचलन, व्यभिचारिणी। ओलभडा = उपालम्भ। जण जण ना = प्रत्येक व्यक्ति के। हियडे = हृदय मे। उपासै = उत्पन्न होना। घाव = छेद, छाप, रडक, काटा। जोवो = देखो। लिगारेक = तनिक। फोकट = व्यर्थ, मुफ्त। गाल = गाली, अपशब्द। रग रमे तो = रग मे क्रीडा करे तो, ज्ञानानद मे मग्न हो जाय तो। झबूके = चमके, चमकने लगे। झाल = ज्योति।

अर्थ—समता अपने सम्बधी अनुभव, विवेक, श्रद्धा आदि से बात करती हुई कहती है— चेतन की इस छोटी स्त्री-अशुद्ध चेतना को पर घर-पौद्गलिक भावों मे घूमने की कुटेव (खराब आदत) पडी हुई है अरे कोई भी इसकी पर घर घूमने की आदत को छुडावो। पर घर घूमने से यह झूंठ बोलने वाली हो गई है रागद्वेष वश होकर कृत्य को अकृत्य और अकृत्य को कृत्य कहने लगी है इस प्रकार यह अपने स्वामी चेतन को बहकाती है जिससे पति को कलंकित होना पडता है ॥१॥

इसकी इधर उधर की फाल्तू प्रवृति को देख कर लोग इसे पुंश्चलि (छिनाल) कहते हैं। स्वाभाव परिणति को छोड कर जब चेतना राग-द्वेष पर भावों मे भटकती है, तब बुद्धिमान इसे छिनाल कहें तो कोई अयुक्त नही। यह प्रत्येक मे उपालम्भ लाती है जिस से हृदय मे छेद हो जाते हैं ॥२॥

समता, श्रद्धा, सुमति आदि को कहनी है, हे बहिनों! जरा इधर तो देखो—यह (अशुद्ध चेतना) व्यर्थ ही गालियें क्यों खाती है क्यों बदनाम होती है। यदि यह आनंदघन चेतन के रंग में रमण करे तो इसके स्वभाव रूप गोरे गालों पर उपयोग रूप तेज चमकने लगे और सब दुर्गुण नष्ट हो जावें ॥३॥

प्रेम लक्षणा भक्ति ४८ राग—केदारो

प्रीति की रीति नई हो प्रीतम, प्रीति की रीति नई।
मैं तो अपनो सरवस वार्यो, प्यारे कौन लई ॥प्री०॥१॥
मैं बस पिअ के पिअ संग और के, या गति किन सिखई।
उपकारी जन जाय मिनावो, अब जो भई सो भई ॥प्री०॥२॥
विरहानल जाला अति प्रीतम, मो पै सही न गई।
आनंदघन' ज्युं सघन घन धारा, तब ही दै पठई ॥प्री०॥३॥

पाठान्तर—मैं = मे (इ,उ)। बस = बसो (आ), बसु (अ.उ)। पिअ के पीअ = प्रीअ के पीय (अ), पिय के पिय (इ.उ)। सिखई = सखई (अ), सिखाई (उ)। उपकारी = उपगारी(इ)। अब जो भइ = जो कछु भई (इ)। मो = मु (अ), जाला = झाला (इ), ज्वाला (उ)। अति प्रीतम=अभिपम (अ) अति हि कठिन है (इ)। ज्युं = जु (अ), यु (इ), यूं (उ)। घन = रस (अ)।

शब्दार्थ—सरवस = सर्वस्व। वार्यो = निछावर कर दिया। मिनावो = मनावो, प्रसन्न करो। पठई = भेजी।

अर्थ—हे प्रियतम ! आपने यह तो प्रीति की नवीन ही रीति अपनाई है। यह प्रेम-पंथ तो नही है। हे प्यारे ! मै ने तो अपना सर्वस्व आप पर निछावर कर दिया है और आप किसी दूसरी को ही अपनाये हुये है ॥१॥

समता श्रद्धा व विवेक से कहती है—मै तो अपने प्रियतम चेतन के वश मे हू और प्रियतम ममता के संग रगरेली कर रहे है। समझ मे नही आता कि यह ढंग किसने सिखाया है। हे श्रद्धे ! हे विवेक ! आप ही मेरे परम उपकारी है। आप लोग चेतन को जाकर समझावो-प्रसन्न करो और कहो कि जो कुछ होना था वह हो गया। समता इन गई गुजरी बातों का तुम्हें उपालम्भ नही देगी। आप बीती बातों की चिन्ता न कर उस के पास पधारो ॥२॥

विवेक और श्रद्धा चेतन से कहते है-हे प्रिय चेतन ! आप जानते हो कि विरह-अग्नि की ज्वाला वडी दारुण होती है, उस से (समता से) सही नहीं गई इसलिये आप को लेने के लिये हमे भेजा है। विवेक और श्रद्धा के मिलन से चेतन का दृष्टि-मोह हटता है और स्वरूप-ज्ञान प्रगट होता है। तुरंत ही आनंदघन चेतन समता की विरह ज्वाला को बुझाने के लिये सघन मेघ की धारा (आनंद की धारा) देकर श्रद्धा व विवेक को भेज दिया ॥३॥

तात्पर्य यह है-श्रद्धा और विवेक होने पर ही यह जीव ममता के वश नही होता, उसे समत्व प्राप्त हो ही जाता है। सुमति मन की दशा है। वह केवल ज्ञान होने के पहिले ही रहती है और चेतना तो जीव का लक्षण ही है। वह सदा सर्वदा जीव के साथ है। जैसा कवि ने स्वयं कहा है—

"चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहै जिनचदजी"

प्रेम लक्षणा भक्ति की पराकाष्ठा ४६ राग मारू

मनासा नट नागर सुं जोरी हो, मनसा नट नागर सुं जोरी ।
नट नागर सुं जोरी सखि हम, और सबन सँ तोरी ।।म० ।।१।।
लोक लाज नाहिन काज, कुल मरजादा छोरी ।
लोक वटाऊ हसो विरानौ, आपनौ कहत न को री ।।२।।
मात तात सज्जन जात, वात करत सब भोरी ।
चाखै रस की क्युं करि छूटै, सुरिजन सुरिजन टोरो ।।३।।
ओरहानों कहा कहावत और पै नाहिन कीनी चोरी ।
काछ कछ्यो सो नाचत निवहै, और चाचरि चरि फोरी ।।म०।।३।।
ज्ञानसिन्धु मथित पाई, प्रेम पीयूष कटोरी ।
मोदत 'आनंदघन' प्रभु शशिधर, देखत दृष्टि चकोरी ।।म०।।५।।

पठान्तर—सुं = सँ (आ), सुं (अ.इ)। सबन = सबनि सौं (अ), सबन सु (इ.उ)। नोट—नटनागर....हम यह पंक्ति 'उ' प्रति मे नही है। लाज = लाज हम (इ.उ)। काज = काजे (उ), काजा (वि)। हसो = हम से (उ), कहत = कहूं (उ)। कोरी = कोई (इ,उ.)। तात सज्जन = अरु सजन (इ.उ)। जात = तात (उ)। वात भोरी = वात कहत भोरी (आ), वात करत है भोरी (इ), वात सब भोरी (उ)। रस की = इस की (इ)। ओरहानो = ओरहनौ (आ), औराहनो (अ), ओराकहनो (उ)। कछयो = कछै (उ)। निवहै = नीवहै (आ)। चाचरि चरि = चाचर चर (इ), चावर चरि (उ)। ज्ञान = ग्यान (इ)। मथिन = मथत (इ), मुकत (उ)। पीयूष = पीउप्य (उ)। मोदत = मोदित (उ)। शशिधर = शशधर (अ), ससिधर (इ.उ)।

शब्दार्थ—मनसा=इच्छा। नटनागर = सर्व कला कुशल। जोरी = जोडी दी। तोरी=तोडदी। छोरी=छोड दी। वटाऊ=राहगीर, यात्री। विरानो=

पराया । को = कोई । जात = जाति । भोरी = भोली । चारये रस वी = जिसने एक बार रसास्वादन कर लिया है। सुरिजन = सज्जन लोगो की सत्सगति। टोरी = टोल, समूह। औरहानो = उपालम्भ। और पै = दूसरो से। काछ कछ्यो = जिसने कच्छा पहिन लिया है, जो हर प्रकार से सज कर तैयार होगया है। निवहै = निर्वाह करना ही होगा। चाचरि = हलचल। भोरत = प्रसन्न होते है। शशिधर = चन्द्रमा।

अर्थ—कवि की सद्बुद्धि कहती है—हे सखी श्रद्धा ! मैने अपने मन को चतुर नटनगर (चेतन) की ओर लगाया है। उस नटनागर (चेतन) से अपने मन को लगाने के पश्चात् और सम्पूर्ण दृश्य–प्रपंत्र से अपने मन को हटा लिया है ॥१॥

मुझे लोक लज्जा से कोई संबध नही है। कुल मर्यादा की आड मे बनी हुई जो बाडे बदी है उसे मैने त्याग दिया है। रास्ता चलने वाले अन्य लोग (विभाव परिणतिये) भले ही मेरी हँसी करें, इसकी मुझे चिन्ता नही है क्यो कि लोगो का स्वभाव दूसरों की हँसी उडाने का ही होता है। अपने अवगुण कौन देखता है ? और देख भी ले तो दूसरों पर कौन प्रकट करता है ॥२॥

माता पिता स्वजन तथा जाति वाले सज्जन ये सब भोली भोली बाते करते है जिस सत्संगति का एक बार पान कर लिया है उन अत्यन्त श्रेष्ट जनों (स्वभाव परिणितियों) के समुदाय का साथ किस प्रकार छूट सकता है ॥३॥

अन्य लोगों के द्वारा (प्रलोभनों द्वारा) मुझे (सद् बुद्धि को) क्यों उपालभ कहा रहे हो (दूर हटा रहे हो)। मैनें किसी की चोरी तो की नही है। बुरा कार्य तों किया नही है। जिसने कच्छ पहिन लिया है उसे तो नाचना ही होगा। अर्थात् जो कार्य जिसने करना विचार लिया है उसे तो वह करेगा ही। अब नाचे बिना

छुटकारा ही नहीं है-अब उससे कैसे दूर हटा जा सकता है। अर्थात् जिसने चैतन्य शक्ति से मन लगा रखा है उसे तो स्वसत्ता—चेतन को अनावरण करना ही होगा। आत्मानुभवी का हृदय अपने लक्ष से कैसे च्युत हो सकता है। इसलिये मुझे उपालम्भ देना व्यर्थ है। मेरा लक्ष एक मात्र उस नटनागर (चेतन) की ओर है ॥४॥

ज्ञान रूपी समुद्र के मंथन से विश्व प्रेमरूपी अमृत से भरी कटोरी प्राप्त हुई है। आनदघनजी कहते हैं कि मेरी दृष्टि रूपी चकोरी आनदधाम चेतन रूप चन्द्रमा को देखकर अत्यन्त मोद मनाती है—प्रसन्न होती है ॥५॥

पति रंजन **५०** **राग—आसाउरी**

मीठो लागै कंतडो नै, खाटो लागै लोक।
कंत विहुणी गोठडी, ते रन मांहि फोक ॥मी०॥१॥
कंतडा में कामण, लोकडा में सोक।
एक ठामें किम रहै, दूध कांजी थोक ॥मी०॥२॥
कंत विण चौगति, आणु मांनु फोक।
उघराणी सिरड फिरड, नाणो खरु रोक ॥मी०॥३॥
कंत बिन मति म्हारी, अवहाडानी बोक।
धोक द्यू 'आनन्दघन' अवर नै द्यू टोक ॥मी०॥४॥

पाठान्तर—मीठो = मिठो (आ), मीठा (उ)। लागै = लागइ (आ)। खाटो = खारै (इ), खारा (उ)। विहुणी = विन (आ), विना (इ), रन = नर (अ.इ) वन (उ)। मे = मइ (आ)। सोक = सोग (उ)। ठामे = ठामि (आ)। विण = विनु (अ), विना (इ.उ)। आंणु .... फोक = मानु ते कोक (इ), मानूं ते फोक (उ)। सिरड फिरड = सरड फरड (अ), नांणो =

नाए (अ.इ) । खरू = तेऊं (उ) । मति = गति (अ), यो मती (इ), जो मति (उ) । अवहाडा = अवडाहा (उ) । घू = धु (आ) । 'अ' और 'उ' प्रतियो मे 'आनंदघन' के बाद प्रभु शब्द और है । अवर नै''''टोक = अवरनै दोक (आ) । अवर नै धु ढोक (उ) ।

शब्दार्थ—कतडो = कत, पति । खाटो = खट्टा । गोठडी = गोष्ठी । रन माहि = जगल मे । फोक = एक जंगली राजस्थानी पौदा जो सुखा कर साग आदि मे खाया जाता है, सत्व हीन । कामरण = कामिनी, जादू, मोहन शक्ति । लोकडा = लोगो मे । ठामे=स्थान मे । थोक = समूह, एकत्रित । आणु = समझती हूँ । उघराणी = उगाई, उधारी रकम । सिरड फिरड = धक्का खिलाने वाली, पागलपन । नाणो = रूपया, रकम । खरू = खरा, श्रेष्ठ । रोक= रोकडी । अवहाडानी बोक = कुवे से पानी निकाल कर डालने के स्थान (ढाणे) के पास बना छोटा कुंड । धोक=प्रणाम । अवर नै = अन्यको । टोक=रोक, वर्जन, मनाही, इनकारी ।

अर्थ—सुमति अपनी सखी श्रद्धा से कहती है—मेरे आत्माराम भरतार मुझे अत्यन्त प्रिय लगते है । मेरे स्वामी के अतितिक्ति अन्य लोग मुझे प्रिय नही लगते हैं—रूचिकर नही लगते है । स्वामी (आत्माराम) के बिना गोष्ठी, जगल मे फोक के समान है अर्थात् निस्सार है ॥१॥

मुझे पति में आकर्षण लगता है, अन्य लोगों मे शोक संताप दिखाई पडता है, क्यों कि ममता के वश सदा आर्त रौद्र ध्यान रहते है । दूध और कांजी किस प्रकार एक स्थान मे रखी जा सकती है ? एक ही हृदय में समता तथा ममता साथ कैसे रह सकती है ? जहाँ समता है वहां ममता नहीं रह सकती है, जो ममता के वशीभूत है उन्हे समता कैसे प्राप्त हो सकती है ॥२॥

सुमति कहती है—हे सखी श्रद्धा ! मेरे पतिदेव शुद्ध चेतन के बिना प्राणियों ने चारो गतियों में भ्रमण किया है, वह सब भ्रमण

व्यर्थ ही मानती हूं–समझती हूं। पैसा तो वही है जो नकद अपने पास हो, उगाई (उधारी) के पैसे को अपना पैसा मानना पागलपन है। जगह जगह धक्के खाना है ।।३।।

समता पुनः अपनी सखी श्रद्धा से कहती है—हे सखी! आत्माराम भरतार विना मेरी अवस्था अवहाडे की वोक – कुवे के ढाणे के पास बनी छोटी खेल (कुंड) के समान संकीर्ण हो गई है। अनुभव ज्ञान विना मेरी मति की ऐसी अवस्था है, अर्थात जिस भांति कुवे से संवंध होने पर पानी की कमी नही रहती, उसी, प्रकार मति का अनुभव से संवंध होने पर चेतन धारा हटती नही है अन्यथा मति की गति तो अवहाडे के वोक के समान है। आनंदघन प्रभु को मै वंदन करती हूं—प्रणाम करती हूं तथा आत्मभाव के अतिरिक्त अन्य भावों पर रोक देती हूं ।।४।।

शपथ पूर्वक पतिरंजन ५१ राग–जैजैवंती

मेरी सुं मेरी सुं मेरी सुं मेरी सौं मेरी री।
तुम्ह तैं जु कहा दुरी कहो नै सवेरी री ।।मेरी०।।१।।
रूठे देखि कै मेरी मनसा दुख घेरी री।
जाके संग खेलो सो तो जगत की चेरी री ।।मेरी०।।२।।
सिर छेदी आगै धरै और नहीं तेरी री।
'आनन्दघन' की सूं जो कहु हुं अनेरी री ।।मेरी०।।

पाठान्तर—सुं = सौ (अ)। 'मेरी सुं' की आवृत्ति 'इ.उ' प्रतियों मे तीन ही वार है। तथा मुद्रित प्रतियों मे–'क.व.वि' मे पाठ इस प्रकार है— "मेरी मु तुम ते जु कहा दुरी के होने स वैरी री (क.व)। मेरी सूं तुम ते जु कहा दुरी कहो न सवै वैरी री (वि)। दुरी = दुरा (अ.उ)। सवेरी री – सचेरी री (उ)। रूठे – भूठे (उ)। देखि = देखा (इ.उ)। जाके – जागे (आ)। सूं = सुं (आ), सौं (अ)।

शब्दार्थ—सुं या. सौ = सौगंध, शपथ। दुरी = दूर रहने के लिये, अलग रहने के लिये। सवेरी = शीघ्र। चेरी = दासी। छेदी = काटकर। अनेरी = अन्य, दूसरी।

अर्थ—सुमति अपने पति (स्वामी) चेतन से कहती है—मेरे से दूर रहने के लिये आपको जिसने कहा है उसका नाम कृपा कर शीघ्र बताइये, आपको मेरी शपथ है। अरे आप चुप चाप है, मै वार वार अपको सौगंध (शपथ) दिला रही हूं, पर आप बोलते क्यों नहीं है ?॥१॥

आपको रूठे हुये से देखकर मेरा मन दुख से घिर गया है—मै वहुत दुखी हूं। जिसके साथ आप खेल रहे है—रंगरेलियां कर रहे है वह (ममता) तो संसार की दासी है ॥२॥

जो अपना सिर काट कर आप के आगे रखदे उस ही को अपनी समझनी चाहिये और जो ऐसा न कर सके, वह अपनी नहीं है। अर्थात् जो अपना सर्वस्व आपके अर्पण न कर सके वह आपकी नही है। मै अपने स्वामी आनंद के समूह की शपथ खाकर कहती हूं कि जो मै कहती हूं, वही कर बताने वाली हूं। मै ऐसी नहीं हूं जो कहे कुछ और करे कुछ और। हे चेतन देव ! मै आप की ही हूं अन्य किसी की नहीं हूं ॥३॥

उत्साह दशा व शूरवीर-युद्ध ५२ राग—तोडी (टोडी)

चेतन चतुर चौगांन लरी री।

जीति लै मोहराज को ल्हसकर, मसकरि छांडि अनादि धरी री

॥चे०॥१॥

नांगो काढि लताड लै दुसमण, लागै काचो दोइ घरी री।

अचल अबाधित केवल मुनसफ, पावै शिव दरगाह भरी री ॥चे०॥२॥

और लराई लरैं सौ बौरा, सूर पछाडै भाव अरी री ।
धरम मरम कहा बूझै औरै, रहि 'आनन्दघन' पद पकरी री ॥चे०॥३॥

पाठान्तर—लै मोहराज = लीयै मोहराय के आगे की पंक्ति बहुत गड-बड है (उ)। काढि = काढ (इ), काटी (उ)। लताड = लताटि (आ)। दोइ = दोय (इ.उ)। मुनसफ = मुनराभ (अ), मुनसुफ (इ)। शिव दरगाह = सिव-पदगाह (इ.उ)। बौरा = बौरो (अ)। भाव = नांव (इ)। मरम = करम (आ), भरम (वि)। औरे = ओरइ (अ), उरे (उ)। रहि = रहे (इ.उ)।

शब्दार्थ—चौगान = मैदान। ल्हसकर=सेना। मसकरि=हँसी, दिल्लगी प्रमाद। अनादि धरी री = अनादि काल से धारण की हुई। नागी = नंगी तलवार। काढि = निकाल कर। लताड लै = पछाड दे, गिरादे। काची = कच्ची। दोइ घरी = दो घडी, ४८ मिनिट। अचल = निश्चल। मुनसफ = न्यायाधीश। दरगाह = सिद्ध पुरुष की समाधि, दरबार, कचहरी। बौरा = पागल। सूर = शूरवीर।

अर्थ—चेतना अपने पति चेतनराज से कहती है—हे चतुर चेतनराज! आप अनंत शक्ति शाली है क्या सोचते हो मैदान मारलो मोहराज की सेना राग-द्वेष, काम, क्रोध, माया लोभ मोह आदि से युद्ध करके विजय प्राप्त करलो। काल लब्धिका-भवस्थिति के परिपाक का-बहाना बनाना छोड कर,अपने पर लगे हुये मोह-पाश को तोड दो-नाश करदो ॥१॥

तीक्ष्ण रुचि रूपी नंगी तलवार निकाल लीजिये, और मोहरूपी शत्रु को परास्त कर दीजिये। यदि आप प्रबल वेग से आक्रमण करेंगे तो मोहके घुटने टेकने मे पूरी दो घडी भी नही लगेगी और आपको आधि व्याधि और उपाधि रहित निश्चल केवल ज्ञान प्राप्त हो जावेगा। वह केवल ज्ञान सत्यासत्य का निर्णायक सब से वडा न्यायाधीश है जिसे प्राप्त करने पर परिपूर्ण सुखों से भरा हुआ मोक्ष रूपी पवित्र स्थान प्राप्त होता है ॥२॥

प्रमुख शत्रुओं से न लडकर जो औरो से लडाई लडता है वह तो मूर्ख ही है—पागल ही है। क्यों कि अन्य मनुष्यों से तो लडाई क्रोध व द्वेष वश ही की जाती है। क्रोधी और द्वेषी मनुष्य अपने होश-हवास खो देता है। इस कारण वह पागल ही है परन्तु जो सच्चा पुरुष होता है वह तो भावों—उच्च श्रेणी—मे चढकर राग-द्वेष रूप सम्पूर्ण शत्रुओं को परास्त करता है। यदि राग-द्वेष पर विजय नही पाई तो नित्य नये शत्रु पैदा होते रहेगे। चेतन के मूल शत्रु राग द्वेष ही है जिसने इन पर विजय पाई, उसने त्रिभुवन पर विजय पाई, जिसने इन को जीता, वह त्रिभुवन नाथ होगया—जगत पूज्य हो गया। हे भोले चेतन! धर्म का मर्म (रहस्य) औरों से क्या पूछता फिरता है। तू तो इन आनंदघन प्रभु के चरण कमलों को पकडे रह अर्थात् तू अपने प्रत्येक कार्य मे आत्मा को न भूल, प्रत्येक प्रवृत्ति मे यह देख कि मै आत्म-भाव मे हू या अनात्म-भाव में हूं—पुद्गल भाव मे हू ॥३॥

अखंड स्वरूप ज्ञान ५३ राग—तोडी (टोडी)

साखी—आतम अनुभौ रस कथा, प्याला अजब विचार।
अमली चाखत ही मरै, घूमै सब संसार ॥*

आतम अनुभौ रीति वरी री
मोर बनाइ निज रूप अनुपम, तीछन रुचिकर तेग करी री ॥आ०॥१॥

---

* यह साखी 'आ' और 'इ' प्रति मे नही है। 'अ' और 'उ' प्रतियो में है। मुद्रित प्रतियो मे भी नहीं है।

टोप सनाह सूर को बानो, इकतारी चोरी पहरी री
सत्ताथल मे मोह विडारत, ए ए सुरजन मुह निसरी री
॥आ०॥२॥

केवल कमला अपछर सुंदर, गान करै रस रंग भरी री।
जीति निसाण बजाइ विराजै, 'आनंदघन' सरवंग धरी री
॥आ०॥३॥

पाठान्तर—चाखत = चाखती (उ)। ही मरै = हा मरे (उ)। घूमै = घूमरइ (उ)। अनुभौ = अनुभव (अ.आ.उ)। तीछिन = तीछन (अ.उ)। तेग करी = नेग करी (आ.उ) तेगधरी (क.व.वि.)। इकतारी चोरी = इकताली चोली (उ)। मुह = मोह (उ)। गान = ग्यान (उ)। रंग = रीति (आ)। विडारत = विदारत (क.व.वि)।

शब्दार्थ—अमली = नशेबाज, अमल मे (आचरण मे) लाने वाला। अनुभौ=स्वरूप प्राप्ति से होने वाला आनन्द। वरी = वरण कर लिया, स्वीकार कर लिया। मोर = मुकुट। तीछिन = तीक्ष्ण, तेज। तेग = तलवार। सनाह = कवच। वानो = भेष। इकतारी चोरी = एकाग्रता रूपी चोली। सत्ताथल मे = सत्तारूप युद्ध क्षेत्र मे। विडारत = छिन्न भिन्न करना, दूर करना। सूरजन = पंडित लोग। केवल कमला = केवल ज्ञान रूप लक्ष्मी। अपछर = अप्सरा रस रंग भरी री = प्रेम में लवलीन होकर। सरवंग = मस्तक।

अर्थ—आत्म अनुभव-रस-कथा का विचार अद्भूत है। इस रस का प्याला अमली–नशे बाज चखते ही मर मिट जाता है अर्थात् जो उस पर अमल (आचरण) कर लेता है वह उस पर मिट जाता है–आशक्त हो जाता है। अन्य लोग घूमते ही रहते हैं। साखी।

श्रद्धा सुमति से पूछती है–आत्म ने किस प्रकार अनुभव दशा से लग्न किया है। इसके उत्तर मे सुमति कहती है–हे सखी ! सुनो—

चेतन ने निज स्वरूप रूपी अनुपम मुकुट धारण किया फिर स्वरूप प्राप्ति के लिये गहरी रुचि रूप तेज तलवार को हाथ मे ली है ॥१॥

विशेष–इस पद में अनेक महत्वपूर्ण बाते है। यदि इस एक ही पद का लक्ष्य जीव (चेतन) को बना रहे तो उसे सिद्धि प्राप्त करने में विलम्ब नही लगेगा। जिसे आत्मानुभव प्राप्त करना हो, उसे सबसे पहिले अपना आदर्श–ध्येय स्थिर करना होता है। यहाँ साधक का लक्ष्य है–'निज स्वरूप प्रकट करना'। कायरो को–कम हिम्मत वालों को–ढिल मिल (अस्थिर) विचार वालों को इस मार्ग में सफलता नही मिलती, यह तो वीर पुरुषो का मार्ग है। जो यह विचार रखता हो कि या तो सफलता प्राप्त करूंगा या मर मिटूंगा, (देहं पातयामि वा कार्य साधयामि) वह ही इसमे सफलता प्राप्त करता है। केवल इच्छा से ही कोई वस्तु प्राप्त नहीं होती है। धूप की गरमी से भात (चांवल) नही पकता, चूल्हे मे डालने मात्र से ही सोना नही गलता। उस ही भांति इच्छा मात्र से कुछ नही होता है। तीक्ष्ण रुचि, दृढ़ संकल्प के बिना किसी कार्य मे सफलता नही मिलती। तीक्ष्ण रुचिवाला विघ्न-बाधाओं से नही घबराता, उसे मरने का भय नही होता। मरने का भय रख कर युद्ध विजय नही किये जाते। जिसने अपने स्वरूप को समझ लिया है, वही मृत्यु का भय छोड सकता है। यह आत्मा तो अविनाशी है और शरीर तो एक दिन नाश होने वाला ही है। ऐसे विचार प्रकट करना सरल है पर इस पर चलना कठिन है। जबतक अभ्यास नही किया जाता है प्रत्येक कार्य कठिन लगता है किन्तु अभ्यास के बल पर कठिन से भी कठिन कार्य आसान होते देखे जाते है। यदि मरण भय जीतने का अभ्यास किया जाय तो एक न एक दिन सफलता प्राप्त की जासकती है। हमने अनेक समय स्वकल्याण की इच्छा की, जिज्ञासु बने, मोक्षाभिलाषी कहलाये किन्तु इस इच्छा रूपी यथाप्रवृत्ति करण मे ही रहे, कार्य–सिद्धि देने वाली

तीक्ष्ण रुचि रूप अपूर्वकरण को प्राप्त नहीं किया। अपूर्वकरण विना किसी को कभी भी स्वरूप ज्ञान न तो प्राप्त हुआ और न होगा। इस तीक्ष्ण रुचि रूपी तलवार से ही मोह का नाश किया जा सकता है, सम्यक्दृष्टि प्राप्त की जासकती है।

शूरवीर का भेष धारण करके अर्थात् समता रूप टोप (शिरस्त्राण), त्याग व ब्रह्मचर्य रूप कवच तीव्र भावना रूप चोली पहन कर मोह को सत्ता से ही इस प्रकार छिन्न भिन्न किया कि अनुभवी पंडितों के मुहँ से प्रशंसात्मक शब्द निकल पडे। जिस प्रकार युद्ध क्षेत्र मे निज रक्षार्थ कवच, टोप आदि पहिरे जाते है उसी प्रकार मोहराज से युद्ध करने के लिये समता, त्याग, एकाग्रता की आवश्यकता है। मानसिक, वाचिक और कायिक चचलता के त्याग विना मोह-शत्रु के आक्रमण सहने की शक्ति कभी प्राप्त नही होती। इसके लिये एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यता है। यही शक्ति सर्व सिद्धिदाता है। आत्म-शत्रुओ को नाश करने वाली है ॥२॥

कर्म अनेक प्रकार के है किन्तु ज्ञानियों ने उन को आठ श्रेणियों मे विभक्त कर समझने मे सुविधा करदी है। इन मे से चार कर्मों ने जीव के मूल स्वरूप को ढक रखा है। इस लिये इन्हें घाती कर्म कहा जाता हैं। ज्ञान व दर्शन को ढकने वाले कर्मों को ज्ञानावरण व दर्शनावरण कहते है। आत्मा की अनन्त शक्ति को रोकनेवाले कर्म को अन्तराय कर्म कहते है। यह सारी विकृति मोह के कारण होती है। इस मोहनीय कर्म को ही सबसे प्रबल माना है। इस प्रबलता से ही यह 'मोहराज' कहलाता है। इस के नाश होते ही, ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों कर्म स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं।

प्रत्येक कर्म की चार अवस्थायें हैं–बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता। राग-द्वेष परिणामों के कारण कर्म पुद्गल का आत्मा से

संबध होने को बंध कहते है। कर्म की फलप्रद शक्ति को उदउ, उदय मे न आये हुये कर्मो को ध्यान-तप आदि के बल से उदय मे लाने को उदीरणा, कहते है। जो कर्म तो बंध चुके है किन्तु उदय-उदीरणा मे नही आये है, आत्मा के साथ लगे हुये है उन्हें सत्तागत कर्म कहा जाता है।

कवि ने इस पदमे मोह को सत्ता में ही नाश करने की बात कही है। मोह का बंध नवे गुणस्थान तक होता है। क्षपक श्रेणी-वालो के दशम गुणस्थान के अत मे मोह की सत्ता का नाश हो जाता है। यहाँ सुमति का साथ भी जाता है अर्थात् वह सुमति वीतराग परिणति रूप शुद्ध चेतना का रूप ग्रहण कर लेती है जिसका साथ कभी नही छूटता है।

इस प्रकार दसवे गुणस्थान में मोहराज का ध्वंस करके विजय दुंदुभी बजवा कर बारहवे गुणस्थान मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय कर्मो का नाश करके तेरहवें गुणस्थान में चेतन राज विराज मान हुये। चेतनराज के विजय प्राप्त करने पर रसरंग से भरी हुई केवल ज्ञान रूप लक्ष्मी सुंदर अप्सराओं के समान सुमधुर शब्दो से सारे विश्व की बाते बताती है और आनंद स्वरूप चेतन, ज्ञानलक्ष्मी रूप शुद्र चेतना को असंख्यात प्रदेशात्मक निज शरीर के प्रत्येक प्रदेश मे धारण कर लेता है ॥३॥

पराभक्ति की पूर्णता ५४ राग–विलावल सूहो

सुहागनि जागी अनुभौ प्रीति।

नींद अनादि अज्ञान की मेटि गही निज रीति ॥सु०॥१॥

दीपक घट मंदिर कियो, सहज सुजोति सरूप।

आप पराई आपु ही, ठानत वस्तु अनूप ॥सु०॥२॥

कहा दिखावुं और कुं कहा समझावुं भोर ।
तीर न चूकै प्रेम का, लागै सो रहै ठोर ॥सु०॥३॥
नाद विलूधो प्रान कुं, गिनै न त्रिण मृगलोइ ।
'आनंदघन" प्रभु-प्रेम की, अकथ कहानी कोइ ॥सु०॥४॥

पाठान्तर—अनुभौ = अनुभव (अ,आ उ) । दीपक····· कियो = घट मदिर दीपक कियो (क.व) सहज·····सरूप = सहज सहज ज्योति सरूप (उ) । तीर·····पेमका = तीर चूकै पेमका (उ)। तीर अचूक है प्रेम का (क.व)। प्रानकुं = प्रेमको (अ) । अकथ = अकह (इ) ।

शब्दार्थ—सुहागनि = सौभाग्यवती । अनुभौ = मति-श्रुति ज्ञान की परिपक्व अवस्था । सरूप = निजरूप, चेतन स्वरूप । ठानत=दृढ सकल्प करना, स्थापित करना । भोर = भोले मनुष्यो को । ठोर = स्थान । विलूधो = लुब्ध हुआ, आसक्त हुआ । त्रिण = तृण, घास । अकथ = अकथनीय, जो कही न जा सके ।

अर्थ—कवि आनन्दघनजी कहते है–मुझे सौभाग्यवती अनुभव प्रीति जागृत हो गई है। इस के जागृत होने मे मैने अनादि काल की मोह निद्रा (अज्ञान निद्रा) का नाशकर, स्वाभाविक दशा रूप निज परिणति ग्रहण कर ली है ॥१॥

इस पद से ऐसा ध्वनित होता है कि श्री आनंदघन जी को इस समय शुद्ध सम्यक्त्व प्राप्त हो चुका था।

श्रीमदराजचन्द्र जी ने अपनी दशा का स्पष्ट शब्दों मे इस प्रकार वर्णन किया है—

'ओगणीसे' नै सुडतालीसे, समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे।
श्रुत अनुभव वधती दशा, निज स्वरूप अवभास्युं रे॥

समयसार नाटक के कर्त्ता श्री बनारसीदास जी ने भी अपनी दशा का वर्णन इस प्रकार किया है—

अब सम्यक दरसन उनमान प्रगट रूप जानै भगवान ।
सोलहसै तिरानवै वर्ष समैसार नाटक धारै हर्ष॥३८॥
(अर्धकथानक)

हृदय रूपी मंदिर मे निज स्वरुप की सहज ज्योति का दीपक प्रज्वलित हो गया है जिस के प्रकाश मे अपनी व पराई वस्तु का निर्णय अनुपम रीति से होरहा है। तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व प्राप्त होने पर हेय-उपादेय, आत्मभाव व जड भाव का निर्णय अनोखी रीति से स्वयं तुरत हो जाता है ॥२॥

इस सहज ज्योति स्वरूप आत्मा को किस प्रकार दूसरे को दिखाऊँ व भोले (स्त्री, पुत्र व धन में आसक्त) प्राणियो को कैसे समझाऊँ; यह सौभाग्यवती अनुभव प्रीति आँखो से दिखाई नही देती तथा वाणी द्वारा इसके रूप का वर्णन नही किया जा सकता। जिस प्रकार शक्कर प्रत्येक प्राणी खाता है किन्तु शक्कर के स्वाद का वर्णन करना कठिन है, चखने से ही उसके स्वाद का अनुभव होता है। उसी प्रकार इस अनुभव प्रीति का स्वाद जिन्होंने आस्वादन नही किया ऐसे भोले लोगों को इसका स्वरूप कैसे समझाया जा सकता है, परन्तु एक सामान्य से उदाहरण द्वारा यह कहा जा सकता है कि इस अनुभव-प्रेम का तीर अचूक है—रामबाण है, जिसे यह तीर लग जाता है, वह स्थिर हो जाता है अर्थात् परिणामों की चंचलता मिट जाती है। उसकी वृत्तियें विषय-वासना मे न जाकर आत्मध्यान में लीन रहती है, मन बहिरात्म भाव मे नही जाता और सब क्रियायें सहज भाव से होती है, बल प्रयोग नही करना पडता। लोक लाज या कीर्ति प्राप्त करने के लिये या लोगों के दिखाने के लिये यह स्थिर भाव नहीं होता, बल्कि जो कुछ होता है सहज भाव से होता है ॥३॥

जिस प्रकार नाद (गायन) पर लुब्ध हरिण अपने प्राणों की तृण के टुकडे के समान भी परवाह नहीं करता, उसी प्रकार आनद स्वरूप प्रभु-प्रेम मे लीन व्यक्ति अपने प्राणो की तनिक भी परवाह नही करता। इस प्रभु-प्रेम की कथा तो अनिर्वचनीय है—अकथ है। इस लोक में इसे कोई विरले भाग्यशाली ही जानते हैं। शब्द शक्ति भी कितनी बलवती होती है कि हरिण उस पर लुब्ध होकर अपने प्राणों की परवाह नही करता, फिर चैतन्य सत्ता तो उस शब्द शक्ति से अनंतगुणी बलवान है। उस सत्ता में सम्पूर्ण वासनाओं को होमकर अपनी वृत्ति का लीन होना स्वाभाविक है परन्तु धन-कुटुम्ब की ममता मे फँसे लोग इस स्वाभाविक दशा को भी नहीं समझ सकते। जिन्हें इस सत्ता की अनुभूति हो जाती है प्राण जाने पर भी इसे नही छोडते ॥४॥

अभेद अनुभव ५५ राग-कान्हडो (आशावरी)

देख्यो एक अपूरव खेला।
आप ही बाजी आप बाजीगर, आप गुरू आप चेला ॥दे०॥१॥
लोक अलोक बिचि आप बिराजत, ग्यान प्रकाश अकेला।
बाजी छांडि तहाँ चढि बैठे, जहाँ सिन्धु का मेला ॥दे०॥१॥
वाग वाद षटवाद सहु मैं, किस के किस के बोला।
पाहण को भार कहा उठावत, इक तारे का चोला ॥दे०॥३॥
षट पद पद के जोग सिरीष सहै क्युं करि गज पद तोला।
आनदघन' प्रभु आइ मिलो तुम्ह, मिटि जाइ मन का झोला ॥दे०॥४॥

पाठान्तर—देख्यो = देखौ (इ.उ)। आप = आपही (उ)। लोक अलोक = लोकालोका (उ) बिराजत = विराजित (उ)। चढि = चढ (इ.उ)। भार=भर (आ)। कहा = कही (इ.उ)। जोग सिरिष = जोग सरीखी (इ.उ) करि = कर

(इ.उ)। 'तुम्ह' शब्द 'उ' प्रति मे नही है। मिटि जाइ = मिट जाय (इ.उ)।

शब्दार्थ—अपूरब = अपूर्व, अलौकिक। बाजी = खेल, संसार प्रपंच। बाजीगर = जादू के खेल दिखाने वाला, जादूगर। लोक अलोक = ये जैन पारिभाषिक शब्द है, लोक—जहाँ पचास्तिकाय हो; अलोक—जहाँ केवल आकाश हो, और पुद्गल और जीव आदि जहाँ न हो। सिन्धु = समुद्र। मेला=मिलाप। बागवाद = वाणी-विलास, तर्क-वितर्क। पटवाद = षट्दर्शन। पाहण = पत्थर। षटपद = भ्रमर, भौरा। झोला = सशय, चंचलता, परदा।

नोट—यह पद अ, आ, इ' प्रतियों मे दो पदो में है और 'उ' प्रति मे एक ही पद है। प्रथम दो पद—देख्यो""सिंधु का मेला ॥२॥' 'अ' प्रति में ६९ वा पद, 'आ' प्रति मे ५१वां पद, और 'इ' प्रति में ४३वा पद है। अतिम दो पद—'बागवाद""""मनका झोला ॥४॥' 'अ' प्रति मे २७वा, 'आ' प्रति मे ५२वा और 'इ' प्रति मे ४४वा पद है। मुद्रित प्रतियो मे दोनो भागो का एक ही पद है जैसा ऊपर है। वास्तव मे दो पद ही होने चाहिये। ऊपर जो दो भाग बताये गये हैं, उनके विषय पृथक-पृथक है; सम्बन्धित नही हैं। दोनो के ही एक-एक पद या अधिक, सग्रह कर्त्ता के दोष से अलग हो गये हैं जिनकी खोज असम्भव है।

अर्थ—कवि अभेद ज्ञान को बताते हुये कहता है—संसार मे एक अपुर्व-अलौकिक खेल देखा है। इस खेल की अलौकिकता यह है कि खेल और खेल दिखाने वाला पृथक पृथक नही है। जब अन्य खेलों मे खेल अलग होता है और खेल दिखाने वाला—सूत्रधार अलग होता है। इस खेल मे (जो देखा है) खेल भी स्वयं है और और सूत्रधार (खेल दिखाने वाला जादूगर) भी स्वयं ही है। आप ही गुरु है और आप स्वयं ही शिष्य है अर्थात चेतन स्वय ही गुरु है और स्वय ही शिष्य है। गुरु शिष्य मे अभेद है—खेल खिलाडी में भेद नही है ॥१॥

अलोकाकाश मे लोकाकाश स्थित है, उस लोकाकाश में यह चेतन सब स्थान मे वर्तमान है—विराजमान है। जहां केवल

मात्र ज्ञान का ही प्रकाश है। जहां पर राग-द्वेष रूप बाजी—खेल को त्यागकर चेतन उस स्थान पर चढ जाता है जिस स्थान पर अपने सदृश ही मुक्त आत्माओं के सुख समुद्र का मिलाप होता है ॥२॥

कवि ने इस पद मे मुक्तात्माओं के स्थान का संक्षिप्त मे वहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। अलोकाकाश मे लोकाकाश की स्थिति है। जहाँ पर धर्म और अधर्म द्रव्य है, जीव और पुद्गल है और आकाश है तथा इन पाँच द्रव्यों के प्रदेश एक दूसरे से संलग्न है अतः ये अस्तिकाय कहलाते है किन्तु काल द्रव्य के प्रदेश जुड़े हुये नही है—संलग्न नही है इसलिये यह द्रव्य होते हुये भी अस्तिकाय नही है। काल के लिये इसीलिये यह प्रसिद्धि है—"गया वक्त फिर हाथ नहीं आता।"

लोकाकाश के अंत मे मुक्तात्माओं के ठहरने का स्थान है। जहाँ अनत सुख अनत ज्ञान दर्शन और अनत शक्ति का मिलाप होता है। ऐसे स्थान पर चेतन पहुँच कर फिर कभी भी नीचे नही आता है।

आगे कवि कहते है—षड् दर्शन व सर्व मत मतान्तरों मे तो अनेक प्रकार के तर्क वितर्क भरे हुये हैं। इस वाणी विलास के पृथक पृथक राग की गहनता का थाह पाना वडा कठिन है। किस किस के वचनों को (मान्यताओं को) प्रामाणिक माना जावे। एक तार का-एक तत्व का—एक स्वास का यह चोला—शरीर इन षडदर्शन रूप पर्वतों का भार (बोझा) कैसे उठा सकता है? अर्थात अल्प आयु में अनेक दर्शनों की जानकारी करना पर्वत के समान भारी है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस छोटे से जीवन मे आत्मानुलक्षी बनकर ही सिद्धि प्राप्त की जा सकती है ॥३॥

(यहां षट्पद मे श्लेष है—अर्थ है—(भ्रमर और षड दर्शन) षटपद-भ्रमर के पैरों के समान षडदर्शनों के ज्ञान की आत्मज्ञान रूपी गजपद से कैसे तुलना की जासकती है? षडदर्शनो का ज्ञान

प्राप्त हो जाने पर भी आत्म-ज्ञान नही होता है। तब समानता कैसी ?

हे आनंद स्वरूप चेतन प्रभु! आपका साक्षात्कार हो जाय तो यह मन की सब उलझनें सुलझ जावे अर्थात मन का संशय और चंचलता नष्ट हो जावे।

आत्मज्ञान—भेद ज्ञान—की प्राप्ति ही मन की चचलता नाश कर देती है।

चतुर्गति चौपड ५६ राग–धन्यासी

कुबधि कूबरी कुटिल गति, सुबुधि राधिका नारि।
चोपरि खेलै राधिका, जीतै कुबिजा हारि ॥ साखी

प्रानी मेरो, खेलै चतुरगति चोपर।
नरद गजफा कौन गनत है, मानै न लेखे बुधिवर ॥प्रा०॥१॥
राग दोस मोह के पासे, आप बणाये हित धर।
जैसा दाव परै पासेका, सारि चलावै खिलकर ॥प्रा०॥२॥
पांच तलै है दुआ भाई, छका तलै है एका।
सब मिलि होत बराबर लेखा, इह विवेक गिणवेका ॥प्रा०॥३॥
चौरासी मांवै फिरै नीली, स्याह न तोरै जोरी।
लाल जरद फिरि आवै घर मै, कबहुक जोरी बिछोरी ॥प्रा०॥४॥
भीर विवेक के पाउ न आवत, तब लगि काची बाजी।
'आनन्दघन' प्रभु पाव दिखावत, तो जीतै जीव गाजी ॥प्रा०॥५॥

पाठान्तर—कुबधि = कुवद (इ), कुवुधी (उ)। कूवरी = कुवरी (उ)। सुवुधि = सुवुद्धि (अ.उ)। नारि = नारी (उ)। चोपरि = चोपर (उ)। कुविजा = कुब्जा (अ), कुवज्या (इ), कुवजाहारी (उ)। प्रानी.....चोपर = खेले चतुर

गति चोगरि, प्रानी मेरो (आ)। गंजफा = गंजीफा (अ.इ)। मानै = मोने (उ)। बुधिवर = बुद्धिवरं (उ)। राग दोस मोह के = राग दोम दोई मोह के (अ)। वणाये = वनाए (इ), विनाये (उ)। हितवर = हितवरं (उ)। मारि = सार (अ.इ.उ)। खिल्कर = खलकर (अ), खीलकर (क)। मिलि = मिल (इ.उ)। मांवै = मांचे (अ.इ.उ), माहे (क वि)। तोरै = तोरी (ट उ)। जोरी = जोरि (इ), जोर (उ)। भीर = धीर (अ), भाव (क.व.वि)। पाउ = पास (अ)। लगि = लग (अ.इ)। पाव = पौव (अ), पाउ (उ)।

शब्दार्थ—चतुर गति = चारों गतियें—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। नरद = चौपड की गोट, स्यार। गंजफा = एक प्रकार का छोटे पत्तो का खेल जिसमे आठ रंग और ९६ पत्ते होते है। दोस = द्वेष। हितवर = प्रसन्न होकर। मारि = गोटी। खिलकर = खेलकर। तलै = नीचे। पाच = संख्या-वाचक, पंचेन्द्रिय, पंचाश्रव। दुआ = दो, राग-द्वेष। छका = छै, छै काय के जीव, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, छै लेश्या। एक = एक, मन, आत्मज्ञान। चौरासी = ८४ लक्ष योनियें। नीली = नीली गोट, नीललेश्या। स्याह = काली गोटी, कृष्ण लेश्या। भीर = साझीदार। पाउ = पासे का दाव पौ बारह, शुद्ध स्वभाव। गाजी = धर्मयुद्ध विजेता वीर।

अर्थ—कवि ने चौपड खेल के माध्यम से जीवन चौपड की जो वाजी लग रही है उसे किस प्रकार जीना जासकता है, समझाया है। चौपड चार पट्टी और छियानवें खाने—घर की होती है। तीन चोकोर पासों से चौपड खेली जाती है। चार रंग—नीली (हरी) काली, (स्याह) लाल और पीली की १६ गोटियें—सारें होती हैं। प्रत्येक पासे मे पांच : • : के नीचे की ओर दो : का चिन्ह, और छै : : : के नीचे की ओर एक • का चिन्ह होता है। जिस तरह के चिन्ह के पासे सन्मुख (ऊपर की ओर) होते है, उसी के अनुसार गोट चलती है। गोटी का जव तक तोड नहीं होता अर्थात् वह दूसरी गोटी मारकर हटा नहीं देती तव तक वह अपने घर मे नही जा सकती है। यह

चौपड के खेल का स्वरूप है। आत्मा ने चार गति वाली चौपड खेल के लिये सजा रखी है। वह इसे विवेक पूर्वक खेलती है तो चौपड मे विजय प्राप्त कर लेती है, नहीं तो ८४ के चक्कर मे फसी ही रहती है। इसी भाव को कवि ने इस पद मे बताया है।

कुटिल—खोटी चाल चलने वाली कुबुद्धि—कूबडी कुब्जा के समान है और सुबुद्धि सही चाल चलनेवाली-राधिका के समान है। ये दोनो आपस मे चौपड का खेल खेलती है। बहुत बार कुबुद्धि कुब्जा के जीत के लक्षण प्रकट हो जाते है परन्तु अन्त मे सुबुद्धि राधिका की विजय होती है। कुबुद्धि कुब्जा हार जाती है।

मेरा प्राणी-आत्मा चतुर्गति—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवता रूप चौपड का खेल खेलता है। इस खेल की—गोटवाली चौपड और ९६ पत्ते और आठ रग वाले गजफा का खेल की क्या—समानता हो सकती है। चतुर्गति चोपड के सन्मुख इन खेलों की क्या गिनती है ? ये खेल इसके आगे तुच्छ है। विवेकशील इन खेलो को कोई महत्व नही देते है। बुद्धिमान कभी इन खेलो मे अपना समय व्यर्थ नही खोते है। वे तो जीवन की चौपड को महत्व देकर उसमे विजयी होना चाहते है ॥१॥

इस आत्मा ने चतुर्गति चौपड खेलने के लिये राग, द्वेष और मोह के पासे बडे प्रेम से बनाये है। जैसा पासा आता है उसी के अनुसार गोट (सार) चलाई जाती है। इस चतुर्गति चौपड मे आत्मा को राग द्वेष और मोह के कारण ही परिभ्रमण करना पडता है। अर्थात् रागद्वेष मोह की प्रवृत्तियों मे जैसी जैसी वृतियाँ उभरी है, उसके अनुसार ही आत्मा को गतियों और उत्पत्ति स्थानो मे जाना पडता है ॥२॥

चौपड के पासों मे पांच के चिन्ह के नीचे दो का चिन्ह है और छै के चिन्ह के नीचे एक का चिन्ह होता है। पांच और दो सात होते

है और छै और एक भी मिलकर सात होते है, जीवन की चौपड में विवेकशील प्राणी अपने विवेक से काम ले तो वह वाजी जीत जाता है, वरना भटकता ही रहता है। पाच का अर्थ है, पंचाश्रव और दो का अर्थ है, राग और द्वेप की प्रवृत्ति, छै का अर्थ है, पट्काय और एक का अर्थ है, असंयम प्रवृत्ति। इन पासो की चालो में विवेक नहीं रखा गया-पचाश्रवों मे और राग द्वेप की प्रवृत्ति मे और पट्काय हिसा और असयम मे लगे रहे—तो चार गति वाली जीवन चौपड में, पिटते रहे-मरते रहे, फिर वैठते रहे-जन्म लेते रहे तो वाजी हार की ओर चली जायगी। यदि विवेक को जागृत रखकर पचाश्रव, राग द्वेष पर अंकुश रख कर और षट्काय की हिसा और असंयम से निवृत्त होकर जीवन गोटी चलाई गई तो निश्चय पूर्वक खेल मे विजय होगी। अर्थात् भव भ्रमण नप्ट होकर लक्ष की प्राप्ति हो जायगी ॥३॥

चौपड में चार रग की गोटियां होती है। नीली (हरी), काली (स्याह), लाल, और पीली। इन्हें आत्मा की लेश्या-अध्यवसाय का प्रतीक समझना चाहिये। चौरासी खानों मे—चोरासी लाख उत्पत्ति स्थानों मे—नीली (हरी) गोट, स्याह गोट से अपनी जोडी न तोडकर (छोडकर) फिरती रहती है। लाल और पीली गोटी कभी कभी अपनी जोडी तोड कर अपने स्थान-घर मे—आ जाती है।

जव तक कृष्ण और नील लेश्या के अध्यवसाय आत्मा के साथ है तव तक आत्मा चौरासी मे भ्रमण करती ही रहती है। जव शुभ लेश्या के अध्यवसाय वाली आत्मा अशुभ लेश्या का साथ छोड देती है तो आत्म स्वभाव रूप घर मे आ जाती है। और फिर वह अपने लक्ष को प्राप्त करने मे समर्थ हो जाती है ॥४॥

जिस प्रकार चौपड के खेल में पौ नही आती है तव तक वाजी जीतने के आसार नहीं होते है अर्थात् गोटियाँ अपने गंतव्य की ओर नहीं जा सकती है। अतः वह वाजी (खेल) कच्चा (अधूरा) ही है।

उसी प्रकार आत्माके सिरी—साझीदार-विवेक के शुभ अध्यवसाय रूप पौ नही आती तव तक वह चतुगति रूप चौपड जीत नही सकता है। उसका खेल कच्चा ही रहता है। अर्थात् आत्मा अशुभ अध्यवसायों को त्याग कर शुभ अध्यवसायी नही होती तव तक अपने लक्ष की ओर अग्रसर नही हो सकती है।

आनंद की समूह आत्मा शुभ अध्यवसाय रूप या सम्यकत्व रूप पौ को प्रकट करे—दिखावे—तो गाजी (धर्म युद्ध में विजय वीर) वन कर वाजी—खेल–जीत लेता है। राग-द्वेप मोह आदि गत्रुओं पर विजय प्राप्त कर गाजी—विजय वीर वन जाता है ॥५॥❀

❀ इसी आशय का महात्मा सूरदास का एक पद श्री नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा सम्पादित 'सूरसागर' मे है। वह पद इस प्रकार है—

चौपरि जगत मडे जुग वीते।
गुन पांसे क्रम अंक चार गति सारि न कबहूं जीते ॥
चारि पसार दिसानि, मनोरथ, घर, फिरि फिरि मिलि आनै।
काम क्रोध मद सग मूढ़ मन खेल हार न मानै ॥
[illegible] विनोद वचन हित अनहित, बार बार मुख भाखै।
मानो बग ब[illegible]इ प्रथम, दिसि आठ-सात दस नाखै ॥
षोडष जुक्ति, जुवति चिति षोडष, षोडष वरस निहारै।
षोडष अगनि मिलि प्रजक पै छै दस अक फिरि डारै ॥
पद्रह पित्रकाज चौदह दस-चारि पठे, सर सांधै।
तेरह रतन कनक रुचि द्वादस-अटन जरा जग बांधै ॥
नहि रुचि पंथ, पयादि डरनि छकि, पच एकादस ठानै।
नौ दस आठ प्रकृति तृष्ना सुख सदन सात सधानै ॥

आशा व प्रमाद जय ५७ राग—आसावरी

जग आसा जंजीर की गति उलटी कुल मौर।
जकर्‌यो धावत जगत में, रहै छूटो इक ठौर ॥साखी॥
औधू क्या सोवे तन मठ में, जागि विलोकन घट मे ॥
तन मठ की परतीत न कीजै, ढहइ परै एक पल में।
हलहल मेटि खबरि लै घट की, चिन्है रमता जल में ॥औधू०॥१॥
मठ में पंच भूत का वासा, सांसा धूत खबीसा।
छिन छिन तोहि छलनकु चाहै, समझै न वौरा सीसा ॥औधू०॥२॥
निरपर पंच बसै परमेश्वर, घटमें सूछिम वारी।
आप अभ्यास प्रकासै विरला, निरखै धू की तारी ॥औधू०॥३॥
आसा मारि आसण धरि घट में, अजपा जाप जगावै।
'आनंदघन' चेतन मै मूरति, नाथ निरजन पावै ॥औधू॥०॥४॥

पाठान्तर—धावत = घात (आ)। रहै छूटो = वधै छूटै (इ), रहि छूटो (उ)। इक = एक (उ)। औधू = अवधू (अ.उ)। सोवै = सोवइ (उ)। मठ = मन (अ)। ढहइ = ढहि (इ.उ), ढहे (अ)। एक = इक (अ.उ)। चिन्है रमता = बिचरै समता (उ)। सांसा = सासा (इ.उ), संसा (अ)। धून = भूत (उ)। खबीसा = खईसा (इ), खवासा (उ)। सीसा = सासा (आ)। निरपर= सिर पर (क,७.वि)। सूछिम = सूछम (इ.अ)। प्रकासै विरला = लिखावै

पजा पंच प्रपंच नारि-पर भजत, सारि फिरि मारी।
चोक चवाउ भरे दुविधा छकि रस रचना रुचि धारी।
बाल किशोर तरुन जर जुगसों सुपक सारि ढिग ढारी।
सूर एक पो नाम बिना नर, फिरि फिरि बाजी हारी ॥६०॥

कोई (उ), लखे कोई (इ,क.व.वि)। निरखै=निरखत (उ)। ध्रू = ध्रु (अ.इ उ)। धरि = घर (उ)। मै = मय (अ.इ.उ)।

शब्दार्थ—गति = चाल। कुल = बिलकुल। मोर = मयूर, जीव। जकर्‌यो = बंधा हुआ। ठौर = स्थान। छूटौ = खुला हुआ। जागि = जागृत होकर। विलोकन = देखता, विचारता। परतीत = प्रतीति, विश्वास। ढहई= गिरना। चिन्है.....जल मे = जल मे खेलने वालो के चिन्ह (निशान) खोजना चाहता है। पंच भूत = पृथ्वी, जल, तेजस् (अग्नि), वायु और आकाश। धूत = धूर्त। सासा = श्वास। खवीता = बुराइयो का घर, दुष्ट, दानव। निर पर = जो पर (अन्य) नही है। सूछिम = सूक्ष्म। वारी = खिडकी। ध्रू = ध्रुव। तारी = तारा। आशा मारि = आशा-तृष्णा त्याग कर। आसण = स्थिरता। अजपा जाप = ध्वनि रहित जाप, मन मे चिंतन रहित होकर। चेतन मै = उपयोग मय। निरंजन = कर्ममल रहित।

अर्थ—संसार मे आशा-तृष्णा के बन्धन की और जंजीर (रस्सी) के बन्धन की चाल एक दूसरे से बिलकुल ही उलटी-विपरीत है। जंजीर-रस्सी-से बंधा हुआ तो अपने स्थान से थोडा सा भी इधर उधर नही हो सकता है किन्तु आशा-तृष्णा से जकडा हुआ प्राणी संसार मे दौड़ लगाता ही रहता है—भ्रमण करता ही रहता है और इस आशा-तृष्णा के बन्धन से छूटा हुआ—मुक्त हुआ—प्राणी एक स्थान पर स्थिर हो जाता है। वह भव-भ्रमण से मुक्त होकर आत्म सुखों मे स्थिर हो जाता है ।।साखी।।

हे अवधूत ! आत्मन् ! इस शरीर रूपी मठ में सोता हुआ क्या पडा है ? अचेत क्यों हो रहा है ? जग जागृत होकर—सचेत होकर- अपने घट को (हृदय को) देख। विचार कर कि क्या हो रहा है ? इस शरीर रूपी मठ (आवास) का किंचित भी विश्वास मत कर; इसका जरा भी भरोसा नहीं है कि न मालूम यह कब ढहकर क्षण मात्र मे भूमिसात हो जावे—गिर पड़े। इसलिये अपनी सम्पूर्ण हल-

चळ दौड रूप (मोह माया) को त्यागकर अपने हृदय को टटोल कि इसमे क्या है ? इस घट रूपी सरोवर के जल में रमण करने वाले आत्माराम् को पहचान ॥१॥

इस शरीर रूपी मठ में पंचभूत निवास करते हे। जिस प्रकार शरीर पच भूतो का निवास स्थान है अर्थात् पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु आकाश का स्थान शरीर है वैसे ही मठ भी इनसे निर्मित हे। और इस शरीर-मठ मे श्वास रूप धूर्त, दुष्ट दानव भी हे। जो क्षण क्षण मे छलना चाहता है अर्थात् बहकाता रहता है। हे मठ निवासी भोले अवधूत शिष्य ! तू इस वात को समझता क्यों नही है ? यह शरीर जड पुद्गलों से बना हुआ हे और तू ज्ञान धन चेतन हे। यह तुझसे विजातीय है। शरीर तो इन जड पदार्थो मे ही सुख मानने वाला हे। इसलिये तू इनके संयोग से अनादि काल से ठगा जाकर अपने चैतन्य स्वरूप को भूला हुआ है। इस भूल को अव सुधार ॥२॥

अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु इन पंच परमेश्वरों का तेरे मस्तक मे वास (निवास) हे और तेरे घट मे सम्यक्त्व रूप सूक्ष्म खिडकी है जिसके मार्ग से तू क्षायिक भाव रूप ध्रुवतारे का दर्शन कर सकता है। परन्तु यह प्रकाश किसी (विरले) भाग्यशाली को ही दीर्घ अभ्यास के द्वारा प्रकट होता है।

हृदय जव तक अनेक कामनाओं मे फँसा हुआ है, जब तक नाना प्रकार के सुखो की व भोगों की आशाये हृदय मे घर किये हुये है, तव तक आत्म-चिन्तन नही होता है। हृदय जव सव वासनाओं को त्याग कर केवल आत्म लक्षी हो जाता है तो उसे आत्म-दर्शन हो जाता हे ॥३॥

सम्पूर्ण आशाओं को मारकर (त्यागकर), मन में दृढ़ स्थिरता रूप आसन जमाकर जो अजपा जाप अर्थात् उच्चारण रहित-चिन्तन

रहित जाप–ध्यान, करता है तो वह आनन्द स्वरूप ज्ञान दर्शनमय निरजन स्वामी—परमात्मदेव को प्राप्त कर लेता है ॥४॥

आशायें त्यागे विना कोई भी आत्म साधना मे सफल नही हो सकता है। इस साधना मे आसन का भी बहुत बडा महत्व है। आसन से काया के योग पर अकुश रहता है। यदि शरीर ही स्थिर न रह सका तो मन का स्थिर होना असम्भव है। इसलिये यम-नियम के पश्चात् आसन योग का ही स्थान अष्टांग योग मे है। आसन में शरीर का शिथिलीकरण ही मुख्य है। ज्यों-ज्यों शरीर शिथिल होता जावेगा, त्यो-त्यों मन एकाग्र होता जावेगा। मन की एकाग्रता ही आत्मसिद्धि का द्वार है।

आशा जय ५८ राग–आशावरी

आसा औरन की कहा कीजै, ज्ञान-सुधारस पीजै ॥
भटकै द्वारि-द्वारि लोकनकै, कूकर आसाधारी।
आतम अनुभव रसके रसिया, उतरइ न कबहु खुमारी ॥आ०॥१॥
आसा दासी के जे जायै, ते जन जग के दासा।
आसा दासी करे जे नायक, लायक अनुभौ प्यासा ॥आ०॥२॥
मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अगनि परजाली।
तन भाठी अवटाइ पीयै कस, जागे अनुभौ लाली ॥आ०॥३॥
अगम पीयाला पीओ मतवाला, चिन्हे अध्यातम वासा।
'आनंदघन' ह्वै जग में खेलै, देखै लोक तमासा ॥आ०॥४॥

पाठान्तर—कहा = क्या (अ.आ)। ज्ञान = ताते ग्यान (इ.उ)। आसाधारी = आसाधारी रे (अ.इ)। उतरइ = उतरै (आ), ऊतरे (इ.उ)। कबहु = कबहू (आ), कबहु (इ), कब्रहूँ (उ)। जै = जग (अ)। अनुभौ = अनुभव (आ)। प्यासा = पियासा (उ), पिपासा (इ)। अगनि = अग्नि (अ)। भाठी = माठी

(आ), भठी (उ) । अवटाइ = अवटाई (अ.उ), औटाय (इ) । अगम = आगम (उ) । पीआला = पीआला (आ), पियाला (इ), प्याला (उ) । चिन्है = चीन्ह (आ), चीन्ही (इ), चीनी (उ) । आनन्दघन····खेले = आनंदघन वे जग में खेले (उ), आनन्दघन चेतन ह्वै खेलै (क.व.वि) । लोक = खलक (इ) ।

शब्दार्थ—ओरनकी = दूसरों की । द्वारि-द्वारि = घर-घर, दरवाजे-दरवाजे । कूकर = कुत्ता । खुमारी = नशा । जाये = जन्मे, जन्म लिया । नायक = नेता, स्वामी । मनसा = मनकी भावना । ब्रह्म = शुद्ध स्वरूप । परजाली = प्रज्वलित करके, जलाकर । भाठी = भट्टी । अवटाइ = औटाकर । कस = काढा, सत्व । अगम = अगम्य, गहन, दुर्लभ ।

अर्थ—श्री आनन्दघनजी उद्बोधन दे रहे है—दूसरों की आशा क्या करते हो ? दूसरे—जो अपने नहीं है, उनसे क्या आशा रखी जा सकती है ? पौद्गलिक सुखो से शांति एवं सुख की क्या आशा की जा सकती है ? वे तो क्षणिक सुख देकर (भुलावे—भ्रम मे डालकर) फिर दुख और अशांति के दाता है। इन पौद्गलिक सुखों की आशा-तृष्णा त्याग कर ज्ञान रूप अमृत रस का आस्वादन करो। इस अमृत रस के पीने से निरतर रहने वाले सुख और शांति की प्राप्ति होती है।

जो पौद्गलिक सुखों की आशा-तृष्णा के पीछे पडते है, वे उस श्वान (कुत्ते) के समान है जो भूंठे टुकडों की प्राप्ति की आशा लेकर लोगों के घर घर भटकता फिरता है। पौद्गलिक सुखों की आशा-तृष्णा लिये हुये भटकने से, वे सुख प्राप्त हो भी जाय, तो यह दुराशा मात्र है। इसलिये इन भूंठे सुखो की आशा त्यागकर जो आत्मानुभव रस के रसिकजन है, वे उस आत्मानुभव (ज्ञानामृत) रस को पीकर इतने मग्न (मस्त) हो जाते है कि उसका खुमार (नशा) कभी दूर होता ही नहीं है। वे सदा आत्मानन्द मे गर्क—डूबे हुए रहते है ॥१॥

संसार मे जीवन में रस पैदा करने वाली आशा ही है। वह भविष्य के नये-नये स्वप्न संजोती रहती है। आशा-तृष्णा ही संसार

है। (अतः आत्मोत्थान करने वालों को आशा का त्यागकर भव-भ्रमण को घटाना चाहिये) जो संसार को—भव-भ्रमण—को घटाना चाहते हैं, उन्हें आशा रहित होकर अनित्य अशरण आदि भावनायें अपनाना चाहिये। ये भावनायें आशाओं पर अंकुश का काम करती है।

आशा-दासी की जो संतानें है, वे संसार की दास है—गुलाम हैं क्योकि दासी के पुत्र तो दास ही होंगे, किन्तु जिन्होंने आशा को अपनी दासी बना लिया है—आशा दासी पर नेतृत्व कर अपने नियंत्रण में ले लिया है, वे स्वरूपानुभव की प्यास को तृप्त करने के अधिकारी है। आत्मानुभव के प्यासे, योग्य नेता है।

सांसारिक सुखों की आशा रखने वाले, वास्तव में जगत के दास ही है। वे प्रत्येक को प्रसन्न रखने के प्रयत्न में न मालूम क्या-क्या कर डालते है। दूसरों की खुशामद मे लगे रहते है। अतः वे दास है। जो दास वृत्ति धारण कर लेते हैं उन्हें कटु और अपशब्द सहन करने पड़ते है, और जिन्होंने आशा को दासी बना लिया है—अपनी आज्ञाकारिणी बना लिया है अर्थात् पौद्गलिक सुखों की आशा को त्याग दिया है वे आत्मानुभव के अधिकारी बन गये है ॥२॥

आत्म शुद्धि की इच्छा रूप प्याले मे स्वाध्याय रूप मसाला भर कर ब्रह्म-आत्म-तेज (तप) रूप अग्नि प्रज्वलित कर शरीर रूपी भट्टी मे औटाकर जो उस मसाले का सत्व (कस) पीते है उन्हें अनुभव ज्ञान रूप लालिमा प्रकट हो जाती है ॥३॥

इस पद में कवि ने रूपक द्वारा आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया को समझाया है। ध्यान, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मा शुद्ध, शुद्धतर और अन्त मे शुद्धतम अवस्था को प्राप्त हो जाती है। अतिम अवस्था में पहुँचने पर उसे ज्ञान रूप लालिमा—प्रकाश प्राप्त हो जाता है।

यह ऊपर बताया हुआ सत्व (कस) से भरा हुआ प्याला अगम्य है—उसकी विशेषतायें हर व्यक्ति की समझ से बाहर है। उसे तो वे ही पहचानते है जो अध्यात्म मे निवास करने वाले है। अर्थात् जो बहिरभाव में नहीं रहते और आत्मभाव में रमण करते है। ऐसे ही जन इस प्याले का आस्वादन कर मग्न हो जाते है। इसलिये इस रस के रसिको!—आत्मोद्धार के पथिको! इसका आस्वादन करो—पीओ। जिसने इस रस का आस्वादन कर लिया वह अबाधित आनन्द समूह चेतन बनकर चौदह राजु लोक का तमासा देखता है अर्थात् लोक मे हुई, हो रही और होने वाली घटनाओं को देखता है। इस प्रकार शुद्ध बुद्ध मुक्त बन जाता है।

त्रिपदी रहस्य **५६** **राग—आसावरी**

(द्रव्य, गुण और पर्याय)

अवधू नटनागर की बाजी, जाणै न बांभण काजी ॥

थिरता एक समय में ठानै, उपजै विनसै तबही।

उलट पुलट ध्रुव सत्ता राखै, या हम सुनी नही कबही ॥अव०॥१॥

एक अनेक अनेक एक फुनि, कुंडल कनक सुभावै।

जल तरंग घट माटी रविकर, अगनित ताइ समावै ॥अव०॥२॥

है नाहीं नही वचन अगोचर, नै प्रमाण सतभंगी।

निरपखि होइ लखै कोइ बिरला, क्या देखे मतजगी ॥अव०॥३॥

सरब मई सरवंगी माने, न्यारी सत्ता भावै।

'आनन्दघन' प्रभु वचन सुधारस, परमारथ सो पावै ॥अव०॥४॥

पठान्तर—बांभण = वांभण (उ)। समय = समै (आ), समे (इ)। उलट पुलट=उलट ध्रुव (आ)। या=एह (उ)। सुनी=सुणी (इ)। नही=न (उ)। एक=एकहु (इ), एकही (उ)। सुभावै=सुतावै(आ)। तरंग=तरंगे (उ)।

घट = घर (आ)। है नांही नही = है नहि नही है (आ), है नाही है (इ), है नाही हे (उ)। नै = नय (अ.इ.उ)। निरपखि = निरपख (इ.उ)। मत = मति (आ)। मइ = माहि (अ)। न्यारी = नारी (उ)। सुधारस = अगोचर (उ)।

शब्दार्थ—अवधू = संसार से निर्लिप्त महात्मा। नागर = चतुर। वाजी = खेल। वांभण = ब्राह्मण, पंडित। थिरता = स्थिरता। ठानै = ठानता है, संकल्प करता है। उपजै = उत्पन्न होता है। विनसै = नष्ट होता है। उलट पुलट ध्रुव सत्ता राखै = रूप वदलता हुआ भी अपना अस्तित्व रखता है। फुनि = पुनि, फिर। कनक = स्वर्ण, सोना। कुंडल = कान मे पहिनने का जेवर। कुंडल कनक सुभावे = सोने के कुंडल को तुडाकर फिर दूसरा गहना वना लिया जाता है किन्तु उसका स्वर्णपना वैसा का वैसा ही रहता है। ताइ = उसमें। समावे = समा जाती है, प्रवेश कर जाना। नै = नय, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवंभूत ये सात नय है। सतभंगी = सप्तभंगी न्याय, स्यात् अस्ति, स्यात नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्तिनास्ति अवक्तव्य। निरपखि = निरपक्ष, पक्षपात रहित। मतजगी = अपने मत मे मस्त, साम्प्रदायिक विवाद की रुचि वाला। सरवंगी = सव नय प्रमाण, सप्तभगी नय।

अर्थ—इस पद मे जैन दर्शन के अनोखे सिद्धान्त—द्रव्य-गुण और पर्याय का सुन्दर वर्णन है। द्रव्य सदा (त्रिकाल मे) एक-सा रहता है चाहे उसके रूप सदा परिवर्तन होते ही रहें। द्रव्य के द्रव्यत्व का कभी नाश नही होता है। रूप सदा परिवर्तनशील होते है। आत्मा (जीव) पर्यायों के कारण सदा अन्य-अन्य रूप वदलता रहता है किन्तु फिर भी आत्मा–आत्मा ही रहता है। स्वर्ण एक रूप (कुंडल अंगूठी आभूषण आदि) से बार बार गलकर और–और रूप मे प्रकट हो जाता है किन्तु फिर भी वह स्वर्ण का स्वर्ण ही रहता है। इस वात का दिग्दर्शन इस पद मे किया गया है।

हे अवधू ! शरीर रूप नगर में वास करने वाला आत्मा रूप चतुर नट का खेल बडा ही विचित्र है। इसके रहस्य को वेदज्ञ ब्राह्मण और कुरानपाठी काजी जैसे बुद्धिमान पुरुष भी नही जान सके है।

यह आत्मा एक ही समय मे उत्पन्न होता है फिर उसी समय नाश को प्राप्त हो जाना है, और उसी समय में अपनी निश्चल सत्ता में स्थिर (अटल) रहता है। यह उत्पाद-व्यय की उथल-पुथल सदा चलती रहती है किन्तु यह आत्मा अपनी ध्रुव सत्ता को कभी नही छोडता है। उत्पन्न होना, विनाश होना एवं उसी समय ध्रुव (स्थिर) रहना, यह बडी विचित्रता है। जो हमने कभी नही सुनी। हमने ही क्या, बडे बुद्धिमान वेदज्ञ ब्राह्मण और कुरान-पाठी काजी ने भी नही सुनी ॥१॥

जैन दार्शनिकों ने पदार्थ के स्वरूप का नाश न होना, नित्य का लक्षण माना है। इस लक्षण के अनुसार प्रत्येक द्रव्य मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जाते है। जैन दर्शन के अनुसार जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त हो उने सत् अथवा द्रव्य कहते है। आत्मा पूर्व भव को त्याग कर उत्तर भव ग्रहण करती है और दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा समान रूप से रहती है। इससे आत्मा में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सिद्ध होता है।

'उपन्नेइ वा विगमेइ वा ध्रुवेइ वा' इन तीन पदों पर ही—सिद्धान्तों पर—ही जैन दर्शन की नींव स्थिर है।

एक के अनेक रूप हो जाते है, अनेक फिर भी एक ही है। स्वर्ण का कुंडल हो जावे, अनेक प्रकार के अनेक आभूषण बन जावे फिर भी स्वर्ण तो स्वर्ण ही रहता है। स्वर्ण का स्वर्णत्व सब आभूषणों में विद्यमान रहता है। वह कभी नाश नही होता है।

उसी प्रकार आत्मा एक द्रव्य तथा मनुष्य, गाय, बैल, कबूतर, शुक, पिक, देव नारक आदि उसके पर्याय है। इन पर्यायों मे आत्मा सदा, सर्वदा वैसा का वैसा ही रहता है।

जल तरंग मे भी पूर्व तरंग का व्यय, नवीन का उत्पाद है, किन्तु जलत्व तो दोनों मे ध्रुव रूप से देखने मे आता है। वैसे ही मिट्टी का घट आकार रूप उत्पाद, टूटने पर ठीकरे रूप मे व्यय, किन्तु इन दोनों अवस्थाओं मे मिट्टी का रूप एक ही है। सूर्य की किरणो मे भी उत्पाद, व्यय और ध्रुवता देखने मे आती है। अर्थात् सूर्य की किरणे अनेक दिशाओं मे फैलकर अनेक दिखाई देती है किन्तु सूर्य रूप मे वे एक ही है ॥२॥

है, नहीं है और वचन से जो कहा नहीं जा सकता, ऐसा स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्याद् अवक्तव्य इन तीनो भेदो के चार उत्तर भेद—(स्याद् अस्ति नास्ति, स्याद् अस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य)—मिलने से सप्तभगी स्याद्-वादनय, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, निश्चय और व्यवहार नय और नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत नयों के प्रमाणों से परीक्षा करके आत्मा के वास्तविक स्वरूप को कोई भाग्यशाली ही अपना पक्षपात त्याग कर ही जान सकता है। लेकिन जो कद्राग्रही है, विवादी है वे इसके वास्तविक स्वरूप को क्या जान सकते है ॥३॥

कितने ही परमात्मा को सब जड-जगम और सब स्थानों में व्याप्त मानते है किन्तु फिर भी उसकी अलग सत्ता स्वीकार करते है। श्री आनन्दघनजी कहते है—आनन्द स्वरूप भगवान के अमृतमय वचनों को जानते है, उनके वचनों पर विश्वास करते है, वे ही परमार्थ (मोक्ष) को प्राप्त करते है ॥४॥

अनेकान्तवादी आत्मा को शुद्ध ज्ञान की अपेक्षा सर्व व्यापी मानते हैं और वस्तु की अपेक्षा सर्व व्यापी नहीं मानते हैं। जाति की अपेक्षा, आत्मा को एक और वस्तु की अपेक्षा से आत्माओं को पृथक-पृथक मानते हैं। जो इस रहस्य को जान गये ह वे ही परमार्थ को प्राप्त करते हैं ॥

क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्ति ६० राग–आसावरी

अवधू ! अनुभव कलिका जागी, मति मेरी आतम सुमरिन लागी ॥
जाइ न कवहु और ढिग नेरी, तोरी वनिता वेरी।
माया चेरी कुटंव करी हाथे, एक डेढ़ दिन घेरी ॥अव०॥१॥
जामन मरन जरा वसि सारी, असरन दुनियां जेती।
दे ढवकाय न वा गमै मीयां, किस पर ममता ऐती ॥अव०॥२॥
अनुभव रस में रोग न सोगा, लोक वाद सव मेटा।
केवल अचल अनादि अवाधित, शिव शकर का भेटा ॥अव०॥३॥
वरषा वूंद समुंद समानै, खवरि न पावै कोई।
'आनन्दघन' ह्वै जोति समावै, अलख लखावै सोई ॥अव०॥४॥

पाठान्तर—सुमरिन = सुमिरन (आ), सुमरन (इ.उ), सू मिल्न (क)। जाइ = जो (अ), जायँ (इ)। कवहु = कधु (उ)। तोरी = तेरी (इ.उ)। वेरी = चेरी (अ)। चेरी = वेरी (आ.उ)। करी हाथे = कडी हाथे (आ)। जामन = काया (उ)। दे ढवकाय''''मीया=डेढ वकाय न वाग मे मीया (आ), डे ढव कायण वागमे पीया (उ), देढव कांई न वाग मे मीयां (व)। पर = परि (आ)। ममता = मनता (उ)। अनुभव = अनुभौ (इ)। रोग = राग (उ)। वाद = वेद (आ), वेट (उ)। सव = मत (उ)। शंकर का = संकर की (अ)। वूंद = वुंद (आ), समुंद = ममुद (अ)। समानै = समानि (आ) समानी (इ), खवरि = खवर (इ.उ)। ह्वै = है (आ)।'इ' प्रति मे 'है' या 'ह्वै' शब्द नहीं है,

की (उ)। जोति समानै = ज्योति समावे (आ), जोत जगावै (उ)। लखावै = कहावे (आ)।

शब्दार्थ—जागी = जागृत हो गई, विकसित हो गई। मति = बुद्धि। ढिग = पास। नेरी = निकट। वनिता = विवशता। वेरी = वेडी। चेरी = दासी घेरी = घेरा डालकर। वसि = वश मे करके। सारी=सव की। असरन = प्रभाव रहित, अशरण। दे ढवकाय = त्याग दे, दवा दे। न वा गमे = वो अच्छी नही लगती। लोकवाद = संसार के अन्यवाद, संसार के अन्य मत मतान्तर। भेटा = मिलन।

अर्थ—हे अवधू ! अब अनुभव ज्ञान रूपी कली विकसित हो गई है, इस कारण मेरी मति (बुद्धि) आत्म-स्मरण मे लग गई है—आत्म रमण मे लग गई है। अब आत्म भाव के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु मे—अन्य किसी भी भाव के निकट नहीं जाती है। उसने (मेरी मति ने) विवशताओ की बेडी (बधन) को तोडकर माया-दासी तथा उसके परिवार (लोभादि) को चारो ओर से एक डेढ दिन का घेरा डालकर अपने हाथ कर लिया है—अपने वश मे कर लिया है। अब ये (माया लोभादि) कुछ विगाड नही कर सकते है ॥१॥

यह सम्पूर्ण ससार जन्म, मृत्यु वृद्धावस्था के वशीभूत है, इस लिये अशरण है, अर्थात् संसार मे ऐसा कोई नहीं है जिस पर इनका प्रभाव न हो किन्तु अनुभव ज्ञान रूपी कलिका के विकसित होने से जन्म, मृत्यु और जरा का मुझ पर कोई प्रभाव नही है। मुझे तनिक भी भय नही है। मुझे ये तनिक भी अच्छे नहीं लगते है और न इन पर मेरा ममत्व ही है इसलिये मैने इन्हे दूर कर दिया है—छोड दिया है ॥२॥

अनुभव के रसा स्वादन से शारीरिक रोग और मानसिक शोक-संताप नही रहते है। आत्मा और शरीर के भेद-ज्ञान का नाम ही अनुभव है। आत्मा, ज्ञान स्वरूप और आनन्द

स्वरूप है। शरीर, रोगों का और मन शोक-संतापों का घर है। भेद ज्ञानी मानसिक व शारीरिक दुखों से कभी दुखी नहीं होता है। वह तो दर्शक बनकर देह और मन का नाटक देखता है और अपने ज्ञानानंद मे मग्न रहता है। अनुभव ज्ञान होने पर निन्दा-स्तुति लोकापवाद दूर हो जाते है—इनका कुछ असर नहीं होता है। यहाँ (अनुभव ज्ञान मे तो) केवल अचल, अनादि, बाधा रहित कल्याण-कारण, मंगलदायक चैतन्य शक्ति का साक्षात्कार रहता है ॥३॥

वर्षा की बूंद जिस भांति समुद्र में समा जाती है—मिल जाती है और फिर उस बूंद की किसी को खबर नहीं लगती है कि वह बूंद कौन सी है वह तो समुद्र रूप हो जाती है। उसी भांति अनुभव ज्ञानी आनंदराशी की ज्योति मे समा जाते है—सिद्ध परमात्म स्वरूप प्राप्त हो जाते है, इसलिये अलख-अलक्ष्य हो जाते है क्योंकि इस विषय पर विचार एवं लेखनी की गति नही होती। समुद्र मे वर्षा की बूंद की खोज नहीं हो सकती क्योंकि वह समुद्रमय बन जाती है वैसे ही चेतन विशाल आनन्द समुद्र बन जाता है ॥४॥

नोट—इस पद में द्वितीय द्विपदी के दूसरे चरण "दे ढवकाय न वा गम मीया" का अर्थ स्पष्ट नही हो पाता है। हमने इसका अर्थ पूर्वापर के सम्बन्धों को देखते हुये खैंचतान करके लगाया है। इस पद का अर्थ 'आनन्दघन पद सग्रह', के विवेचन कर्त्ता श्रीमद् बुद्धिसागर सूरीश्वर ने और ही दिया है, वह यहाँ दिया जाता है। उनका पाठ है—"देढव कांई न बाग मे मीयां किस पर ममता ऐती" उन्होंने जो अर्थ किया है उसका सारांश यह है—"सब जीव जन्म, जरा और मृत्यु के वश में पडे हुये है। संसार मे उन्हे कोई शरण नहीं है। मृत्यु से उनकी रक्षा करने वाला कोई नही है। संसार मे दुखकारक पदार्थों को सुखकारक मानकर जीव उसमें फँस रहे है। जीव सुख का उपयोग करने का प्रयत्न करता है परन्तु उसे दुख ही प्राप्त होता

है। फिर भी सांसारिक जीव वाह्य वस्तुओं की ममता को छोडता नही है। इस पर दृष्टान्त देकर इसकी पुष्टी में कवि कहते है—कोई मीयां वाग मे मीठी व कडवी निवौली (नीम का फल) एकत्रित कर रहा था। उस समय उसकी बीवी से किसी ने आकर पूछा कि मीयां कहां गया ? बीवी ने कहा बाग मे गया है। मीयां निवौली एकत्रित कर रहा है उसी प्रकार सासारिक जीव दुख भोगते हुए सुख मानता है, परन्तु अज्ञान भ्रांति से मियां के बाग मे निबौली लेने की तरह वेदनीय कर्मरूप कडवी निबौली एकत्रित की तो उसे कडवा ही स्वाद आयेगा। सांसारिक पदार्थो पर ऐसी ममता रखना योग्य नही है।

अनिर्वचनीय रूप **६१** **राग-गौडी**

निसाणी कहा बतावु रे, वचन अगोचर रूप ।।
रूपी कहुं तो कछु नहीं रे, बधइ कइसइ अरूप ।
रूपारूपी जो कहुं प्यारे, अैसे न सिद्ध अनूप ।।नि०।।१।।
सिद्ध सरूपी जो कहूँ रे, बंध न मोख विचार ।
न घटै संसारी दसा प्यारे, पाप पुण्य अवतार ।।नि०।।२।।
सिद्ध सनातन जो कहूँ रे, उपजइ विरणसइ कौन ।
उपजइ विरणसइ जो कहूँ प्यारे, नित्य अबाधित गौन ।।नि०।।३।।
सरवंगी सब नइ धणी रे, मानै सब परवान ।
नयवादी पल्लो गहै (प्यारे), करइ लराइ ठान ।।नि०।।४।।
अनुभव गोचर वस्तु को रे, जारिणवो इह इलाज ।
कहण सुणण कु कछु नहीं प्यारे, 'आनन्दघन' महाराज ।।नि०।।५।।

पाठान्तर—वतावु = वताउं (इ)। वचन···रूप = तेरो अगम अगोचर रूप (अ)। तो = तउ (आ, इ उ)। वंधइ = वधै (इ) वदै (उ)। कइसइ =

कसइ (ग्रा), कैसै (इ), के सै (उ)। अैसे = इसे (उ)। सिद्ध = सुद्ध (ग्रा.उ)। जो = जउ (आ)। उपजइ = उपजै (ग्र.इ)। विगासइ = विगसै (आ)। 'उ' प्रति मे पद संख्या २ के स्थान पर तो तीन पद संख्या है और तीन के स्थान पर दो है। यथा—सुद्ध सरूपी जो कहू रे, उपजै विरागै कौन। उपजै विगसे जो कहू प्यारे, नित्य अवाधित गोन ॥२॥ सिद्ध सनातन जो कहूँ रे, बंधन मोक्ष विचार। न घटे संसारी दसा, पुण्य पाप अवतार ॥३॥ नइ = नै (आ)। गहै=गहइ प्यारे (अ), गही प्यारे (इ)। करइ=करै (इ), करे (उ)। अनुभव= अनुभौ (इ)। को रे=हे रे (उ)। जाणिवो = जाणिवउ (ग्रा), जाणवौ (इ), जाणवो (उ)। इह इलाज= इहै लाज (ग्रा), एह इलाज (इ), एहि इलाज (उ)।

शब्दार्थ—निसाणी = पहिचान। वचन''''रूप = वचनातीत, वचन-वाणी से जिसका रूप कहा न जा सके। रूपी = रूप वाला, साकार। अरूप= रूप रहित, निराकार। सिद्ध सरूपी = सिद्ध आत्मा जैसा। सनातन = अनादि। नित्य = साश्वत। अवाधित = वाधा रहित। गौन = गमन, गति। सरवंगी = सर्व रूप अनेकान्तवादी। सब नइ धणी रे = सब दृष्टियो के धारक। परवान = प्रमाण। नयवादी = न्याय शास्त्री, तर्कवादी, एक ही दृष्टिकोण को मानने वाला। पल्लो = किनारा, अंग। ठान = आयोजन करके, संकल्प करके।

अर्थ—चेतन—आत्मा के स्वरूप की मीमांसा करते हुये श्री आनन्दघन कहते हैं—चेतन की क्या पहिचान वताऊँ, उसका स्वरूप तो वचनातीत है। वाणी द्वारा उसका रूप नहीं वताया जा सकता है। यदि उसे रूपी—आकार वाला—कहता हूं तो वह कहीं दिखलाई नहीं देता है और यदि उसे अरूपी—निराकार कहता हूं तो कर्मो के वंधन मे अरूपी कैसे बंध सकता है? यदि चेतन को रूपी-अरूपी-साकार, निराकार उभय रूप कहता हूं तो अनुपम (जिसकी कोई उपमा नहीं) सिद्ध भगवान का वह स्वरूप नहीं है अर्थात् सिद्ध भगवान के लक्षण से मेल नहीं वैठता है क्योकि सिद्धों के कोई रूप नहीं है ॥१॥

यदि चेतन को सिद्ध स्वरूपी और (वर्ण, गंध, रस स्पर्श रहित) कहता हूं तो फिर बंध और मोक्ष का विचार ही नही हो सकता,

क्योंकि जो सदा शुद्ध है वही बंधन में पडे तो मुक्त जीव भी बन्धन में पडेगे, फिर किसी आत्मा के लिये मुक्त शब्द चरितार्थ ही नही होगा, और सिद्ध स्वरूपी कहने से सांसारिक दशा भव भ्रमण सिद्ध नही होता है तथा पुण्य कर्म के अनुसार मनुष्य और देव रूप मे जन्म लेना तथा पाप के फलस्वरूप नरक तिर्यंच मे जन्म लेना घटित (सिद्ध) नहीं होता है ॥२॥

यदि चेतन को अनादिकाल से सिद्ध कहता हूं तो पैदा होने वाला और मरने वाला कौन है ? जो उसे उत्पन्न और विनाश होने वाला कहता हूं तो उसके नित्यत्व और अबाधितत्व का लोप हो जाता है ॥३॥

चेतन सर्वांगी रूप है, सब नयों का स्वामी है अर्थात् इसमें सब नय सिद्ध होते है–घटते है। जो इसे प्रमाण ज्ञान द्वारा समझने का यत्न करते है वे इसके स्वरूप को समझ सकते है, अर्थात् अनेकान्त दृष्टियों से चेतन का स्वरूप समझा जा सकता है, किन्तु नयवादी एक ही दृष्टिकोण को ग्रहण कर (अपना कर) विवाद (झगड़ा) करते रहते है ॥४॥

शास्त्रों मे नय का लक्षण—'अनंत धर्मात्मके वस्तुन्येकधर्मोन्नयन ज्ञान नय:', वस्तु के अनेक धर्म होते है उनमे से किसी एक धर्म को प्रधानता देने वाले और दूसरे धर्मो को गौण रखने वाले ज्ञान को 'नय' कहते है। नय, वस्तु के एक देश का ही ज्ञान कराने वाला होता है। इससे वह प्रमाण ज्ञान नही कहा जा सकता है। वास्तव मे वस्तु मे अनेक धर्म होते है उन धर्मो को बताने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा जाता है—"सकलधर्म ग्राहकं प्रमाणं" तथा "स्व पर व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्"। वस्तु के अशग्राही ज्ञान को नय कहते है। अतः वह प्रमाणिकता की कोटि मे नहीं आता है क्योकि वस्तु मे अनेक धर्म विद्यमान है। सर्व अंशों के ज्ञान को ग्रहण करके वस्तु के स्वरूप की

ओर ले जाने वाले ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते है। प्रमाण ज्ञान अनेकान्त दृष्टियों वाला होता है। वही वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने वाला है। चेतन का स्वरूप तो प्रमाण ज्ञान से ही समझा जा सकता है। वेदान्ती, बौद्ध, सांख्य दर्शनी आदि नयवादी वस्तु के एक देश धर्म को ही प्रधानता देकर झगड बैठते है—विवाद कर बैठते है।

(१) नैगम, (२) संग्रह, (३) व्यवहार, (४) ऋजुसूत्र, (५) शब्द, (६) समभिरूढ, (७) एवंभूत ये सात नय है। प्रत्येक नय वस्तु के एक धर्म को ही बताता है।

व्यवहार और नैगम नय की अपेक्षा से चेतन रूपी कहा जाता है और निश्चय नय की अपेक्षा से अरूपी कहा जाता है। सांसारिक जीव कर्मवर्गणा की अपेक्षा रूपी, और रुचक प्रदेश, कर्मवर्गणा से अलिप्त होने से वह अरूपी कहा जाता है।

सग्रह नय की अपेक्षा से आत्मा की केवल सत्ता ग्रहण की जाती है क्योंकि चेतन स्वयं उत्पन्न नही होता, और न स्वयं मरता ही है। वह जैसा है, वैसा ही रहता है।

व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा द्रव्यत्व से नित्य है और पर्याय से अनित्य है। ऋजुसूत्र की अपेक्षा से वर्तमान में वस्तु का जो रूप है उसे ही प्रधानता दी जाती है।

शब्द नय की अपेक्षा से एक शब्द के अनेक पर्याय होने पर भी जो शब्द बोला गया है उसका ही ग्रहण किया जाता है, उसके पर्यायों का ग्रहण नही किया जाता।

इसके विरुद्ध समभिरूढ़ नय वाला प्रत्येक शब्द के पृथक्-पृथक् अर्थों को स्वीकार करता है। आत्मा जीव, चेतन आदि शब्द को

अलग अलग पर्यायवाची समझकर अलग अलग अर्थ स्वीकार करता है ।

एवंभूत नय की अपेक्षा से कर्त्ता की जो क्रिया वर्तमान में चल रही हो, उसको कर्त्ता के साथ युक्त करके व्यवहार किया जाता है। जो आत्मा चंडाल का काम करती है, उसे चंडाल और जो साधु की क्रिया करती है उसे साधु कहा जाता है ।

आगमसार ग्रंथ में मुनिराज श्री देवचन्द जी ने 'सिद्ध' की सात नयो से व्याख्या की है। उसका संक्षिप्त यह है—

(१) नैगम नय—समस्त जीवों को सिद्ध स्वरूप माना है।

(२) संग्रह नय—सब जीवों के मूलगुणों को सिद्धवत् मानता है।

(३) व्यवहार नय—विद्यालब्धि चमत्कार सिद्धी वाले को सिद्ध मानता है।

(४) ऋजुसूत्र नय—सम्यक्त्वी जीव को सिद्ध मानता है ।

(५) शब्द नय—शुक्ल ध्यान के परिणामवाले को सिद्ध मानता है।

(६) समभिरूठ नय—केवल ज्ञानी यथाख्यात चरित्री तेरवें चौदवें गुण स्थान वाले को सिद्ध मानता है।

(७) एवंभूत नय—जो सकल कर्म क्षय करके लोकान्त में विराजमान है उन्हें सिद्ध मानता है।

इस प्रकार यह चेतन आत्मा सर्वांगी और स्वयं सब नयों का स्वामी है । उसका रूप एक नय द्वारा सिद्ध नही हो सकता। सब दृष्टिकोणों को ध्यान मे रखकर ही उसका स्वरूप समझा जा सकता है।

श्री आनन्दघनजी कहते है—यह आत्मा अनुभव से ही जानी जाने वाली है । इसके जानने का उपाय यही है जो ऊपर बताया जा चुका है । अनुभव गम्य आत्मा के सम्बन्ध में तो कहने सुनने वाली बात कुछ भी नही है क्योकि यह आत्मा तो आनन्द समूह महात्मा है। इसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नही हो सकता है। यह तो इन्द्रियातीत है। यह आत्मा तो आत्मा द्वारा ही जानी जाती है। इसकी पहिचान का तो एक ही इलाज—उपाय अनुभव ज्ञान है।

अनुभव का लक्षण कविवर श्री वनारसीदासजी ने इस प्रकार बताया है—

"वस्तुविचारत ध्यावतां, मन पावे विश्राम ।
रस स्वादन सुख उपजे, अनुभव वाको नाम ।"

वस्तु का विचार करते समय, इसका ध्यान करते करते जब मन शांत होने लगे, उस समय आत्म रस के आस्वादन मे जो अपूर्व सुख को निष्पत्ति होती है उसे अनुभव ज्ञान कहा जाता है

अनादित्व सिद्धि **६२** **राग—गौडी**

विचारी कहा विचारइरे, तेरो आगम अगम अपार ॥
बिनु आधार आधेय नहीं रे, बिनु आधेय आधार ।
मुरगी बिन इंडा नहीं प्यारे, वा बिनु मुरग की नार ॥वि०॥१॥
भुरट बीज बिना नहीं रे, बीज न भुरटा टार ।
निस बिनु द्यौस घटइ नही प्यारे, दिन बिनु निस निरधार ॥वि०॥२॥
सिद्ध ससारी बिनु नहीं रे, सिद्ध न बिनु ससार ।
करता बिनु करणी नहीं प्यारे, बिनु करणी करतार ॥वि०॥३॥
जामण मरण बिना नहीं रे, मरण न जनम विनास ।

दीपक बिनु परकास के प्यारे, बिन दीपक परकास ॥वि०॥४॥
'आनंदघन' प्रभु वचन की रे, परिणति धरि रुचिवंत।
सास्वत भाव विचारते प्यारे, खेलो अनादि अनंत ॥वि०॥५॥

पाठान्तर—विचारइ = विचारै (आ), विचारो (उ) तेरो आगम.... अपार = अगम अथाह अपार (अ), आगम अगाह अपार (उ), तेरो आगम अगम अथाह (क.व) विनु = विन (इ)। आधार आधेय = आधे आधा (इ)। आधार = अधार (इ)। 'आ' प्रति मे प्यारे शब्द नही है। वा = या (इ)। दिन....निरधार = विन दिन निस निरधार (इ)। विनु = विन (इ), विना (उ)। नही प्यारे = नही रे (अ), जामण = जामन (इ), जनम (उ)। दीपक = दीपन (अ.इ)। परकास के प्यारे = परगास के प्यारे (अ), परगासता प्यारे (इ). परगासवो प्यारे (उ)। विन....परकास = दीपन विनु परगास (आ)। वचन की रे = वचन थीरे (उ)। धरि = धरइ (आ), धर (अ), धरू (इ)। सास्वत = सासित (आ)। विचार ते प्यारे = विचार के प्यारे (अ.इ)। खेलो = खेल (आ), खेले (इ)।

शब्दार्थ—विचारी = विचारक, विचार करने वाले। अगम = अगम्य आधार = सहारा। आधेय = सहारे पर टिकी हुई वस्तु। मुरटा = भरभूंट; कांटे वाला पौदा। टार = विना। निस = रात्रि। दीस = दिन। निरधार = निर्णय। करणी = क्रिया। करतार = करने वाला, कर्त्ता। जामण = जन्म। विनास = विन्यास, स्थापन करना। परिणति = रूपान्तर की क्रिया; फल। रुचिवंत = रुचि रखने वाला, विश्वास रखने वाला।

अर्थ—हे आत्मन्! विचार करने वाले (दार्शनिक) कहां तक विचार करे, तेरा शास्त्र तो अगम्य और अपार है। बिना आधार के—सहारे के आधेयवस्तु कैसे टिक सकती है? उसी प्रकार बिना आधेय के आधार किसका? नीव बिना मकान कैसे बनेगा? और मकान बिना नीव किसकी होगी? द्रव्यरूप आधार बिना गुण पर्याय रूप आधेय कैसे संभव है तथा गुण पर्याय आधेय बिना द्रव्य

रूप आधार कैसे संभव है ? इसी प्रकार मुर्गी के विना अंडा नहीं होता और अंडे के विना मुर्गी नहीं हो सकती। (मुर्गी नहीं होगी तो अंडा कहां से आवेगा और अंडा नहीं होगा तो मुर्गी कहां से उत्पन्न होगी) ॥१॥

पौधों (वृक्ष) के विना वीज नही होता है और वीज पौधे (वृक्ष) के विना नहीं होता। रात्रि विना दिन घटित नही होता और दिन विना रात्रि का निर्णय नहीं होता अर्थात सदा दिन ही बना रहे तो फिर रात्रि का निर्णय कैसे हो ॥२॥

सिद्ध संसार के विना नहीं हो सकते, अर्थात् संसार होने से ही मोक्ष की सिद्धि है। सिद्ध न हो तो संसार की संभावना कैसे हो, संसारी जीव ही सिद्ध अवस्था प्राप्त करते हैं। कर्त्ता के विना क्रिया नही होती हैं और जहां क्रिया है वहां उसका कर्त्ता अवश्य है ॥३॥

मरण विना जन्म की संभावना नही है, और जन्म के विना मरण नही होता। प्रकाश, विना दीपक नही होता और दीपक प्रकाश विना नहीं होता है। प्रकाश से दीपक का होना निश्चित है तो दीपक से प्रकाश होना सिद्ध है ॥४॥

श्री आनन्दघनजी कहते है—रुचिवत—रुचि रखने वाले जिन्हें कुछ जानने की इच्छा है वे आनन्द के समूह प्रभु सर्वज्ञ के वचनों की परिणति को (परिणमन क्रिया श्रद्धा को) धारण कर साश्वत भाव पर विचार करें तो उन्हें यह खेल (संसार) अनादि और अनंत मालूम होगा।

जड़ और चेतन दोनों साश्वत और अनादि हैं। इनका सम्वन्ध अनादि काल से है और अनंतकाल तक रहेगा। यह सर्वज्ञ देव की वाणी है इस पर श्रद्धा रखो।

सत्संग महात्म्य ६३ राग—आसावरी

साधु संगति बिनु कैसे पइये, परम महारस धामरी ।
कोटि उपाव करे जो बौरा, अनुभव कथा विराम री ॥साधु०॥१॥
सीतल सफल सत सुरपादप, सेवउ सदा सुख छाइरी ।
बछित फलै टलै अनबंछित, भव संताप बुझाइ री ॥साधु०॥२॥
चतुर विरंचि विरोचन चाहै, चरण कमल मकरंदरी ।
कोहर भरम विहार दिखावै, सुद्ध निरंजन चंदरी ॥साधु०॥३॥
देव असुर इन्द्र पद चाहु न, राज समाज न काजरी ।
संगति साधु निरंतर पावु, 'आनन्दघन' महाराज री ॥सा०॥४॥

पाठान्तर—कोटि = कोट (इ), कोर (उ) । उपाव = उपाउ (उ) । जो = जउ (अ) । बौरा = बौरी (इ), बोरो (उ) । विराम = विरांन (उ), विसराम (क. बु.) । सेवउ = सेवो (अ.इ.उ) सेवै (क. बु.) । सुख छाइरी = सुच्छाईरी (अ), सुछायरी (इ.उ) । अनबंछित = अनुबंछित (आ) विरचि = विरंच (अ. इ उ) । विरोचन = विरंजन (क.बु.) । चंदरी = देवरी (उ) । इन्द्र = इन्द (इ), । चाहु न = चाहत (इ.उ) । राज""काजरी = राग समान काजरी (आ), नये जम सम काजरी (इ), राज न काज समाजरी (उ,क,बु) । पावु = पाऊ (अ) । नोट 'ई' प्रति मे अंतिम पंक्ति नहीं है । 'उ' प्रति मे इस प्रकार है—आनन्दघन प्रभु तुम विन और देव नही लाउंरी ।

शब्दार्थ—साधु = त्यागी मुनि । महारस = आत्मानुभव । धाम = घर । बौरा = पागल । सुरपादप = कल्पवृक्ष । विरंची = ब्रह्मा, शास्त्र रचने वाले विज्ञ पुरुष । विरोचन = प्रकाशमान । कोहर = कोहरा. धुंध । निरंजन = दोष रहित, परमात्मा ।

अर्थ—आनन्दघनजी महाराज कहते है—शास्त्रानुसार पूर्ण चारित्र पालने वाले संत पुरुषों के सत्संग बिना आत्मानुभव रूप परम

महारस के स्थान को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। साधु संगति के अतिरिक्त अन्य करोड़ों यत्न करने वाले पागल ही हैं। साधु संगति बिना अनुभव पूर्ण वार्तों के जानने में विराम—रुकावट हीं आती है। अथवा साधु संगति ही अनुभव वार्ता के लिए विश्राम स्वरूप है। कोई चाहे जितना तप करे, चाहे जितना शास्त्र पढ़े किन्तु साधु संगति के बिना वह आत्मानुभव प्राप्त नहीं कर सकता ॥१॥

संत पुरुष कल्पवृक्ष के समान त्रिविध ताप को दूर करने वाले हैं और इच्छित फल देने वाले हैं अतः ये शीतल हैं और फल युक्त है। इनकी सुखद छाया में निवास करो। इससे आत्मानुभव रूप मनोकामना पूर्ण होती हैं। पुद्गलों की आसक्ति रूप अवांछनीय वस्तुयें दूर हो जाती है और भव-संताप—भव भ्रमण नाश हो जाता है ॥२॥

जो शास्त्रों के चतुर प्रणेता है और अपने ज्ञान से प्रकाशमान हैं वे भी संत पुरुषों के चरण-कमलों के पराग (धूल) को चाहते हैं। विद्वानों से सेवित संतजन भ्रम रूप कोहरे को दूर कर शुद्ध परमात्मा रूप चन्द्रमा के दर्शन करा देते हैं ॥३॥

आनन्दघनजी कहते हैं कि मैं देव या असुरों के इन्द्र पद का इच्छुक नहीं हूं। न मुझे राज्य और समाज से कोई काम है। मुझे तो साधु संगति निरंतर प्राप्त होती रहे यही मेरी कामना है ॥४॥

मूलोत्तर विचारणा **६४ राग--प्रभाती, आशावरी, कलाहरौ**

मुदल थोड़ो रे भाईड़ा व्याजड़ो घणेरो, किम करि दीधो जाय।
तल पद पूंजी व्याज में आपी सघली, तोही न पूरड़ो थाय ॥मु०॥१॥
व्यापार भागोरे भाईड़ा जलवट थलवट रे, धीरे न निसाणी माइ।

व्याजड़ो छोड़ावी कोई खांदी परठवेरे, मूल आपूं सम खाइ ।।मु०।।२।।
हाटडुं माडूं रे रूडे माणक चोक मां रे, साजन नो मनड़ो मनाइ ।
'आनन्दघन' प्रभु सेठ सिरोमणि, बांहड़ी झालेजो आइ ।।मु०।।३।।

पाठान्तर—मुदल = मुंदल (अ), मूल (इ.उ) मूलड़ो (क.वु.) । भाईड़ा = भाई (इ.उ), भाई (क.वु.) । पूंजी=पूंजी मे (उ. क.व), 'व्याज में' 'इ.उ' और मुद्रित प्रतियो मे यह शब्द नही है । आपी = आली (आ), आणी (उ) । तोही....थाय = तोहि पूरो नवि थाय (इ), तोहि नवि पूराडो थाय (उ), तोहे व्याज पूरूं नवि थाय (क.वु) । 'भाईडा' यह शब्द इ.उ, और मुद्रित प्रतियो मे नही है । थलवटेरे = थलवटे (अ), थलवटेरे (इ) । माइ = माय (इ. उ, क.वु) । व्याजडो = व्याज (इ.क.वु.) । कोई = को (उ), 'इ' प्रति मे यह शब्द नही है । खादी = खांधी (आ), खंदी (इ वु), खंदा (क) परठवेरे = परठ करे (आ) । आपूं = आलुं (आ), आपो (अ), आलो (उ) । माडू रे = माणु रे (आ), माडूं (इ), मांड्योरे (उ) । रूडे = रूडा (अ), रूडा (इ.क.वु) । चोकमारे = चोकं (आ), साजननो = सजननो (आ), साजनियानुं (अ) साजयां (इ), मनाइ = मनाय (इ.उ.क.वु) । सेठ = सेठि (अ) । झालेजो = झालोरे (उ), झालजोरे (क वु) । आइ = आय (इ उ.क.वु.) ।

शब्दार्थ—मुदल = मूल रकम, मूलधन, असली रकम । घणेरो = बहुत, अधिक । तलपद = मूल, खास, असल । आपी = देदी । सघली = सब । पूरडो = पूरा, भरपूर, यथेष्ठ । भागोरे = नष्ट हो गया । धीरे न = धीजते नही हैं, विश्वास नही करते । निसाणी=प्रतिष्ठा, प्रमाणिकता । खंदी=किस्त । परठवे= ठहरा कर, तय कर । समखाइ = सौगंध, शपथ । हाटडुं = हाट, दुकान । माणक चौक = व्यापार का मध्य स्थान । साजन नो = सज्जनों का । वाहडी = हाथ । झालेजो = पकड लेना ।

अर्थ—अरे भाई ! मूल रकम तो थोडी ही है किन्तु व्याज की रकम मल रकम से भी अत्यधिक हो गई है, वह किस प्रकार

चुकाई जा सकेगी। मैने अपनी संपूर्ण मूल-रकम-व्याज मे देदी फिर भी व्याज पूर्ण नही हुआ ॥१॥

अरे भाई ऐसी स्थिति से मेरा जलमार्ग का स्थल मार्ग का व्यापार सव नष्ट हो गया है, कोई धीज, पतीज मेरी नहीं रही है—मेरी प्रामाणिकता नही रही। अरी मां, अब मै क्या करूं? (अत्यन्त निराशजनक शब्द) मै शपथ पूर्वक कहता हूं कि यदि कोई परोपकारी सज्जन व्याज छुडाकर मूल रकम की किश्त करा दे तो मै मूल रकम दे दूंगा ॥२॥

मै सज्जन पुरुपों को मनाकर उनकी दिल जमाई करके विश्वास प्राप्त करके नगर के प्रमुख स्थान (वाजार) में हाट (दुकान) लगाकर, पैसा पैदाकर सव चुका दुंगा।

फिर हाथ जोडकर प्रार्थना करता है कि हे सेठों के सेठ आनंदघन प्रभु मेरा हाथ पकडो, मेरी रक्षा करो। निरावारों के आधार केवल आप ही हो ॥३॥

इस पद में श्री आनन्दघनजी ने कर्ज मे फंसे हुए व्यापारी के मिस से आत्मा के ऊपर जो कर्मो का कर्ज है उसका दिग्दर्शन कराया है। वास्तव मे आत्मा पर आठ कर्मो का कर्ज है किन्तु राग द्वेष के कारण भव-भ्रमण रूप व्याज इतना वढ गया है कि वह चुकाया नहीं जा रहा है। सम्पूर्ण आयु रूपी मूल पूंजी पूरी होने पर भी व्याज पूरा नहीं हो पाया। शांति प्राप्ति के लिए स्थल मार्ग और जल मार्ग से अनेक तीर्थो में भ्रमण होता है किन्तु स्थिरता रूप प्रामाणिकता न होने से कही पर भी आश्वस्त नहीं होता। यह आत्मा विचारता है कि कोइ ज्ञानी पुरुष राग-द्वेप-रूप व्याज छुडा दे तो कर्मोदय रूप मूल द्रव्य को भोग कर चुकता करूं। ज्ञानी महा-पुरुष के संसर्ग से विरति के द्वारा भविष्य की कर्म वृद्धि रूप व्याज से छुटकारा मिलकर कर्म रूपी कर्ज चुक जावेगा।

अनुपम उदारता ६५ आसावरी

राम कहौ रहिमान कहौ कोउ, कान्ह कहौ महादेवरी ।।
पारसनाथ कहौ कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वमेवरी ।।राम०।।१।।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूपरी ।
तैसे खंड कलपनारोपित, आप अखंड सरूपरी ।।राम०।।२।।
निजपद रमै राम सो कहियै, रहम करे रहमान री ।
करषै करम कान्ह सो कहियै, महादेव निरवाण री ।।राम।।३।।
परसै रूप सो पारस कहियै, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्मरी ।
इह विध साध्यो आप 'आनन्दघन' चेतन मय निःकर्मरी ।।राम०।।४।।

पाठान्तर—कहावत = कहीवत (उ) । मृत्तिका = मृत्यका (अ.आ.उ) । सरूपरी = अनूपरी (उ) । रहम = रहिम (आ), रहिमान (इ) । करषै = करखै (अ) । कान्ह = कान (अ.इ.उ) कहान (आ) । निरवाणरी = निरवानरी (अ.इ) परसै=परसइ (आ) पारसै (उ) । सो=श्री (उ) । ब्रह्म=ब्रह्मा (आ) । चीन्है=चीने (अ) । ब्रह्म''''ब्रह्मरी = ब्रह्मा चीन्है ब्रह्मरी (आ) । इह = यह (अ) । विध = विधि (इ) । साध्यो = सध्यो (आ); साधो (क.बु.वि) । निःकर्मरी = नही क्रमरी (अ), निहि कर्म्मरी (आ.ड) ।

शब्दार्थ —स्वमेवरी = स्वयंही, खुद ही । भाजन = पात्र, वर्तन । भेद = विविधता । मृत्तिका = मिट्टी । खंड = भाग, हिस्से । कलपनारोपित = कल्पना से आरोपित किये हुये । अखंड = जिसका कोई टुकडा न हो । रमै = रमण करे । रहम = दया, करुणा । करषै = कर्मों को खेचे—मिटाये । परसे = स्पर्श करे । चीन्हे = पहिचाने । साध्यो = सिद्ध किया है । चेतनमय = उपयोगमय, चैतन्य शक्ति युक्त । निःकर्मरी = कर्म-उपाधिरहित ।

अर्थ—उस परम तत्व को चाहें राम के नाम से कोई संबोधित करे, चाहे रहमान के नाम से, चाहे कृष्ण के नाम से या महादेव के नाम

से, चाहे पार्श्वनाथ के नाम से, चाहे ब्रह्मा के नाम से संबोधित करे, किन्तु वह महा चैतन्य स्वयं ब्रह्म स्वरूप ही है ॥१॥

मिट्टी का रूप तो एक ही है। किन्तु पात्र से अनेक नाम कहे जाते है। (यह घड़ा है, यह कुंडा है यह गिलास है इत्यादि)। उसी प्रकार इस परमतत्व के पृथक् पृथक् भाग कल्पना से किये गये हैं। किन्तु वस्तव मे वह तो अखड स्वरूप ही है ॥२॥

जो निज स्वरूप मे रमण करे उसे राम कहना चाहिए, जो प्राणी मात्र पर दया करे उसे रहमान। जो ज्ञानावरणादिकर्मों को नष्ट करे उसे कान्ह (कृष्ण) कहना चाहिए। जो निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करे उसे महादेव कहना चाहिये ॥३॥

अपने रूप का जो स्पर्श करे उसे पार्श्वनाथ कहना चाहिए और जो चैतन्य आत्म-शुद्ध रूप सत्ता को पहिचाने वह ब्रह्मा है।

कविराज आनन्दघन कहते है कि इस आनन्दमय परम तत्व की मैने इसी प्रकार आराधना की है। यह परम तत्व तो निष्कर्म, (कर्म-उपाधि से रहित) ज्ञाता, दृष्टा, चैतन्यमय है ॥४॥

दर्शन वैचित्र्य **६६** **राग--मारू जंगलो**

माय़डी मूनै निरपख किण ही न मूकी।
निरपख रहेवा घणु ही झूरी, धी सें निजमति फूकी ॥मा०॥१॥
जोगिये मिलिने जोगण कीधी, जतिये कीधी जतनी।
भगते पकड़ी भगतणी कीधी, मतवाले कीधी मतणी ॥मा०॥२॥
राम भणी रहमान भणावी, अरिहंत पाठ पढाई।
घर घर ने हूँ धंधे विलगी, अलगी जीव सगाई ॥मा०॥३॥

कोइये मूंडी कोइये लोची, कोइयें केस लपेटी ।
कोई जगावी कोई सूती छोड़ी, वेदन किणही न मेटी ॥मा०॥४॥
कोई थापी कोई उथापी, कोई चलावी कोई राखी
एक मनो में कोई न दीठी, कोई नो कोई नहि साखी ॥मा०॥५॥
धींगो दुरबल नै ठेलीजै, ठींगी ठींगी बाजे ।
अबला ते किम बोली सकिये, बड जोधाने राजे ॥मा०॥६॥
जे जे कीधूं जे जे कराव्युं, ते कहता हूँ लाजूं ।
थोड़े कहे घणुं प्रीछी लेजो, घर सूतर नहीं साजूं ॥मा०॥७॥
आप बीती कहेता रिसावे, तेहिसूं जोर न चाले ।
आनन्दघन प्रभु बांहडी झालै, बाजी सघली पाले ॥मा०॥८॥

उक्त पद हमारी केवल 'उ' प्रति मे ही है। पाठान्तर मुद्रित प्रतियो के ही है--

पाठान्तर—जोगिये = योगीये (बु)। जोगण = योगण (बु)। जतिये = यतिये (बु)। कीधी = कीनी (बु) जतनी = यतनी (बु)। मतवाळे = मतवासी (क), मतवाली (वि)। यहां जो तीसरा पद है वह 'बु' प्रति मे चौथा पद है। विलगी = वलगी (बु)। कोइये मूंडी = केणे मुकी (बु)। कोइये लोची = केणेलूंची (बु) कोइये = केणे (बु)। कोई जगावी कोई सूती छोडी = एक पखो मे कोई न देख्यो (बु) वेदन = वेदना (बु)। कोई = केणे (बु)। कोई राखी = किणराची (बु)। एक मनो·····साखी = केणे जगाडी केणे सुआडी, कोइनु कोई नथी साखी (बु)। धीगो = धीगें (बु)। ते किम = ते केम (बु)। जोधा = योद्धा (बु)। ते = तेह (बु)। कहता = कहेती (बु)। घर सूतर नहि साजूं = घरशु तीरथ नहिं बीजुं (बु)। तेहिसूं = तेथी (बु)। प्रभु = वहालो (बु)। झालै = जाले (बु)। बाजी सघली पाले = तो बीजुं सघलुं पाले (बु)।

शब्दार्थ—मायडी = हे माता। निरपख = निष्पक्ष। किणही = किसी ने भी। मूकी = छोडा। झूरी = दुखित हुई, परेशान हुई। धीमे =

धीरे धीरे । फूकी = जला डाली । कीधी = की । मतवाले=ज्ञान मस्त योगी । भणी = पढा, कहा । धंधे = कार्य मे । विलगी = मन लगाया । अलगी = पृथक, अलग । सगाई = संबंध । लोची = केश नोचे, वाल उखाडे । थापी = स्थापित किया । उथापी = उखाडा । एक मना = एक अभिप्राय वाला । दीठो = दिखाई पडा । वीगो = वलवान । ठेलीजै = ढकेलना, धक्का मार कर हटाना । वाजे = लडे । ग्रीछी लेजो = समभलेना । घर सूतर = घर की व्यवस्था । रीसावे = क्रोध करे । वाहडी = हाथ । भालै = पकडै । वाजी = खेल ।

इस पद मे योगीराज श्री आनन्दघन ने विचित्र प्रकार से संसार के मत मतान्तर आत्मा चेतन और आत्मत्व चेतना के सम्वन्ध में क्या विचार रखते हैं, किस प्रकार मोक्ष मिलती है—आदि का दिग्दर्शन कराया है।

यद्यपि चेतन और चेतना पृथक् पृथक् नहीं है फिर भी समभने के लिए अलग दिखाने की कल्पना की गई है। इस पद मे चेतना अपनी विवशता और व्यथा वताती है। आत्मा-चेतना जिस जिस मत धर्म के कुल मे उत्पन्न होती है, वह वैसी ही वन जाती है। वास्तव मे उसका रूप और ध्येय क्या है उसको उसका भान ही नहीं रहता। आत्मा को अपने स्वरूप प्राप्त करने मे—मोक्ष प्राप्त करने में कोई भी मत पक्ष, कोई भी स्वरूप कोई भी स्थान, और कोई भी अवस्था वाधक नही है। आत्मा तो क्रमशः अपना विकास करता हुआ एक दिन शुद्ध बुद्ध वन जाता है। यही इस पद का आशय है।

अये मां ! (यह किसी को सन्वोधन नहीं है, वल्कि स्वतः ही दुखित हृदय से निकला शब्द है ।जैसे अरे राम ! यह क्या हुआ, अये मा ! अव क्या होगा इत्यादि) मुझे किसी भी मत-पक्ष वाले ने निरपक्ष-पक्षपात रहित नहीं छोड़ा (नहीं रहने दिया) मैने निष्पक्ष रहने के लिये वहुत ही विलापात किये और वहुत ही प्रयत्न किये किन्तु मुझे

किसी ने निरपक्ष रहने नहीं दिया। धीरे धीरे अपने पक्ष में की मेरे कानों में फूंक मारी, मेरे कान भरे अर्थात् मुझे अपने पक्ष का बना लिया और मुझे वैसा बनना पडा। आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध चेतनत्व है। जिस कुल मे वह उत्पन्न होती है उसके आचार विचार वैसे ही हो जाते है ॥१॥

योगियों ने मुझे योगिनी बना लिया और यतियों ने (जितेन्द्रियों ने) मुझे जतनी बना लिया। भक्ति मार्ग के अनुयायियों ने मुझे अपने रग मे रंगकर भक्तनी बन लिया। इसी प्रकार अन्य मत-धर्म के मानने वालों ने मुझे अपने अपने धर्म की बना लिया। इसीलिये चेतना पुकारती है कि मुझे किसी ने भी निष्पक्ष नहीं रहने दिया ॥२॥

राम के अनुयायियों ने मुझे राम नाम-पाठी बना लिया। रहिमान भक्तों ने मुझे रहिमान का भजन (प्रार्थना) सिखाई और अरिहत के मानने वालों ने अपना पाठ पढाया। किसी ने शंकर का, किसी नेकृष्ण का किसी ने ब्रह्मा का उच्चारण मुझसे कराया। इस प्रकार प्रत्येक घर के—मतमतान्तर के धन्धों—कार्यो मे फंसी रही। मेरे (चेतना के) और चेतन के सम्बन्ध से सदा ही दूर रही हूं ॥३॥

किसी ने मेरा मुंडन कराया, किसी ने लोच कराया (केश उखाडे), किसी ने लम्बी लम्बी जटाये लपेटी किसी ने मुझे जागृत रखा और किसी ने सोती हुई ही रखा अर्थात् पृथक् पृथक् मत—पक्ष वालों ने अपने अपने तरीके से रूप बनाकर धर्म क्रियायें की, किन्तु अब तक किसी ने मेरे स्वामी चेतन के विरह से उत्पन्न मेरी वेदना को दूर नहीं किया ॥४॥

हे मेरी मां! देखो, मेरा अलग अलग स्थानों पर कैसा हाल हुआ। किसी ने मेरी स्थापना की-आत्मा है। किसी ने मेरा अस्तित्व

ही उखाड फैंका, आत्मा नामक कोई वस्तु ही नहीं है। यह तो पृथ्वी अप, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों का खेल है। इस प्रकार किसी ने मेरे अस्तित्व को चलता किया और किसी ने उसकी रक्षा की। मुझे कोई एक भी ऐसा मत-पक्षवाला दृष्टिगोचर नहीं हुआ जो कि दूसरे का साक्षी हुआ हो, अर्थात् सब एक दूसरे का खंडन करते ही दिखाई देते हैं ॥५॥

संसार मे जो वलवान है वे दुरबल-कमजोर को दूर हटा देते है। अनेक मत-पक्ष वाले आपस मे शास्त्रार्थ करते है, जिसकी बुद्धि तेज है वह दूसरे को परास्त कर देता है किन्तु जो समान वलवान है-तीक्ष्ण बुद्धि वाले हैं वे आपस मे झगडते ही रहते है। कोई किसी को हरा नहीं सकता है और न अपना पक्ष छोड सकता है। ऐसे बड़े योद्धाओं—अपने अपने पक्ष के मोह मे रहने वालों—के मध्य में अवला क्या वोल सकती हूं। ऐसे एकान्तवादियों में मैं क्या कर सकती हूं ॥६॥

मुझसे तो जिस जिस ने जो जो कराया, मैंने तो वही वही किया, जिसका वर्णन करते हुए भी मुझे शर्म मालूम होती है। अर्थात् जिस जिसकी जैसी मान्यता थी उसके अनुसार मुझे वनना पडा, इसे वताने मे लज्जा आती है। मैंने संक्षिप्त मे ही यह कहा है उसे विस्तार पूर्वक ही समझो क्योंकि मेरे घर की व्यवस्था अच्छी नहीं है। मेरे पति चेतन विभाव दशा मे भ्रमण करते रहते है। जव निज भाव में आवे तभी कुछ वात वन सकती है ॥७॥

मै (चेतना) अपने पर गुजरी हुई वाते जव कहती हूं तो वे (चेतनजी) क्रोधित हो जाते है जिससे मेरा वश चलता नहीं है। अव तो वात तव ही वन सकती है जव आनन्द के स्वरूप चेतन स्वामी मेरा हाथ पकड ले। उनके हाथ पकडते ही सर्व कार्य सिद्ध हो जावेंगे। चेतन अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेवेगा ॥८॥

सम्यक्त्व पुत्र प्रेम **६७** **राग—सोरठ गिरनारी**

छोरा नै क्युं मारै छै रे, जायैकाट्या डैण ।
छोरो छै म्हारो बालो-भोलो, बोलै छै अमृत वैण॥छो०॥१॥
लेय लकुटिया चालण लाग्यो, अब कांइ फूटा नेण ।
तूं तो मरण सिराणे सूतो, रोटी देसी कोण (कैण) ॥छो०॥२॥
पांच पचीस पचासा ऊपर, बोलै छै सूधा वैण ।
'आनन्दघन' प्रभु दास तुम्हारो, जनम जनम के सैण ॥छो०॥३॥

यह पद हमारी केवल अ प्रति मे है । पाठान्तर मुद्रित प्रतियों के दिये गये है ।

पाठान्तर—म्हारो = महारो (बु) मारो (क वि) । छोरा = छोटा (वि) । काट्या = काड्या (बु) । लाग्यो = लागो (बु) । देसी = देशे (बु) । तुम्हारो = तिहारो (बु), तुमारो (क वि) ।

शब्दार्थ—छोरानै = पुत्र को । जायै काट्या = पुत्र घाती (यह गाली है, अप शब्द है) । डैण = (यह भी गाली है) मूर्ख वृद्ध, अविचारी वृद्ध । बालो भोलो = ना समझ, भोला । नैण = नयन, नेत्र, आख । पाच = पच महाव्रत, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । पचीस = पंच महाव्रत की पच्चीस भावनाये । पचासा = तप के भेद, उपवास, आयंबिल, आदि पचासों भेद । सूधा = सीधे, कपट रहित । वैण = वचन । सैण = सयण, सजन, स्वजन ।

अर्थ—सुमति मिथ्यात्व से कहती है—हे बाल घातक, अविचारी, मूर्ख, बुड्ढे ! मेरे सम्यक्त्व रूप बालक (पुत्र) को क्यों मारता है ? यह मेरा उपसम या क्षयोपसम रूप नव जात शिशु सम्यक्त्व अभी तो बिल्कुल भोला है—ना समझ है । यह अभी थोडा-थोड़ा अमृत के समान मधुर बोलने लगा ही है ॥१॥

यह लकडी के सहारे कुछ कुछ चलने लगा है। हे मिथ्यात्व ! क्या तू जानता नही है ? क्या तेरे नेत्र फूट गये हैं ? क्या तुझे मालूम नहीं है कि सम्यक्त्व प्रकट होने पर तेरी मृत्यु समीप ही है। अव तुझे भोजन देने वाला कौन है ? सम्यक्त्व किसो भी प्रकार का प्रगट हो (औपसमिक या क्षयोपसमिक) जाने पर अनंतानुवंधो क्रोध, मान, माया, लोभ व मिथ्यत्व मोहनीय मिश्र मोहनीय तथा सम्यक्त्व मोहनीय ये सात कर्म-प्रकृति रूप भोजन अव तेरा वंद हो गया है, अव तुझे रोटी देने वाला (पनपाने वाला) कोई नहीं है। इसलिये तेरी मृत्यु सिर पर आ गई है ॥२॥

पंच महाव्रत, पंच महाव्रत की पच्चीस भावनायें तथा पचास प्रकार के तप के ऊपर यह (पुत्र) सीधे-साधे वचन वोलता है—उनका अभ्यास करता है। सुमति कहती है—हे आनन्दघन प्रभु ! यह सम्यक्त्व तो जन्म जन्म से आपका दास है। आप तो जन्म जन्मान्तरों से इसके स्वजन-स्नेही स्वामी हैं ॥३॥

इस पद का भावार्थ श्री ज्ञानसारजी महाराज के टव्वे की सहायता से किया है। श्री ज्ञानसारजी महाराज ने इतना विशेष लिखा है कि एक समयावच्छेदे असंख्याता उपसम समकित प्राप्त करते है। उन सव में यह आगमानुयायी शुद्ध वचन वोलता है क्योंकि यह क्षपक श्रेणी का प्रारंभी है। चार वार उपसम सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् जो पांचवी वार (अंतिम वार) उपसम सम्यक्त्वी वनता है, वह क्षपक श्रेणी का प्रारंभी है।

विरह व्यथा व विवेक से विनय — **६८** — **राग-वसंत**

प्यारे, लालन विन मेरो कोण हाल।
समझे न घट की निठुर लाल ॥प्यारे०॥१॥

वीर विवेक तुं मांझी मांहि, कहा पेट दाइ आगे छिपांहि ।।प्या०।।२।।
तुम्ह भावै सो कीजै वीर, मोहि आन मिलावो ललित धीर
।।प्या०।।३।।
अंचर पकरैं न जात आधि, मन चंचलता मेटे समाधि ।।प्या०।।४।।
जाइ विवेक विचार कीन, 'आनन्दघन' कीने अधीन ।।प्या०।।५।।

नोट—यह पद हमारी केवल 'अ' प्रति मे ही है और में न होने से उनके पाठान्तर नही दिये जा सकते। पाठान्तर मुद्रित प्रतियो के है। 'प्यारे' शब्द बु. और वि. प्रतियों मे नही है। कोण = कुन (क.बु.वि)। समझै = समजे (क.बु.वि.)। तुं = जुं (क.बु वि)। माझी = माजी (क बु.वि)। माहि = मांयि (क बु) माइ (वि)। दाइ = दई (क.बु)। छिपांहि = छिपाई (क.बु वि)। मोहि = सोई (क.बु.वि.)। ललित = लालन (क बु.वि)। अंचर..... आधि = अमरे करे न जात आध (क,बु,वि)। मेटे = मिटे (क बु.वि)। जाइ = जाय (क.वि), जान (बु)।

शब्दार्थ—लालन = प्रिय, पति। घटकी = हृदय की। निठुर = निष्ठुर, निर्दयी। माझी = केवट, नाव चलाने वाला। भावै = अच्छा लगे। ललित = सुंदर। अंचर = आंचल। आधि = मानसिक पीडा।

अर्थ—सुमति कहती है—प्रिय स्वामी के बिना मेरा क्या हाल हो रहा है? वे ऐसे निर्दयी हो गये है कि मेरे हृदय की व्यथा को समझते ही नहीं है ।।१।।

हे विवेक वीर! तू ही मेरी नाव को खेने वाला है—पार लगाने वाला है। तेरे से क्या पर्दा, कोई दाई के आगे भी पेट छिपाया जाता है क्या? ।।२।।

हे वीर! (भाई!) तुम्हें जो उचित लगे सो करो, किन्तु किसी भी प्रकार मेरे मनभावन स्वामी चेतन को लाकर मुझसे मिलादो ।।३।।

केवल अंचल (पल्ला) पकडने मात्र से ही मानसिक पीडा शांत नहीं होती । समता के बिना कल्याण नहीं है—अर्थात् धैर्य पूर्वक समता भाव मे रहे विना उद्धार नहीं । यह बात जब तक चेतन नहीं समझ लेता तब तक यहां आने मात्र से (मेरे से संबंध होने मात्र से) कुछ कार्य नहीं बनेगा । मन की चंचलता (अस्थिरता) मेटने से ही समाधि अवस्था प्राप्त होगी ॥४॥

चेतन के पास जाकर विवेक ने विचार विमर्श किया—समझाया और आनन्द स्वरूप चेतन को लाकर समता के अधीन कर दिया—वशीभूत कर दिया ॥५॥

आभार प्रदर्शन **६९** **राग-सोरठ**

कंत चतुर दिल ज्यानी हो मेरो कंत चतुर दिलजानी ।
जो हम चीनी सो तुम कीनी, प्रीत अधिक पहिचानी हो ॥मेरो०॥१॥
एक बूंद को महिल बनायो, तामें ज्योति समानी हो ।
दोय चोर दो चुगल महल में, बात कछु नहि छानी हो ॥मेरो०॥२॥
पांच अरु तीन त्रिया मदिर में, राज करै रजधानी हो ।
एक त्रिया सब जग बस कीनो, ज्ञान खड्ग बस आनी हो ॥मेरो०॥३॥
चार पुरुष मंदिर में भूखे, कबहू त्रिपत न आनी हो ।
इक असील इक असली बूझै, बूझ्यौ ब्रह्मा ज्ञानी हो ॥मेरो०॥४॥
चारू गति में रुलतां बीते, करम की किनहु न जानी हो ।
'आनन्दघन' इस पद कू बूझै, बूझ्यौ भविक जन प्रानी हो ॥मेरो०॥५॥

नोट—यह पद हमारी केवल 'अ' प्रति मे ४८वीं संख्या पर है । मुद्रित प्रतियों मे भी केवल आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरीश्वरजी द्वारा सम्पादित

पुस्तक की भूमिका मे है।

पाठान्तर—जानी = ज्ञानी। राज = राज्य। रजधानी = राजधानी। कीनो = कीनै। खड्ग = खंग। इक····बूझै = दस असली इक असली वुजै। बूझ्यो = वुजै।

शब्दार्थ – दिल ज्यानी = अत्यत प्रिय। चीनी = पहिचानी, जानते थे, विचारते थे। समानी = मिल गई, प्रकाशित हो गई। दोय चोर = राग-द्वेष। दोय चुगल = श्वासोश्वात। छानी = छुपी हुई। वस आनी = वस मे कर रखा है। असील = खरा, सच्चा। ब्रह्म ज्ञानी = आत्म ज्ञानी।

अर्थ—हे मेरे चतुर तथा अत्यन्त प्रिय स्वामी! हे पुद्गल परिणति के प्रेमी मेरे आत्माराम! जैसा मैने सोचा (विचारा) था वैसा ही आपने कर दिखाया। अर्थात् अनादि काल के पश्चात् आपने मानव शरीर बनाया है ॥१॥

हे चेतन देव! आपने एक बूंद का कायारूपी महल वनाया है। उसमे आपने अपनी ज्योति प्रकाशित की है। इस महल मे राग-द्वेष रूपी दो चोर है जो आत्म स्वरूप की चोरी करते रहते है। श्वास व आयु रूपी दो चुगल है जो काल को आयु की स्थिति की सूचना चुपके चुपके देते रहते है। इस कारण इस काया रूपी महल की कोई भी वात गुप्त नही रह पाई है ॥२॥

इस तन–मंदिर मे पांच इन्द्रिय तथा मन, वचन और काया वल ये आठ स्त्रियां है जो इस तन–मंदिर रूप राजधानी मे राज्य करती है। इन आठो स्त्रियों मे से एक मन रूप स्त्री ने इस शरीर ही को नही, वल्कि सम्पूर्ण ससार को ही ज्ञान रूपी खड्ग (तलवार) के द्वारा वशीभूत कर रखा है ॥३॥

इस तन मंदिर में चार पुरुष—क्रोध, मान, माया और लोभ है, जो अनादि काल से भखे है, सब कुछ खाकर भी तृप्त नही हुये है।

आत्मिक गुणों को खाकर—नष्ट करके भी इनकी तृप्ति नहीं हुई है। सौभाग्य से इस मंदिर में स्वभाव परिणति रूप एक ही असल खरी (सच्ची) वस्तु है जिसे ब्रह्म ज्ञानी—भेद ज्ञान को जानने वाला ही पूछता है, वही उसकी कदर करता है ॥४॥

चारों गतियों में—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव में-भटकते-भ्रमण करते हुये अनन्त काल (समय) व्यतीत हो गया है किन्तु कर्म की विचित्रता किसी ने भी नहीं जानी—पहिचानी है। योगीराज आनन्दघनजी कहते हैं—इस पद के मर्म को—आत्म स्वरूप को जानने वाला कोई विरला भव्य जन ही जान पाता है ॥५॥

प्रियतम उपालंभ ७० राग-वसंत

आ कुवुद्धि कूवरी कवन जात, जिहाँ रीझै चेतन ज्ञान गात ॥आ०॥१॥
आ कुच्छित साख विशेष पाइ, परम सिद्धि रस छारि जाइ ॥आ०॥२॥
जिहाँ अंगु गुन कछु और नाहि, गले पडेगी पलक मांहि ॥आ०॥३॥
प्यारे पाछै दे वाहि नाम, पटिये मीठी सुगुण धाम ॥आ०॥४॥
देवै आगै अधिकार ताहि, 'आनन्दघन' प्रभु अधिक चाहि ॥आ०॥५॥

यह पद हमारी केवल 'अ' प्रति मे, और मुद्रित प्रतियों मे है। पाठ भेद मुद्रित प्रतियो से दिये गये हैं।

पाठान्तर—आ.....जात = या कुवुद्धि कुमरी कौन जात (क.वु.वि)। रीझै=रीजै (वु. वि)। आ कुच्छित=कुत्सित (वु. वि)। पाइ=पाय (वु. वि)। सिद्धिरस=सुधारस (क. वु. वि.)। छारि जाइ = वारिजाय (क. वु. वि)। जिहाँ.....नाहि = जी आगु कछु और नाहि (क), जीया गुन जानो और नांही (वु वि.)। प्यारे.....नाम = रेखा छेदे वाहिताम (क. वु वि.)। पटिये = पढमे (क. वु. वि.)। देवै.....चाई = ते आगे अधिकार ताहि, आनन्द प्रभु अविकेरी चाहि (क), ते आगे अधिकेरी ताही, आनन्दघन प्रभु अधिकेरी चाही (वु.वि.)।

शब्दार्थ— कुबुद्धि = कुमति । कवन = कौन ।ज्ञान गात = ज्ञान स्वरूप कुच्छित = कुत्सित, खराब, निंदनीय । साख = साक्षी, इज्जत, सहारा । परम सिद्धिरम = परम तत्व । छारि जाइ = त्याग कर । अंग = शरीर । गले पडेगी = इच्छा विरुद्ध प्राप्त होगी, पीछे पडेगी । वाहि = उसका । पटिये = मेल मिलाप होना, तै होना । चाहि = प्रेम ।

अर्थ— समता अपनी सखि श्रद्धा से कह रही है—हे सखि ! जिस पर यह ज्ञान स्वरूप चेतन राज रीझे हुये है—आसक्त हैं, वह विकृत अग व स्वभाववाली कुबुद्धि किस जाति की है ? तुम जानती हो ? यह चेतन की जाति की तो है नही, और न यह जड जाति की है । यह तो चेतन और जड के संयोग से उत्पन्न दोगली मोह की कन्या है । इसकी प्रेरणा से चेतन भौतिक सुखो के लिये हिसा, झूंठ, चोरी आदि कुकर्म करते हुये भी पीछे नही हटता है ।।१।।

इस नीच अधम कुबुद्धि का विशेप सहारा प्राप्त कर यह ज्ञान-धन चेतन अपने आनंद स्वरूप परमतत्व को छोड कर सांसारिक माया जाल मे पडा हुआ है ।।२।।

जहाँ शरीर से सबंधित विपय वासना के अतिरिक्त अंश मात्र भी सद्गुण नही है । यह कुबुद्धि थोडा सा सहारा पाते ही गले पड जाती है—जबरदस्ती ही सबध कर लेती है - बरवस फँसा लेती है ।।३।।

इसलिये हे प्रियतम चेतनराज ! इस कुबुद्धि को तो पीछे ही रखो, इसका नाम भी मत लो । सद्गुणो की खान मीठी सुमति से मेल मिलाप बढावो ।।४।।

समता के यह वाक्य सुनकर आनंद के धाम चेतन ने समता से प्रीतिकर उसे अपनी गृहस्वामिनी बनाकर अपने घर का सम्पूर्ण अधिकार दे दिया अर्थात अपने जीवन को समतामय बना लिया ।।५।।

क्षायिक सम्यक्त्व व लोकालोक प्रकाशक ज्ञान ७१ राग-सोरठ

अरण जोवता लाख, जोवो तो एको नहीं ।
लाधी जोवरण साख, वाल्हा विरण अहिलै गई ।।साखि।।
वांरू रे नान्ही वहू अै, मन गमतो अै कीधूं ।
पेट में पैसी मस्तक रहँसी, वैरी, सांईडउ सामीजी नइ दीधूं ।।१।।
खोलइ बइठी मीठुं बोलै, कांइ अनुभौ अमृत पीधूं ।
छानै छानै छमकलडां, करती आखइ मनडूं वीधूं ।।२।।
लोक अलोक प्रकाशक छइयो, जरणतां कारिज सीधूं ।
अंगो अंग रंग भरि रमतां, 'आनन्दघन' पद लीधूं ।।३।।

पाठान्तर—जोवो = जोयो (अ), जोवु (उ) । तो=ते (आ), ता (उ) । जोवरण = योवन (अ), जोवन (इ.उ) । वाल्हा = वाहला (अ.उ), वाला (इ) । अहिलै = अहले (उ) । वारूं रे····कीधूं = वारू रे नान्ही वहूये अरणगमतो ए कीधूं (आ), 'मोटी वहूये ए' मन गमतो कीधूं (उ), वारू रे नांन्हडी वहू रे मन गमतू ए कीधूं (उ) । रहँसी = हर सैं (अ), हरस्यै (इ), रहेसी (उ) । साईडउ = सांइडु (इ) । नइ दीधूं = नै दीवु (अ.इ), ने दीधूं (उ) । खोलइ = खेले (अ), खोलै (इ) । वइठी = वैठी (अ), वैसी (इ) । अनुभौ = अनुभव (अ.इ) । छानै छानै = छानां छानां (उ) । छमकलडां = छटकलडा (अ), छनकलडा (इ), छरकल्डा (उ) । 'करती और आखइ' शव्दो के मध्य 'आ' प्रति मे 'छरती' शव्द और है । आखइ = आखै (अ), आंखे (इ.उ) । मनडूं = मनरू (उ) । वीधूं = विधो (आ), विधु (अ इ) । छइयो = छइयू (इ), छैयों (उ) । जरणता = जनता (उ) । कारिज सीधूं = कारिज सीधों (आ), कारज, सींधूं (इ.उ) । अंग = अंगइ (आ) । भरि = भर (इ.उ) । लीधूं = लीधो (अ) लीवु (अ) ।

शब्दार्थ—अण जोवंता = विना देखे, विना ध्यान दिये, विना उद्यम। जोवने = देखना। वाल्हा = प्रियतम। अहिलै = व्यर्थ। वारूं रे = वलिहारी जाती हूँ। नान्ही = छोटी। मन गमतो = मन को अच्छा लगने वाला। खोळइ = गोद मे। वइठी = वैठकर। छानै छानै = गुप्त रूप से। छमकल्लडां = येन केन प्रकारेण कार्य सिद्धि की कला, जिस तिस प्रकार से कार्य सिद्धि की चतुराई। आखड = सम्पूर्ण। वीधूं = वींद दिया, छेद दिया। जणता = पैदा करते ही।

अर्थ—समता कह रही है—जव तक किसी कार्य करने की ओर ध्यान नही दिया जाता,—पुरुषार्थ नहीं किया जाता तव तक लाखों विघ्न वाधाये सामने खडी नजर आती है और जव कार्य करने के लिये पुरुषार्थ कर लिया जाता है तब सब विघ्न-वाधाये दूर हो जाती है—नजर नही आती है।

जव पुरुषार्थ रूपी यौवन की साख (फसल) प्राप्त हो गई, तव विना प्रियतम (चेतन) के यह साख व्यर्थ जा रही है।

जव आत्म शुद्धि के लिये वातावरण वन गया उस समय चेतन का विभावावस्था को त्याग कर स्वभावावस्था मे न आना यौवन मे स्वामी-वियोग के समान है। साखी

मै वलिहारी हूं छोटी वहू (पत्नि) ने वडा ही मन को आल्हादित करने वाला कार्य किया है जो, स्वामी (चेतनराज) के पेट में घुसी-छुपी रहकर और मस्तक को आच्छादित कर स्वामी को विभावदशा में चारों गतियों मे घुमाती रहती थी और स्वामी की गोद मे बैठ कर मीठे वचन बोलती थी कि मानो अनुभव रूपी अमृत पी रखा हो। इस प्रकार वह सब्ज-वाग दिखाती रहती थी कि इनके (सांसारिक सुख सुविधाओं के) अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नही। और जिसने गुप्त रूप से छल छिद्र करके स्वामी का सम्पूर्ण

मन वेध रखा था–अपने वशीभूत कर रखा था। उस मेरी वैरिन (ममता) ने मेरे स्वामी को परमात्म गुणों को दे दिया ॥-१-२-॥

जव मोह ममता से स्वामी का साथ छूट गया तो मैंने (समता ने) अंग से अंग मिलाकर रमण किया अर्थात समतामय चेतन वन गया। उसका परिणाम लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान रूप वालक (पुत्र) का जन्म हुआ। इस प्रकार सर्व कार्य सिद्ध हो गये और स्वामी ने 'आनंदघन' (आनंद समूह) पद प्राप्त कर लिया ॥३॥

संसार मे भ्रमण करती हुई भव्यात्मा नर भव (मनुष्य जन्म) प्राप्त कर अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त करने के लिये पुरुपार्थ करता हुआ अग्रसर होता है–गुणस्थानों का आरोहण करता हैं। दसवें गुणस्थान से वारहवें गुणस्थान मे जाता है और मोह प्रकृतियों को क्षय–नाश कर तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त करता हैं तो लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाला केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है और अनंत सुखों का स्वामी वन जाता है।

अव्यावाध आनन्दानुभूति ७२ राग–जैजैवंती त्रिताला

मेरे प्रान आनन्दघन, तान आनन्दघन ॥

मात आनन्दघन, तात आनन्दघन ।

गात आनन्दघन, जात आनन्दघन ॥मेरे०॥१॥

राज आनन्दघन, काज आनन्दघन ।

साज आनन्दघन, लाभ आनन्दघन ॥मेरे०॥२॥

आभ आनन्दघन गाभ आनन्दघन ।

नाभ आनन्दघन, लाभ आनन्दघन ॥मेरे०॥३॥

यह पद हमारी अ और उ प्रति मे क्रमशः ७ और ७१ संख्या पर हैं।

पाठान्तर— राज = काज (बु)। काज = साज (बु)।

शब्दार्थ— तान = लय, । तात = पिता । गात = शरीर, देह । जात= पुत्र, जात-पात । साज = सामान, सजावट । आभ = शोभा, आभा । गाभ= गर्भ, मध्य । नाभ = नाभि, मध्य भाग ।

(देहधारियों के पांच इन्द्रिय, मन वचन काय, श्वासोश्वास और आयु ये दस प्राण होते है। सिद्ध भगवान के इनमे से एक भी प्राण नही होता। उनके तो ज्ञान दर्शन रूप भाव प्राण होते है। ये दसों प्राण पुद्गल आश्रित है। ये जड संयोग से उत्पन्न होते है अतः द्रव्य प्राण कहलाते है। योगी जब भगवान को ही सब कुछ समझ लेता है तो उसकी देह व इन्द्रियों की सुध-बुध खो जाती है। पहले यह अवस्था अल्प समय तक रहती है किन्तु ज्यों ज्यों अभ्यास बढता जाता है यह संस्कार बढते जाते है, चारों ओर वही चैतन्य रूप दृष्टि-गोचर होता है। जब तक मेरापन (अहंभाव) का भाव है यह दृष्टि दृढ नही होती है। मेरा कुछ नही है, जब यह स्थिति आ जाती है और तदात्मता बढ जाती है उस स्थित्ति में इस पद के शब्द योगीराज श्री आनन्दघन जी के मुख से निकले है।)

अर्थ— हे प्रभो ! मेरे जीवन प्राण आनन्दघन है। मेरी वाणी और तान भी आनन्दघन ही है। हे भगवान ! मुझे आत्म भाव आपने ही दिये है। इन भाव प्राणों के दाता होने से आप मेरे माता-पिता है। मेरा यह शरीर भी आप है। हे आनन्दघन ! मुझे तो आप का ही सहारा है इसलिये मुझे भविष्य की कोई चिन्ता नही सताती। आप है, वहां पुत्रादि सब है ॥१॥

हे भगवान आपके पास जो आनन्द है वह तो त्रिलोक की सम्पत्ति मिलने पर भी न होगा, इसलिये मुझे किसी राज्य की आवश्यकता नहीं है। मेरे तो आप ही राज्य हो। आप ही से मेरा काम (कार्य) है। आप ही मेरे सर्वस्व हो। मेरी आपको लाज है ॥२॥

मेरी शोभा आप ही हो, क्योंकि आप ही मेरे हृदय मे वसे हुये हो–गर्भित हो। हे आनन्दघन प्रभो! आप ही मेरे परम लाभ हो।

इस पद में 'लाभ आनन्दघन' से संभवतः कविराज ने अपना लाभानन्द नाम सूचित किया है।

कैवल्य बीज **७३** **राग–सारंग**

मेरे घट ज्ञान भान भयो भोर।
चेतन चकवा चेतना चकवी, भागी विरह को सोर ॥मेरे०॥१॥
फैली चिहुं दिसि चतुर भाव रुचि, मिट्यो भरम तम जोर।
आप की चोरी आप ही जानत, औरे कहत न चोर ॥मेरे०॥२॥
अमल कमल विकच भये भूतल, मंद विषै ससि कोर।
'आनन्दघन' इक वल्लभ लागत, और न लाख करोर ॥मेरे०॥३॥

पाठान्तर—ज्ञान = ग्यांन (इ. उ)। चतुर = चतुरा (क. वु.)। भरम = भर्म (अ)। तम = मन (उ)। औरे = और (अ)। न = नही (उ)। विकच = विक (आ)। करोर = किरोर (क.वु)।

शब्दार्थ— घट = हृदय मे। भान = भानु, सूर्य। भोर = प्रातःकाल। सोर = शोर, कोलाहल। भाव रुचि = स्वाभाविक इच्छा। भरम तम जोर = भ्रम रूपी अँधकार की शक्ति। अमल = निर्मल। विकच = विकसित हो गये। भूतल = पृथ्वी। कोर = किरण। विषै = विषय वासना। वल्लभ = प्रिय। करोर = करोड।

अर्थ— मेरे हृदय मे ज्ञान रूपी सूर्य का प्रातःकाल हो गया है—प्रकाश हो गया है। चेतन रूपी चकवा और चेतना रूपी चकवी के विरह से उत्पन्न क्रंदन सर्वथा दूर हो गया है ॥१॥

सर्वत्र चारों दिशाओं मे विचक्षण स्वभाव में रमण रूप प्रकाश फैल जाने से भ्रम-मिथ्यात्व रूपी अन्धकार-वल जाता रहा-दूर हो गया है। अपनी चोरी गई वस्तु के चोर को मै स्वयं ही जानता हूँ, इसलिये अन्य किसी को चोर नही कहता हूं अर्थात् अपने आत्मिक गुणों का चोर मैं स्वयं ही था। किसी दूसरे ने मेरे ज्ञानादि गुणों को नही चुराया था। इसका अव निश्चय हो चुका है, इसलिये मै अन्य को चोर नहीं ठहराता-दोष नहीं देता ॥२॥

सूर्योदय होने से जिस प्रकार पृथ्वी पर कमल खिल जाते है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी सूर्य के उदय से हृदय-कमल खिल गया है—शुद्ध हो गया है और विषय वासना रूपी चन्द-किरणे मंद पड गई है। एक आनन्द स्वरूप चैतन्य सत्ता ही प्रिय लगती है और लाखों करोडों सांसारिक प्रलोभन अच्छे नही लगते है ॥३॥

(इति आनन्दघन बहुत्तरी)

अन्य रचनायें

स्फुट पद

आतम साम्राज्य ७४ राग—मारू

निस्पृह देश सुहामणो, निरभय नगर उदार हो, बसि अंतर जामी।
निरमल मन मंत्री बडो, राजा वस्तु विचार हो; " ॥१॥
केवल कमलागार हो, सुणि सुणि शिवगामी।
केवल कमलानाथ हो, सुणि सुणि निहकामी॥
केवल कमलावास हो, सुणि सुणि शुभनामी।
आतम तूं चूकिस मा, साहिब तूं चूकिस मा।
राजिन्दा तू चूकिस मा, अवसर लही॥टेक॥
गढ संतोस सामौ दसा, साधु संगति दिढ पोलि हो।
पोलियो विवेक सु जागतो, आगम पायक तोलि हो॥२॥
दिढ़ विसवास वतागरौ, सु विनोदी विवहार हो।
मित्र वैराग विहडै नहीं, क्रीडा सुरती अपार हो॥३॥
भावना बार नदी वहै समता नीर गभीर हो।
ध्यान चहबचौ भर्यौ रहै, समपन भव समीर हो॥४॥
उचालै नगरी नहीं, दुष्ट दुकाल न जोग हो।
ईत अनीत व्यापै नही, 'आनन्दघन' पद भोग हो॥५॥

(७४) निश्चयात्मक रूप से जो पद आनन्दघन जी के समझे गये हैं, उनकी शैली से इस पद की शैली भिन्न है। अतः शका उत्पन्न होती है कि यह पद उनका है अथवा नही।

पाठान्तर— सुहामणे = सोहामणे (इ उ)। नगर = नयर (उ)। वसि= वसै (इ,.उ.क.वु)। द्वितीय पंक्ति मे निरमल शब्द के आगे मन शब्द "अ" प्रति मे नही है। सुणि सुणि = सुनि सुनि (इ)। शिवगामी = सिवगामी (आ)। निहकामी = नीहकामी (आ), निःकामी (उ)। सुणि····शुभनामी = सुणि

भनामी; कुछ अक्षर लेख दोष से गायब हो गये है, 'आ' प्रति में। मुनि सुनि सुभगामी (इ), सुणि सुणि सुभग नामी (उ)। आतम = आतमा (आ.क.बु.)। चूकिस = चूकि (अ), चूकीस (इ.उ)। साहिब = साहिबा (आ), साहेबा (क.बु)। लही = लही जी (आ), लहीजियो (उ)। गढ = दृढ (बु)। समो दसा = सामो दसा (आ), सामोद सा (इ), सामोदिसा (उ), कामा मोदसा (क, बु)। पोलि= पौल (इ), पोल (उ)। वतागरो = वितागरो (आ,क.बु), दिढ चितदास विता गरो (इ), दिढ चित्रदा वितागरो (उ)। सुरति = सुमति (उ)। समता = सुमता (आ), ममछा (उ)। रहै = है (आ)। चहबचो = चैंवचो (इ), चइबचो (उ)। समपन = समवन (आ)। उचालै = उचालो (आ)। जोग = योग (इ)। ईत = इति (आ बु), ईति (क)।

शब्दार्थ—निस्पृह = लोभ या लालसा व तृष्णा रहित। सुहामणो = सुहावना, सुन्दर। निरभय = निर्भय, भय रहित, जहाँ किसी प्रकार का भय न हो, अभय। कमलागार = खजाना। शिवगामी = कल्याण मार्ग का पथिक। निहकामी = कामना—वासना रहित। चूकिस मा = मत चूके। अवसर लही = समय पाकर। गढ = किला। सामो = शान्त। पोलि = दरवाजा। पोलियो = पहरेदार। पायक = पैदल सिपाही, अनुचर। तोलि = तुल्य, बराबर। वितागरो = चतुर विदूषक। विनोदी = विनोद (मजाक—आमोद प्रमोद), मैत्री, प्रमोद आदि भाव वाला। विहडै नही = पृथक (अलग) नही होता। सुरति = वृत्ति, स्मरण, प्रेम। चहबचो = पानी का छोटा हौज। समपन = अपने इष्ट के प्रति समर्पण भाव। समीर = हवा। उचालै = उपद्रव। ईत = ईति, अति वृष्टि, अना वृष्टि आदि खेती को हानि पहुंचाने वाली।

अर्थ— लालसा—तृष्णा रहित—निस्पृह रूपी सुन्दर देश मे निर्भय (अभय) नामक उदार नगर है जहाँ अतरयामी चेतन का वास स्थान है—राज्य है। वस्तु (तत्त्व) स्वरूप का विचार करने वाला भेद ज्ञानी अनुभव वहाँ का राजा है और निर्मल मन वहाँ का प्रधान मंत्री है ॥१॥

हे आत्मन् ! तू केवल ज्ञान रूपी लक्ष्मी का स्थान है। हे मोक्ष गामी आत्मन् ! तू सुन। हे निष्कामी आत्मन् ! सुन, केवल ज्ञान रूपी लक्ष्मी का तू स्वामी है। हे शुभ नाम वाले आत्मन् ! सुन, तुझ में ही ज्ञान रूपी लक्ष्मी का निवास है। तुझ में ही चेतन गुण है। तेरा ही चेतन नाम है बाकी सब जड है। हे आत्मन् ! यह मानव भव दुर्लभ है अतः जरा भी मत चूक, हे स्वामी ! तू मत चूक, हे राज राजेन्द्र ! तुझे यह दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ अब किंचित भी न चूक ॥

योगी राज अपनी आत्मा को इस भांति जागृत कर रहे है। इस निस्पृह देश के निर्भय नगर के संतोष रूपी गढ (किला) है। अर्थात संतोष–आत्म तृप्ति ही इस निर्भय नगर का गढ है। इस गढ के साधु–संगति रूप दृढ–मजबूत दरवाजा है। (इस कारण यहाँ मोह का प्रवेश नही हो सकता है) इस गढ के दरवाजे पर विवेक रूपी द्वारपाल सर्वदा जागता रहता है। यहॉ आगम मार्गदर्शक के तुल्य है—समान है ॥२॥

यहाँ दृढ श्रद्धान रूपी निपुण सूत्रधार–संचालक है। इस ही के संकेत पर सम्पूर्ण शासन चलता है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, मध्यस्थ भाव मय यहाँ का विनोद पूर्ण व्यवहार है। वैराग्य रूपी मित्र कभी बिछुडता नही है—साथ नही छोडता है। आत्म-रमणता ही यहाँ की अपार क्रीडा है ॥३॥

यहॉ बारह भावना रूपी नदिये सदा वहती है इन नदियों में समता रूपी गहरा जल है। इन बारह भावना रूपी नदियों के समता रूप जल से ध्यान रूप छोटा होज (कुंड) सदा ही भरा रहता है और यहाँ समर्पण भाव रूप हवा सदा चलती रहती है ॥४॥

इस निर्भय नगरी मे किसी भी प्रकार का उपद्रव नहीं है। इस नगरी मे रहने वालों का मन कभी उचाट नही होता–अस्थिर नही होता। और यहाँ पर-भाव रमण रूप दुष्ट अकाल का भय

नहीं है। यहाँ अति वृष्टि आदि ईतियों का भय नहीं है। यहाँ अनीती अनाचार का प्रवेश नहीं है। ईति रूपी अनीतियाँ यहाँ व्याप्त नहीं है। यहाँ तो आनन्द ही आनन्द का भोग है ॥५॥

योग सिद्धि **७५** **राग–रामगिरि**

आतम अनुभव प्रेम को, अजब सुण्यो विरतंत।
निरवेदन वेदन करे, वेदन करै अनत ॥ साखी ॥
म्हारो बालूडो सन्यासी, देह देवल मठवासी ॥
इडा पिंगला मारग तजि जोगी, सुखमना घरि आसी।
ब्रह्मरंध्र मधि आसण पूरी बाबू, अनहद नाद बजासी ॥म्हारो ॥१॥
जम नियम आसण जयकारी, प्राणायाम अभ्यासी।
प्रत्याहार धारणा धारी, ध्यान समाधि समासी ॥म्हारो०॥२॥
मूल उत्तर गुण मुद्राधारी, परयंकासन चारी।
रेचक पूरक कुंभककारी, मन इन्द्री जयकारी ॥म्हारो०॥२॥
थिरता जोग जुगति अनुकारी आपो आप विचारी।
आतम परमातम अनुसारी, सीझे काज सवारी ॥म्हारो॥४॥

(७५) इस पद की साखी (दोहा) 'अ' और 'इ' प्रति मे नही है। इस पद मे कवि का नाम नही होने से कहा नही जा सकता कि यह किसका है अतः यह शंकास्पद है।

पाठान्तर—प्रेम को = रसिकको (क.वु) निरवेदन = निर्वेदी (क.वु.) इडा = इंगला (इ) जोगी = योगी (इ उ.) सुखमना=सुषमना (उ,क.), । घरि= घर । (इ.उ) आसी=वासी (क.वु.) । नाद = तान (इ क वु.) । जम=जिम (आ), यम (इ क.वु.) । परयंकासन = पर्यंकासन (क), पयंकासन (वु) । चारी = वासी (वु) । कुंभककारी = कुंभकसारी (आ.उ.क.वु) । जयकारी = जयकासी

(त्रु)। जोग जुगति = योग युगति (अ.उ.) विचारी = विमासी (इ.वु.क.)। सवारी = समासी (इ वु.)।

शब्दार्थ—अजब = आश्चर्यकारक। विरतंत = वृत्तांत, वर्णन। निरवेदन = स्त्री पुरुषादि वेद रहित, केवली भगवान। वेदन करे = वेदते है, भोगते हैं, जानते हैं। वालूडो = अल्पवयस्क, बालक। देवल = मंदिर, मकान। इडा = वामनाडी, वामनाक का छिद्र, वाम नाक से चलने वाला स्वर, चन्द्रनाडी। पिंगला = दाहिनीनाडी, दाहिनी नाक का छिद्र, दाहिने नाक के छिद्र से चलने वाला स्वर, सूर्यनाडी। सुखमन = सुष्म्नानाडी, नाक के दोनो छिद्रो से चलने वाला स्वर। ब्रह्मरध्र = मस्तक के वीच मे गुप्त छिद्र। मधि = मध्य, वीच मे। आसन पूरी = बैठकर, स्थिर करके। अनहदनाद = कान वंद करने पर सुनाई देने वाला स्वर, अंतरध्वनि। जम = यम, अहिंसा, सत्य आदि पाच यम जो आजीवन पालन किये जाते है। नियम = अल्प समय के लिये पाले जाने वाले नियम। यम, नियम, आसान, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि ये योग के आठ अंग है। इनकी पूर्णजानकारी के लिये श्री हेमचंद्राचार्यका योगशास्त्र, श्री शुभचद्राचार्य का ज्ञानार्णव श्री चिदानंद जी महाराज का स्वरोदय तथा अन्य आचार्यो के योग सवंधी ग्रंथ देखने चाहिये। समासी = समा जाता है, लीन हो जाता है। मूल = मूलगुण, यम अहिंसा आदि। उत्तर = उत्तरगुण, नियम अहिंसा आदि को पुप्ट करने वाले नियम। मुद्राधारी = योग की अनेक मुद्राओ (आकृतियों) को धारण करने वाला। परयंकासन = पर्यंकासन एकप्रकार का आसान (योग के ८४ आसनों मे से)। चारी = चलने वाला, अभ्यासी। कुंभक=अंदर और वाहर जाने वाले श्वास को रोकना जयकारी = जीतने वाला। थिरता = स्थिरता। अनुकारी = अनुकरण करने वाला, आज्ञाकारी। सीझै = सिद्ध हो जाता है। सवारी = शीघ्र। अनुसारी = अनुसरण करने वाला, अनुयायी।

अर्थ—आत्म अनुभव प्रेम का वृत्तान्त आश्चर्यकारक सुना जाता है। इस आत्मानुभव को पुरुष, स्त्री, और नपुंसक-तीनों वेदों से रहित ही व्यक्ति वेदन कर सकता है,—भोग सकता है—जान

सकता है अर्थात् केवली भगवान ही इसे अनंत काल तक भोगते है ॥साखी॥

वेदोदय नवें गुणस्थान तक ही होता है और इसकी सत्ता भी नवें गुणस्थान तक ही है। क्षायिक भाव से तो वेदोदय व सत्ता का नाश नवें गुणस्थान मे हो जाता है किन्तु उपसम श्रेणी वाले के इनका उपसम भाव रहता है इसलिये उन्हें अपूर्वकरण ग्यारहवें गुण स्थान तक पहुंचा तो देता है पर क्षायक भाव विना आगे न वढ़कर उन्हें पीछे लौटना ही पडता है। इसलिये केवली भगवान ही वेदन करते है।

मेरा वाल-अल्पवयस्क (अल्प अभ्यासी, अल्प कालिक सम्यक्त्वी) सन्यासी जो देह-शरीर रूपी मंदिर-मठका निवास करने वाला है, वह इडा, पिंगला नाडियों का मार्ग छोडकर सुषुम्नानाडी के घर आता है। आसन जमाकर सुषुम्ना नाडी द्वारा प्राणवायु को ब्रह्म रंध्रा मे लेजाकर अनहदनाद बजाता हुआ चित्तवृत्ति को उसमे लीन कर देता है ॥१॥

यम-नियमों को पालन करने वाला, एक आसन में दीर्घकाल तक बैठने वाला, प्राणायाम का अभ्यासी, प्रत्याहार, धारणा व ध्यान करने वाला शीघ्र ही समाधि प्राप्त कर लेता है ॥२॥

वह वाल सन्यासी संयम के मूलगुण और उत्तर गुणों को धारण करने वाला है। पर्यंकासन का अभ्यासी है। रेचक, पूरक और कुंभक प्राणायाम क्रियाओं को करने वाला है और मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला है ॥३॥

इस प्रकार योग साधना अनुगमन करता हुआ वह सन्यासी स्थिरता ग्रहणकर अपने आत्म स्वरूप का विचार करता हुआ आत्मा और परमात्मपद का अनुसरण करता है तो उसके सर्व कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं ॥४॥

प्रीतम उपालम्भ　　　　७६　　　　राग—जैजैवंती

तरस कीजई दइ को दई की सवारी री ॥
तीच्छन कटाच्छ छटा, लागत कटारी री ॥तरस० ॥१॥
सायक लायक नायक प्राण को प्रहारी री ।
काजर काज न लाज बाज न कहुं वारी री ॥तरस० ॥२॥
मोहनी मोहन ठग्यो, जगत ठगारी री ।
दीजियै 'आनंदघन' दाद हमारी री ॥तरस० ॥३॥

(७६) यह पद कुछ अटपटा होने से शंकास्पद मालूम होता है । लगता है संग्रहकार के दोष से वास्तविक पाठ गडबडा गया है ।

पाठान्तर—कीजइ, = कीजिये (इ), कीजइरी (उ) तीच्छन = तीक्ष (आ), तीछन (इ), तिक्षन (उ) । कटाच्छ = कटाव (आ), कटाछ (इ), कटाक्ष (उ) काजर = कांजर (उ) । लाज बाज न = लाजन बाजु (आ) । वारी री = वारी (आ) । दाद = दाइ (उ) ।

शब्दार्थ—तरस = दया । दइको = दैवको विधाता को । दईकी = विधाता की, कर्म की । सवारी = वाहन, जलूस, लश्कर । तीच्छन = तीक्ष्ण, तेज, पैने । कटाच्छ = कटाक्ष, टेडी नजर, व्यंग, अपेक्षा । छटा = प्रभा, झलक । कटारी = कटार । सायक = वाण । लायक = योग्य, जिज्ञासु । नायक = नेता, सरदार (आत्मा) । प्रहारी = प्रहार करने वाला, चोट पहुंचाने वाला, घातक । काजर = काजल । वारी री = मना करके, दूर करके । बाज = दूर होना, अलग होना । दाद = सहायता ।

पूर्व पाठिका—मोहनीय कर्म के उदय से जब चेतन ऊपर के गुणस्थान में चढ़कर पीछे गिरता है, उस समय चेतना बडी दुखी होती है ।

चतुर्थ गुणस्थान मे आत्मज्ञान सम्यकत्व प्राप्त होना है। पांचवें में देशविरति, छठे मे सर्वविरति, सातवें अप्रमत होता है, आठवें गुणस्थान मे शुक्ल ध्यान-आत्मध्यान ध्याते हुये जीव ऊपर चढता है। फिर दो घडी में सम्पूर्ण कर्म मल का नाश करते हुये, नवें, दसवें, फिर बारहवे गुण स्थान को पार करते हुये केवल ज्ञान स्वरूप तेरहवें गुणस्थान को जीव प्राप्त कर लेता है। आठवें गुणस्थान में चेतना चेतन से एकता अनुभव करती है और तेरहवें गुणस्थान में एकत्व प्राप्त कर लेती है।

चोथे गुणस्थान से जब पतन होता है तो बहुत अल्प समय जीव दूसरे गुणस्थान मे रूक कर पहिले में जा पहुंचता है। सम्यक्त्व प्राप्त कर जब जीव गिरता है, उस समय की परिस्थिति का इस पद मे दिग्दर्शन है। चेतना विलाप करती हुई कहती है—

हे विधाता ! जरा दया कीजिये। यह आपकी कैसी सवारी है ?—कैसा जलूम है ? इसके तीक्षण कटाक्ष (भ्राकुटी) की प्रभा मेरे कटार के समान पार हो जाती है ॥१॥

हे सयाने नायक ! (चेतन) ये सांसरिक प्रलोभन तीर के समान प्राणों पर प्रहार (चोट) करवाने वाले है। इस दृश्य प्रपंचको देखने के लिये न तो अंजन लगाने की आवश्यकता है और न लोक-लाज की बाधा (रुकावट) हैं। स्वेच्छा से प्रलोभन नहीं रुकते है और इन्हें रोकने वाला विरला ही होता है ॥२॥

जगत को ठगने वाली मोहनी ने मेरे मन-मोहन चेतन को ठग लिया है। हे आनंदघन प्रभो ! मेरी सहायता कीजिये। आपकी सहायता से ही चेतन मोहनी के फंदे से अलग हो सकता है ॥३॥

अखंड स्मरण ७७ राग–रामगिरी

हमारी लौ लागी प्रभु नाम।

आम खास अरु गोसलखाने, दर अदालत नहीं काम

॥हमारी०॥१॥

पांच पचीस पचास हजारी, लाख करोरी दाम।
खाये खरचे दिये बिनु जात हैं, आनन करि करि श्याम
॥हमारी०॥२॥

इतके न उतके सिव के न जिउ के उरभि रहे दोउ ठाम।
संत सयानप कोई बतावे, 'आनंदघन' गुणधाम ॥हमारी०॥३॥

(७७) भाषा और शैली की भिन्नता ही इस पद के शंकास्पद का कारण है संभव है यह पद भक्त कवि आनदघन का हो।

पाठान्तर—लौ = ल्यै (उ), लय (क.बु.) आम = आंब (अ), अमव (आ), अंब (उ)। गोसलखाने = गुसलखाने (आ)। दर = अंदर (इ) अदालत = यदालत (उ) करोरी = किरोरी (इ), किरोडी (उ)। खायै = खाई (इ), दिये विनु = दिए विना (अ), दिइ विनु (उ)। 'इ' प्रति मे पाठ इस प्रकार है– "खाई खरची दिन वितियत हैं, यों तन कर कर स्याम"। इतके न उतके = इतके उतके (इ उ)। इनके न उनके (क बु.)। जिउके = जिनके (इ.उ.)। दोउ = विन (आ) विनु (इ)। सयानप = सयाने (इ.उ.)। कोई = कोय (इ)।

शब्दार्थ—लौ = लगन, चित्तवृत्ति, आशा। आम = जनसाधारण के एकत्रित होने का स्थान, आम दरबार,। खास = विशेष व्यक्तियो के एकत्रित होने का स्थान, दरबारे खास। गोसलखाने = स्नानघर, वह स्थान जहा बादशाह विशेष (निजू) व्यक्तियो से मिलते है। दर = मे, अंदर, द्वार। आनन = मुख। श्याम = काला। इतके न उतके = इधर के न उधर के। ठाम = स्थान।

अर्थ— मेरी लगन—चित्तवृत्ति तो भगवान (अरिहंत-सिद्ध) के नाम स्मरण मे लग रही है। प्रभु के ज्ञानादि गुण स्मरण मे मेरा मन दत्त चित्त है। यह मेरा सालंबन ध्यान है जिस मे मै लीन होता हूं। मुझे बादशाहों के आम और खास दरबारों मे जाने, बादशाह के एकान्त स्थान मे जाकर प्रतिष्ठा पाने की इच्छा नहीं है। और न

मुझे न्यायालय के अधिकारी बनने से ही काम है, क्योंकि मेरा मन तो प्रभु स्मर्ण में लीन है ।।१।।

संसार में मानव पांच पच्चीस व पच्चास हजार यहां तक कि लाखों करोडों रुपया संग्रह करने मे लव लीन रहता है, और विना खाये–उस धन को विना भोगे, विना खर्च किये ही, अपने मुख मे कालिख पोत कर–लगाकर चला जाता है सब का सव समय तृष्णा के चक्कर में लगा कर मानव अपना जन्म—आयु खो देता है विना भगवद् भजन के ही ससार से चला जाता है ।।२।।

ऐसे मानव न इधर के रहते है, न उधर के, न उनका यह लोक सुखप्रद होता है और न परलोक ही सुधरता है। न तो वे अपने शरीर संवंधी सुख ही भोगते है और न आध्यात्मिक कार्य ही करते है। इस प्रकार वे दोनों के वीच उलझे रहते है। कोई विचक्षण आत्म ज्ञानी सन्त मुझे (जिसे प्रभु के नाम की लगन है) आनन्द के धन और उनके गुणों के स्थान प्रभु का साक्षात्कार करा देवे तो मेरे सर्व कार्य सिद्ध हो जावें ।।३।।

प्रिय मिलन ७८ राग–वसंत

प्यारे आई मिलो कहा, अैठे जात ।

मेरो विरह व्यथा अकुलात गात ।।प्यारे०।।१।।

एक पईसारी न भावै नाज, न भूषण नहि पट समाज ।।प्यारे०।।२।।

मोहि निरसनि तेरी आस, तुम ही शोभ यह घर की दास ।।प्यारे०।।३।।

अनुभवजी कोऊ करो विचार, कद देखों ह्वै वाकी तन में सार ।।प्यारे०।।४।।

जाई अनुभव समझाय कंत, घर आए "आनंदघन" भए वसंत ।।प्यारे०।।५।।

(७८) यह पद हमारी केवल 'अ' प्रति मे है औरो मे नही है। भाषा और शैली भिन्नता के कारण शंकास्पद है।

पाठान्तर—आइ = आय (क.बु.)। कह = कहां (क.बु.) अंठे = येते (क.बु)। पईसारी = पेसाभर (क बु)। मोहि........दास = मोहन रास न दूसत तेरी आसी, मदनो भय है घर की दासी (क बु)। अनुभवजी........विचार = अनुभव जाय के करो विचार (क,बु.)। जायके = जाइके (बु)। देखो = देखे (क बु.)। ह्वै = द्वै (क बु.)। जाइ = जाय (क.बु.)। अनुभव = अनुभव जई (क बु.)।

शब्दार्थ—कहा अंठे जात = क्यो अकडे जा रहे हो। गात = शरीर। नाज = अनाज। भूषण = आभूषण, जेवर। पट = वस्त्र। निरसनि = निराश। कद = कब। वाकी = उनकी।

अर्थ—शुद्ध चेतना कहती है—हे चेतन ! आकर दर्शन दीजिये। इतने क्यों अकठे (ऐठे) जा रहे हो ? नाराज क्यों हो रहे हो ? मै बार बार आपको अपने घर बुला रही हूं फिरभी आप नही आ रहे हो। आपके विरह के दुख से मेरा शरीर आकुल-व्याकुल हो रहा है ॥१॥

मेरी ऐसी दशा हो रही है कि मुझे एक पैसे भर भी अन्न अच्छा नही लगता है—न गहने वस्त्र पहिनना, अच्छा लगता है और न समाज में कही जाना-आना अच्छा लगता है ॥२॥

हे चेतनराज ! इस शरीर रूपी घर की शोभा आप से ही है। मै तो आपके घर की दासी हू। हे चेतनराज ! आपके आने की आशा से मै निराश हो गई हूं। मुझे अब आपके आने की आशा नहीं रही है ॥३॥

अब चेतना अनुभव से कह रही है—हे अनुभवजी ! कुछ विचार तो करो। वह (चेतन) तो कब देखेगे, परन्तु तुम तो देखो। उनकी याद रूपी सार मेरे शरीर में लगी हुई है। जिस प्रकार खाती की सार

लकडी को वींध डालती है उसी प्रकार उनकी याद रूपी सार मेरे शरीर को छेद रही है ॥४॥

शुद्ध चेतना की बात सुनकर अनुभव ने जाकर चेतन को समझाया। स्वरूपानद के धनी चेतन अपने स्वभाव रूपी घर आगये और उनके आने से मानो वसंत का आगमन हो गया हो आनंद लह-लहा गया हो ॥५॥

प्रियतम को प्रार्थना ७९ राग—वसंत

प्यारे जीवन एह साच जान।
उत बरकत नांहि तिल समान ॥१॥
उत न मगो हित नांहिनै एक।
इत पकर लाल छरी खरे विवेक ॥२॥
उत सठ ठग माया मान डुंब, इत ऋजुता मृदुता निजकुटुंब ॥३॥
उत आसा तिसना लोभ कोह, इत शांत दांत सतोष सोह ॥४॥
उत कला कलकी पाप व्याप, इत खेले 'आनंदघन' भूप आप ॥५॥

(७९) यह पद केवल हमारी 'अ' प्रति मे ही है।

पाठान्तर—नांहि = नांहिन (क), नाही (बु)। उत.........एक = उनसे मांगुं दिन नाहि एक (क), उनसे मांगु दिन नाहि एक (बु)। छरी खरे = छ-'री' करि (क), छरि करि (बु)। उत....कुटुंब = उत शठता माया मान डुंब, इत ऋजुता मृदुता नीज कुटुंब (क), उत, शठता माया मान डुंब, इत रुजता मृदुता मानो कुटुंब (बु)।

शब्दार्थ—एह = यह। उत = उधर। बरकत = वृद्धि, लाभ। मगो = मांगो, चाहो,। नाहिनै एक = भी नहीं। छरी = छडी, आसा। खरे = खड़े

हुये । दुंव = दंभ कपट । ऋजुता = सरलता । तिसना = तृष्णा, लालसा । कोह = क्रोध । दांत = इंद्रियजय, इंद्रियो पर विजय । सोह = शोभायमान है ।

अर्थ—सुमति चेतन से कह रही है—हे प्रिय ! हे जीवन प्राण ! यह बात सच मानिये कि उधर ममता के फंदे मे पडने से तिल के बराबर भी सद् गुणों की वृद्धि नही है । उधर की वृद्धि से जरा भी हित नही होने वाला है ॥१॥

उधर से (ममता की ओर से) कुछ भी न मांगिये क्योंकि उधर आत्म-हित की एक भी बात नहीं है । आत्महित की जरा भी गुंजा-इश नहीं है । इधर विवेक भेदज्ञान की छडी लिये हुये खड़े है जो अनीति की राह से रोकते रहते है ॥२॥

उधर धूर्त ठग, मान, माया और दंभ भरे हुये है । इधर (सुमति की ओर) सरलता, मृदुता विनय रूप अपना परिवार है ॥३॥

उधर (ममता की ओर) वासना, तृष्णा, लोभ और क्रोध है । इधर (सुमति की ओर) शांति, इंद्रिय-जय और संतोष शोभायमान है ॥४॥

उधर (ममता की ओर) कलंकी पाप की कला व्याप्त हो रही है । इधर स्वयं आनदस्वरूप चेतन राज का क्रीडा स्थल है, जहां चेतनराज क्रीडा करते है ॥५॥

जड चेतन–विवेक **८०** **राग–वसंत**

कित जाए मतै हो प्राणनाथ, इत आई निहारो नै घर को साथ ॥१॥

उत माया काया कवण जात, उह जड तुम चेतन जग-विख्यात ॥२॥

उत करम भरम विष बेल संग, इत परम नरम मति मेलि रंग ॥३॥

उत काम कपट मदमोह मान, इत केवल अनुभव अमृत पान ॥४॥
अलि कहै समता उत दुख अनंत, इत खेले आनंदघन वसत ॥५॥

(८०) यह पद हमारी केवल 'अ' प्रति मे हैं। पद सं ७९ और यह पद एक ही भाव को व्यक्त करते हैं। इन दोनो ही पदो मे शैली अन्य पदों से भिन्न है। अतः शंका उत्पन्न होती है।

पाठान्तर—जाण = ज्ञान (वु), जान (क)। उह = यहु (क), वह (वि) संग = अंग (वु)। खेले = खेलहु (क)।

शब्दार्थ—कित = कहां, मतै = विचार। निहारो = देखो। उह = वे।

अर्थ—हे प्राण नाथ चेतन देव ! किधर जाने का विचार है ? आप कृपा कर इधर आकर देखिये तो सही। यहा अपने परिवार क्षमा आर्जव, मार्दव, सत्य आदि का साथ है ॥१॥

उधर छद्मवेश धारिणी माया और काया की क्या असलियत है ? क्या जाति है ? अरे यह तो जड है और आप विश्व-विख्यात चेतनराज हो। इस जड के प्रसंग से अपने चेतन भाव को क्यों भूल रहे हो ॥२॥

उधर ज्ञानावरणादि आठ कर्म प्रकृति से उत्पन्न भ्रम रूप जहरीली वेल छाई हुई है, जिसने चारों ओर से आप को जकड रखा है और इधर समता, श्रद्धा आदि परम कोमल वृत्तियें आपके रंग में रंगी हुई है ॥३॥

उधर काम, कपट, मद, मोह और मान है और उधर केवल आत्मानुभव रूप अमृत का पान है ॥४॥

समता कहती है—हे सखि ! उधर अनंत दुःख है और इधर आनंद राशि-भगवान वसतोत्सव खेलते है ॥५॥

जिन चरणे चित ल्याउं रे मना।
अरहंत के गुण गाऊं रे मना ॥जिन०॥
उदर भरण के कारणें रे गौवां वन में जाय।
चार चरै चिहुं दिस फिरे, वाकी सुरति वछरुआ मांहिरे ॥जि०॥१॥
सात पांच सहेलियां रे, हिलमिल पाणी जाय।
ताली दिये खड खड हंसरे, वाकी रति गगरूआ मांहि रे॥जि०॥२॥
नटुआ नाचै चोक में रे, लाख क लोक सोर।
बांस गृही वरते चढै, वाको चित न चलै कहूं ठोर रे॥जि०॥३॥
जूआरी-मन में जूआरे, कामी के मन काम।
'आनदघन' प्रभू यू है, इम ल्यौ भगवत नाम रे॥जि०॥४॥

(८१) यह पद केवल हमारी 'अ' प्रति मे है। इस पद की भाषा और शैली भिन्न होने से शकास्पद है।

पाठान्तर—जिन = अैसे जिन (क.वु.) अरिहंत = अैसे अरिहंत (क.वु) गौवा = गौआं (क.वु.)। मांहिरे = माहेरे (क.वु.)। लाख... सोर = लोक करै लख सोर (क.वु.) गृही = ग्रही (क.वु) भगवंत = भगवंत को (क.वु)।

शब्दार्थ—चितल्याउं = मनलगाऊं। उदर = पेट। चार = चारा, घास आदि। चिहुं = चारो। सुरति = चित्तवृति। खड खड हसे = मुक्त कठ से हंसती है, खिल खिलाकर हसती है। वरते = वरत्रा, रस्सी।

अर्थ—हे मन! राग-द्वेष-विजयी जिनराज भगवान के चरणों मे अपनी वृत्तियों को इस प्रकार लगा, आत्म शत्रुओं के नाशक अरि-

हन्त भगवान के गुणों का इस प्रकार स्मर्ण कर जिस प्रकार अपना पेट भरने के लिये गायें जंगल मे जाती हैं और वह चारा-घास आदि चरती है, चारो दिशाओं मे घूमती हैं किन्तु उनकी चित्तवृत्ति तो अपने बछडे (वत्स) में ही रहती है ॥१॥

विशेष—हे जीव ! यदि तू अन्तराय कर्म के उदय से सर्व विरति का सेवन न कर सके तो भी अपनी चित्त वृत्तियों को सदा आत्माभिमुख रख । इसमे तनिक भी प्रमाद न कर । सब कार्य करते हुये आत्म जागृति रख । अपने मे कर्तृत्व का अरोपण न करके साक्षी भाव का अरोपण कर, अर्थात् साक्षी भाव से रह ।

आगे योगीराज फिर कहते है—पांच सात सहेलियां हिल्मिल कर पानी भरने के लिये जाती है, वे तालियें बजाती है, खिल खिला-कर हंसती है किन्तु उनकी चित्तवृत्ति तो मस्तक पर रखे हुये घडे (गररी) में ही रहती है । अर्थात् सब कार्य करते हुये भी उनका ध्यान यही रहता है कि कही घडा सिर पर से गिर न जाय ॥२॥

कविराज पुनः उदाहरण देते हुये कहते है-नट सरे बाजार चौक में नाच (नृत्य) करता है । आने जाने वाले, दर्शकगण लाखों बातें करते हैं, शोरगुल करते है । वह नट बांस लेकर रस्सी पर चढकर अनेक कलायें दिखाता है, लोगों के शोरगुल की ओर ध्यान न देकर वह तो अपने चित्त को अपने कार्य की ओर ही रखता है । उसका चित्त किसी दूसरी जगह जाता ही नहीं है ॥३॥

विशेष—इन तीन पदों में—पहिले पद में अहार प्राप्त करने के लिये जाने वाली गायों का वर्णन है, दूसरे पद मे पानी लाने वाली विनोदी स्त्रियों का वर्णन है, और तीसरे में पेटार्थी लोक रंजन का धन्धा करने वाले नट का दृष्टान्त है । इन सब का आशय यहीहै कि चाहे अपनी रोजी के लिये उद्यम करते हो, चाहे मित्र मंडली

में विनोद करते हो, चाहे पेट पालन के लिये लोगों का मन-रंजन का कार्य करते हो, ये सब करते हुये भी अपने को किसी भी अवस्था मे, अपने आत्मा को नहीं भूलना चाहिये। सर्वदा आत्म जागृति रखनी चाहिये। उक्त तीनों कार्य करने वाले जिस प्रकार अपने मूलभूत कार्य को नही भूलते हैं उसी प्रकार हमे भी जिनेश्वर देव का स्मरण दत्तचित्त होकर करना चाहिये। सांसारिक-व्यवहारिक कार्य करते हुए भी चित्त प्रभु मे रखो।

कविराज आनन्दघनजी दो सांसारिक उदाहरण देते हुये कहते है--जिस प्रकार जुआ खेलने वाले की वृत्ति हमेशा जुआं के दाव पेच मे, और कामी (व्यभिचारी) पुरुष का मन सदा स्त्रियों मे लगा रहता है, उसी प्रकार हे भव्य प्राणियों! अपनी प्रबल लगान से तुम प्रभु के नाम व गुणो का स्मर्ण करो ॥४॥

महासत्ता,-सामान्य-विशेष ८२ राग–धन्यासिरी

चेतन सकल वियापक होई।
सत असत गुण परजाय परिणति, भाउ सुभाउ गति जोई ॥चे०॥१॥
स्व पर रूप वस्तु की सत्ता, सीझे एक नहीं दोई।
सत्ता एक अखंड अबाधित, यह सिद्धंत पच्छ जोई ॥चे०॥२॥
अन्वय अरु व्यतिरेक हेतु को, समझि रूप भ्रम खोई।
आरोपित सब धर्म और हैं, 'आनंदघन' तत सोई ॥चे०॥३॥

(८२) मुद्रित पुस्तकों मे यह पद दो स्थानो पर है। एक तो ५५वी संख्या पर है जिसमें 'चेतन अपा कैसे लोई' से आरंभ हुआ है तत्पश्चात्– 'सत्ता एक अखंड''''तत सोई' तक ऊपर जैसा ही है। दूसरे ८९वी संख्या पर ऊपर जैसा है वैसा ही है। हमारी 'आ प्रति मे उक्त पद की दूसरी और तीसरी पक्ति नही है।

पाठान्तर— होई = दोइ (आ) । परजाय = परजय (क.वु.वि.) । जोई = दोइ (क वु), होइ (वि.) सिद्धंत = सिधंत (आ), सिद्धांत (उ.क.वु वि.) । पच्छ = पछ (आ,इ.), पख (क.वु.वि.) । पथ (उ) । जोइ = होइ (आ,क,वु)। दोई (उ) । अन्वय अरु व्यतिरेक = अनवय व्यतिरेक (आ,क वु.) । हेतु को = हेतु कउ (आ) । समझि = समजी (क.वु.वि.) । और है = ओराहि (आ) ।

शब्दार्थ—वियापक = व्यापक । गुण = आतमगुण ज्ञानदर्शनादि । परजाय = पर्याय । (सहभावी धर्म गुण और क्रमोपभावी धर्म पर्याय कहलाते हैं) परिणति = परिणमन शीलता, आत्मा के गुण पर्यायों का मन ही आत्म परिणति है, सिद्धो के स्वभाव परिणति है । भाउ = भाव, पारिणामिक, औदायिक औपशमिक, क्षयोपशमिक तथा क्षायिक । सुभाउ = स्वभाव । गति = अवस्था, ढंग । जोई = देखकर, विचार कर । स्व = निज, आत्मा की । पर = अन्य की, जड की । रूप = स्वरूप । सत्ता = अस्तित्व । सीझे = सिद्ध होती है । सिद्धंत पच्छ = शास्त्रीय पक्ष । अन्वय = कार्य कारण सबंध । व्यतिरिक = जहाँ कार्य का अभाव वहां कारण का भी अभाव । हेतु = कारण । आरोपित = एक वस्तु मे अन्य वस्तु के गुण की कल्पना । तत = तत्व, सार वस्तु ।

अर्थ—यह चेतन राज सर्व व्यापक वना है अर्थात् कर्म-मल के नाश होने पर उसके ज्ञान मे सर्व ज्ञेय (जानी जाने वाली वस्तु) भासते हैं। लोक, अलोक की सब स्थिति वह (आत्मा) जानता है, देखता है। इस अपेक्षा से चेतन सर्व व्यापक होता है। अथवा केवली समुद्घात के समय यह आत्मा लोक प्रमाण अपने आत्म प्रदेशों को फैलता है—इस प्रकार भी वह सर्व व्यापक होता है। अन्यथा तो यह आत्मा शरीर प्रमाण ही होता है। यह दोनों अवस्थाये पूर्ण ज्ञान--केवल ज्ञान प्राप्ति पर ही होती है। योगीराज आनंदघनजी वही स्थिति प्राप्त करने के लिये कहते हैं—हे चेतन ! सर्व व्यापक वनो। ऐसा उद्यम करो जिससे केवल ज्ञान प्राप्त हो।

इस चेतन में सत-असत--अस्ति, नास्ति दोनों धर्म है। स्व-द्रव्य की अपेक्षा इसमे अस्ति धर्म है, पर-द्रव्य की अपेक्षा नास्ति धर्म है। आत्मा अपने ज्ञानादि गुण, मनुष्यादि पर्याय-इन गुण-पर्याय की परिणति-परिणमन, क्षायिकादि भाव तथा निज चेतन स्वभाव की गति से यह चेतन सत है व जड धर्म की अपेक्षा से असत है, अर्थात् जड पदार्थ के गुण वर्ण गंध रस स्पर्श इसमें (चेतन मे) नही है ॥१॥

स्व एवं पर वस्तु का स्वरूप व सत्ता एक ही सिद्ध नहीं होती, वह भिन्न-भिन्न है, दो है। अर्थात् चेतन की स्व सत्ता चेतन रूप है तथा जड की सत्ता जड रूप है। यह जड भाव व चेतन भाव दोनों एक वस्तु में सिद्ध नही होते। यह सिद्धान्त पक्ष है कि चेतन एक अखंड व अबाधित सत्ता है ॥२॥

उस चैतन्य सत्ता को अन्वय और व्यतिरेक हेतु से समझकर, स्वरूप सम्बन्धी सम्पूर्ण भ्रम मिटा देने चाहिये। मानसिक, वाचिक और कायिक धर्म भिन्न हैं। ये आत्मा के धर्म नही हैं। इन सब आरोपित धर्मों को भिन्न समझ कर आनंद के समूह रूप ज्ञान दर्शन स्वरूप आत्मा को जानना चाहिये, यही तत्व रूप परम सत्य है। इस चेतन शक्ति की पूर्णता प्राप्त करना ही सर्व व्यापाक होना है ॥३॥

प्रियतम उपालंभ **८३** **राग—वसंत**

प्यारे, अब जागो परम गुरु परम देव।
मेटहु हम तुम बीच भेद ॥

आली लाज निगारो गमारी जात, मोहि आन मनावत विविध भांति ॥प्यारे०॥१॥

आली पेर निमूली चूनडी कांनि, मोहि तोहि मिलन विच देत हानि ॥प्यारे०॥२॥

आली पति मतवाला और रंग, रमे ममता गणिका के प्रसंग
॥प्यारे०॥३॥

अब जड ते जडता घात अंत, चित फूले 'आनंदघन' वसत
॥प्यारे०॥४॥

(८३) यह पद केवल हमारी 'अ' प्रति मे है। इस पद की भाषा और शैली भिन्न है और शीर्षक पद मे पति को संवोधित किया गया है, और आगे सखी से वात चीत होनी है। पूर्वापर का संवंध नही है। तीसरा और चौथा पद तो ऊपर के पदो से सर्वथा भिन्न पड जाते हैं। संग्रहकार ने कोई पद कही का और कोई पद कही का मिलकार यह पद वना दिया हो, ऐसा लगता है। अतः शकास्पद है।

पाठान्तर—मुद्रित प्रतियों मे 'प्यारे' शब्द 'परमदेव' के पीछे है। आली पेर····कांनि = अली पर निर्मूली कुलटी कान (क.बु.वि)। मोहि तोहि = मुनि तुहि (क.बु.)। मतवाला = मतवारे (क.बु वि) तीसरे पद के आदि मे जो 'आली' शब्द है, वह मुद्रित प्रतियो मे नही है। अव····अंत = जव जडतो जडवास अंत (क.वि.) अव जडतो जडवास अंत (बु)।

शब्दार्थ—आली = सखी। गमारी = गंवार। आन = आज्ञा। पेर = पेलना, सताना। घात = प्रहार, चोट।

अर्थ—सुमति कहती है—हे परम गुरु देवादिदेव! अव तो सचेत होवो। आपके और मेरे मध्य जो अन्तर पड़ रहा है उसे मिटा डालो॥

हे सखी! लाज निगोडी गंवार जाति है। वह मुझे तरह तरह की आज्ञायें देकर उनका पालन कराना चाहती है॥१॥

हे सखी! वह निर्मूली लज्जा चूनडी पहिनकर, सजधजकर (शृंगार करके) आपके और मेरे मिलन मे बाधा उत्पन्न करती है। मै अपनी लज्जावश आपके पास नही आ रही हूं॥२॥

हे सखी ! स्वामी तो ममता रूपी गणिका के फंद में (जाल में) पडकर मतवाले हो रहे है और उसी रग मे रम रहे है ॥३॥

अव तो जडवस्तु के ममत्व का अंत होने पर ही—पौद्गलिक भाव का नाश होने पर ही आत्मज्ञान रूप वसंत का आगमन होकर मेरा चित्तरूपी पुष्प खिलेगा और अतिशय आनदप्राप्त होगा ॥४॥

अब ऐसे शंकास्य पद दिने जाते है जो हमारी प्रतियों मे तो है नहीं, किन्तु मुद्रित प्रतियों मे है। इनकी भापा और शैली आनद-घन जी के पदों से भिन्न है। ये पद किसी अन्य जैन कवि के या और कवियों के हो सकते है। भविष्य मे शोधकरने वालों को अन्य कवियों के पद मिलेगे तो वहुत कुछ बातें स्पष्ट होजावेंगी।

८४ राग—आशावरी

बेहेर बेहेर नहि आवे रे अवसर, बेहेर बेहेर नहि आवै ॥अव॥१॥
ज्यूं जाणें त्यूं करले भलाई, जनम जनम सुख पावै ॥अव०॥२॥
तन धन जोवन सबही झूठो, प्राण पलक में जावै ॥अव०॥३॥
तन छुटे धन कौन काम को, कायकूं कृपण कहावै ॥अव०॥३॥
जाके दिल में सांच बसत है, ताकू झूंठ न भावै ॥अव०॥४॥
'आनदघन' प्रभु चलत पथ में, समरि समरि गुण गावै ॥अव०॥५॥

(८४) शब्दार्थ—बेहेर बेहेर = वारवार। अवसर = समय, मौका। पलक मे = क्षण मे, पल मे। कायकूं = किस लिये। भावै = अच्छी लगती है। समरि समरि = वरावर स्मर्ण करके।

नोट—यद्यपि यह पद हमारी 'अ' प्रति मे एक स्थान पर लिखा हुआ है। किन्तु उस स्थान पर इस पद पर कोई क्रम संख्या नही है। मुद्रित पुस्तकों के पाठ से भी भिन्नता नही है अतः पाठान्तर नही दिये गये। यह पद

मुद्रित प्रतियो मे क्रम सख्या १०० पर है। इस पद पर श्री कापडिया जी ने भी आनन्दघनजी के होने मे शका की है।

अर्थ—ऐसा समय बार बार नही आवेगा ऐसा संयोग फिर फिर नही मिलेगा। अर्थात् यह मानव जन्म फिर नहीं मिलेगा। इसलिये जिस समय भलाई करने का अवसर हो उस समय भलाई करलो, जिससे जन्म जन्मांतरों मे भी सुख प्राप्त हो ॥१॥

शरीर, धन-दौलत और यौवन अवस्था ये सब झूंठे है, क्षणभंगुर हैं क्यों कि यह प्राण पल मात्र मे ही उड जाता है ॥२॥

जब शरीर ही नही रहे तो धन किस काम आता है फिर किस लिये कृपण कहलाता है ॥३॥

जिसके हृदय में सत्य का निवास है, उसे झूंठ कभी भी अच्छी नहीं लगती है ॥४॥

कविराज आनंदघनजी कहते है—मार्ग मे चलते चलते बारं बार आनंदघन प्रभु का स्मर्ण करके उनका गुणगान करले ॥५॥

८५ राग—बेलावल

दुल्हन री तूं बडी बावरी पिया जागै तूं सोवे ॥
पिया चतुर हम निपट, अग्यानी, न जानूं क्या होवे।
'आनंदघन' पिया दरस पियासे, खोल घुंघट मुख जौवे ॥१॥

नोट—यह पद हमारी किसी प्रति में नहीं है। मुद्रित प्रतियों इसकी क्रम संख्या १९ है। श्री कापडियाजी ने इस पद को श्री आनंदघनजी की कृति होने मे शंका की है। वास्तव मे इस पद की भाषा और शैली आनंदघनजी की भाषा-शैली से भिन्न है अतः यह [illegible]पद है।

अर्थ—हे दुलहन-नई नवेली स्त्री ! (चतुर्थगुण स्थान में प्राप्त श्रद्धा, सम्यक्त्वी आत्मा) तू बडी ही पगली है क्यो कि तू जानती है कि पति बहुत ही कठिनता से मिलेगा तोभो तू तो सो रही है और पति जागरहा है। पति विभाव दशा मे है।

दुलहन जवाब देती है मेरा स्वामी बहुत हो चतुर है और मै विल्कुल अज्ञानी हूं मै नही जानती कि मुझे क्या करना चाहिये।

आनद के समूह प्रियतम के दर्शनो के लिये यह दुलहन तृषातुर है। लाज शर्म को त्यागकर—घूंघट (परदा) हटाकर प्रियतम का मुख देखने लग गई। और आशा करने लगो कि अब यह प्रियतम मेरी ओर देखेगे। (विभावदशा त्याग कर स्वभाव दशा मे आवेगे)।

श्रृंगार धारण ८६ राग—गौडी आसावरी

आज सुहागन नारी अवधू ॥

मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी निज अँग चारी ॥अवधू॥१॥

प्रेम प्रतीत राग रुचि रंगत, पहिरे जीनी सारी।

मंहिदी भक्त रग की राची, भाव अजन सुखकारी ॥अवधू॥२॥

सहज सुभाव चूरियां पेनी, थिरता कगन भारी।

ध्यान उरवसी उर में राखी, पिय गुन माल आधारी ॥अवधू॥३॥

सुरत सिंदूर मॉग रँग राती, निरतैं वेनी समारी।

उपजी ज्योत उद्योत घट त्रिभुवन, आरसी केवल कारी ॥अवधू॥४॥

उपजी धुनि अजपाकी अनहद, जीत नगारे वारी।

झडी सदा 'आनन्दघन' बरखत, बन मोर एकन तारी ॥अवधू॥५॥

(८६) यह पद मुद्रित प्रतियो मे २० वी संख्या पर है। भाषा-शैली आनन्दघन जी की न होने से शंकास्पद है। यहाँ थोडा पाठ भेद है वह दिया जाता है—चूरियां पेनी = चूरी मैं पेनी (क)। कंगन = कंकन (क.वि)। मोर एकन तारी = विन मोरे एक तारी (बु)।

शब्दार्थ— सुध = खबर । अँगचारी = सहचरी, दासी । प्रतीत = विश्वास, आस्था । रुचि = चाह, इच्छा । जीनी = झीनी, बारीक, महीन । भारी= मूल्यवान । उर वसी = गले मे पहिनने का एक आभूषण । उरमे = हृदय मे । आधारी = धारण की । सुरत = स्मर्ण, शुद्ध उपयोग । राती = रक्त । निरतै= लवलीन, एकाग्रता । समारी = सुधारी, गूंथी । उद्योत = प्रकाश । आरसी = दर्पण । कारी = बना कर । धुनि = ध्वनि । झडी = मेघ धारा । एकन तारी= एक तार, एकाग्र होकर ।

अर्थ— चेतना चेतन से कह रही है—हे अवधूत –आत्मन्–हे अविनाशी चेतन ! आज आपने मेरे सुधि-खबर ली है, मै बडी सौभाग्यशालिनी हूं कि आपने मुझे अपनी सहचरी—सेवा करने वाली बना ली है। ममता का साथ छोड कर आज आपने मुझे स्वीकार कर लिया है। इससे अधिक मेरा सौभाग्य क्या होगा ? ।।१।।

सौभाग्यशालिनी चेतना ने सद्गुणों के प्रेम व श्रद्धा के रंग में रंगी रुचिकर रगवाली बारीक साडी पहन ली (पति के सद्गुणो मे एक रस हो गई) । भक्ति रूपी राचनी मेहदी लगाई और भाव रूपी सुखदायक अंजन (काजल) आखो में लगाया ।।२।।

सहज स्वभाव रूप (ज्ञान दर्शन चारित्रादि) चूडियें और स्थरता रूप मूल्य वान कंगन हाथों में पहिने । ध्यान रूप उरवशी माला प्रियतम के गुणों से पिरोई हुई अपने गले मे धारण की ।।३।।

अनुभव ज्ञान रूपी दर्पण मे प्रतिविम्ब देख कर शुद्धोपयोग रूपी सुन्दर रंग वाला सिन्दूर मांग में लगाया और पति के गुणों में लवलीनता रूपी बेणी (चोटी) को सजाया। इससे हृदय मे एक नवीन ज्योति का प्रकाश फैल गया ।।४।।

इस प्रकार श्रंगार करने के पश्चात् हृदय में अजपा जाप की ध्वनी उत्पन्न हो गई और अनहद नाद के विजय नगारे दरवाजे पर

बजने लगे। इससे आनन्द-मेघ की झडी लग गई और मन-मयूर उस आनन्द मे एक तार हो गया—लव लीन हो गया ॥५॥

उपदेश **८७** **राग–काफी**

ए जिनके पाय लागरे, तूने कहिये ये केतो ।
आठोइ जाम फिरे मद, मातो, मोह निंदरियाशूं जागरे ॥तूने०॥१॥
प्रभु जी प्रीतम बिन नहीं कोई प्रीतम, प्रभु जी नी पूजा घणी मांग रे ॥तूने०॥२॥
भव फेरा वारी करो जिनचंदा, आनन्दघन पाय लाग रे ॥तूने०॥३॥

(८७) यह पद मुद्रित प्रतियो मे क्रम संख्या १०२ पर है। इस पद की भाषा-शैली आनन्दघन जी की भाषा-शैली से भिन्न है। जिस प्रकार से आनन्दघनजी ने अपने भाव अन्य पदो मे व्यक्त किये है, उस प्रकार इसमे नही है अतः यह पद उनका नही दिखाई देता। श्री कापडिया जी ने भी इसे शंकास्पद माना है। हमारे विचार मे सह पद 'जिनदचं' नामक किसी कवि = का होना चाहिये।

शब्दार्थ—केतो = कितना। जाम = याम, प्रहर। निंदरियाशूं = नींद से। घणी = अधिक। माग रे = माग ले। वारी = निवारण, दूर। पाय = पद, चरण।

अर्थ—हे मन तुझे कितना कहा, कितना समझाया, तू जिनेश्वर भगवान के चरणों में लग जा। आठों ही प्रहर—दिन—रात तू मोह—नींद मे मस्त होकर फिरता है। अरे अब तो इस मोह—नींद से जागृत हो ॥१॥

यह जिनेश्वर देव ही सबसे प्रिय है इनके विना संसार में और कोई प्रियतम नहीं है। अतः इन प्रभुजी के चरणों की पूजा अधिक से अधिक याचनकर, उसमें लग जा ॥२॥

अरे जिनचंद आनन्द के समूह जिनेश्वर देव के चरणो मे लग कर इस संसार के आवागमन को दूर कर ॥३॥

निराधार विरहिणी ८८ राग–सोरठ या रामेरी

निराधार केम मूकी, श्याम मुने निराधार केम मूकी।
कोई नहीं हूँ कुंणशूं बोलूं, सहु आलम्बन टूकी ॥श्याम०॥१॥
प्राण नाथ तुमे दूर पधार्या, मूकी नेह निरासी।
जण जणना नित्य प्रति गुण गातां, जनमारो किम जासी
॥श्याम०॥२॥
जेहनो पक्ष लहीने बोलूं, ते मन मां सुख आणे।
जेहनो पक्ष मूकी ने बोलूं, ते जनम लगे चित ताणे ॥श्याम०॥३॥
बात तमारी मन मां आवै, कोण आगल जइ बोलूं।
ललित खलित खल जो ते देखूं, आम माल धन खोलूं ॥श्याम०॥४॥
घटें घटे छो अन्तरजामी, मुज मां कां नवि देखूं।
जे देखूं ते नजर न आवै, गुणकर वस्तु विसेखूं ॥श्याम।०।५॥
अवधें केहनी वाटडी जोऊं, विण अवधें अति झूरूं।
'आनदघन' प्रभु बेगे पधारो, जिम मन आशापूरूं ॥श्याम०॥६॥

(८८) यह पद मुद्रित प्रतियों मे क्रम संख्या ९४ पर है। यह पद भी शंकास्पद है। क्योंकि भाषा व शैली भिन्न है। इस पद को श्री बुद्धि सागर जी ने शंकास्पद माना है।

पाठान्तर— कोई नही "'बोलू' = कोई न नेहु ने कुण सु' बोलु' (क)। लहीने = लईने (क)। तमारी = तुमारी (क)। देखू' = देखु' (खु)। केहनी = कहीनी (क)।

शब्दार्थ — निराधार = विना सहारे। केम = किस प्रकार, क्यो। कुणशू' = किस से। मूकी = छोडी। सहु = सब। आलंबन = अवलंभ सहारा। टूकी = टूट गये। निराशी = निराश करके, ना उम्मीद करके। जण जणना= प्रत्येक व्यक्ति के। जनमारो = जीवन। जेहनो = जिसका। लहीने = लेकर। सुख आणे = सुख मानेगा प्रसन्न होगा। चित ताणे = मन में खिचा हुआ रहेगा, वैर रखेगा। तमारी = तुम्हारी। आगल = आगे, सन्मुख। जइ = जाकर। ललित = सुन्दर। खलित = स्खलित, पतित। खल = दुष्ट। आम = इस प्रकार। माल धन = सम्पत्ति, रहस्य। घटे घटे = प्रत्येक हृदय की। कां = क्या। गणकर = भलाई करने वाले। विसेखू = खास कर के। अवधे = अवधि, मियाद। वाटडी = मार्ग, प्रतीक्षा। झूरू' = दु:ख उठाती हूँ, विलापात करती हूँ।

अर्थ— चौथे गुग स्थान से च्युत चेतन राज को दुखित सुमति या चेतना कह रही है—हे श्याम ! हे नाथ ! आपने मुझे विना आधार (सहारे) के ही क्यों छोड दिया। मुझे निराधार छोडने का क्या कारण है। मेरा तो अब कोई नही हैं। मै किससे हृदय खोल कर वात चीत करू' ? मेरे तो सब अवलवन (आश्रय) दूर हो गये है—भ्रष्ट हो गये है ।।१।।

हे प्राण नाथ ! आप तो मुझे छोड कर दूर चले गये हो। (चौथे गुण स्थान से प्रथम गुण स्थान मे) मै आपके स्नेह (प्रीति) की प्राप्ति मे निराश हो गई हूं। अब मै क्या करू'। आपके विना, आपके विरह मे हर रोज हरेक के (मुझ से जिनका मेल नही—कुत्सित मनो-वृत्तियें) गुण गाते हुये मेरा जीवन किस प्रकार व्यतीत होगा ? ।।२।।

हे प्राणनाथ चेतन ! में जिसका पक्ष लेकर बोलती हूं—जिस की तरफ दारी करती हूं वह तो मन में प्रसन्न होता है, जिसके विपक्ष मे–विरोध मे कुछ कहती हुं वही जीवन पर्यन्त वैर भाव रखने लगता है ॥३॥

(चेतन और सुमति या चेतना का अभेद है जहाँ चेतन है वहाँ चेतना है प्रथम गुणस्थान में गए हुए चेतन के साथी मिथ्यात्व को ही बढाते है। इसलिए चेतना कहती है कि इस अवस्था–मिथ्यात्व में प्राप्त हरेक (मनोवृत्ति) के अनकूल बोलती हूँ तो वे प्रसन्न होते है अर्थात् मिथ्यात्व बढता है और यदि विरोध मे कुछ हूं कहती तो वे मनोवृत्तियाँ तन जाती है) ।

विरहिणी चेतना कहती है—हे स्वामिन् ! मेरे मन मे तो आपके संबंध की ही बाते आती हैं। मै आपकी याद जरा भी भूलती नहीं हूं। आपके बिना आपकी बाते किसके आगे–सामने जाकर कहू। सुन्दर और पतित दुष्टों को (पतित करने वाली मनो वृत्तियों को) अपने सामने जब देखती हूं तो उनके सम्मुख अपना रहस्य कैसे खोलूं ? (चेतन की जब सम्यक्त्व दृष्टि हो तभी में उससे अपना रहस्य कह सकती हूं) ॥४॥

हे स्वामिन् आप तो घट-घट के अन्तरयामी है किन्तु मैं तो अपने मे आपके दर्शन कर पाती ही नहीं हूं। जब मै अपने में देखने लगती हूं तो आप कहीं नजर ही नहीं आते है। मै तो आपको गुणमय मानती हूं—ज्ञान दर्शनादिमय मानती हूं। वे गुण मुझे कहीं नजर नहीं आते है ॥५॥

हे नाथ ! कोई मुहूत बताकर जाते तो मैं आपकी संतोष से प्रतीक्षा करती—राह देखती रहती किन्तु आपने मुहूत-समय की

अवधि भी नहीं बताई इससे मैं विलापात करती हूं। (चौथे गुण-स्थान से प्रथम गुणस्थान में जाकर चौथे मे आने का कोई निश्चित समय नही है, अतः चेतना—सुमति विलापात करती है) मेरी इस निराधार दशा को देख कर हे आनद के समूह स्वामी ! आप जल्दी से जल्दी पधारो जिससे मेरे मन की आशा पूर्ण हो। (चेतन मिथ्यात्व त्यागकर सम्यक्त्वी होवे और क्षपक श्रेणी चढ कर शुद्धबुद्ध बने तो मेरी सब आशायें—अभिलाषाये पूर्ण हों) ॥५॥

मदन विजय ८९ राग—सूरति टोडी

प्रभु तो सम अवर न कोई खलक में।
हरि हर ब्रह्मा विगूते सो तो, मदन जीत्यो तें पलक में ॥प्रभु०॥१॥
ज्यों जल जग में अगन बुझावत, बडवानल सो पीये पलक में।
'आनंदघन' प्रभु वामारे नदन, तेरी हाम न होत हलक में ॥प्रभु०॥२॥

(८९) यह पद मुद्रित प्रतियो मे ८२वां पद है। श्री आनदघनजी की चौबीसी प्रसिद्ध है। इस चौबीसी मे उनके २२ही पद कहे जाते हैं। जिस शैली मे चौबीसी के पद हैं। इस पद मे वह शैली नही है। अतः यह पद उनका मानने मे बाधा उपस्थिति है। संभव है यह पद किसी अन्य जैन कवि का हो और आनंदघनजी के नाम पर चढ गया हो।

शब्दार्थ—अवर = दूसरा। खलक मे = संसार मे। विगूते = असमंजस मे डाल दिया, बुद्धि भ्रष्ट करदी। अगन = अग्नि। बडवानल = समुद्र की आग। हाम = हिम्मत, शक्ति हामी, स्वीकृति। हलक मे = कंठ मे। तेरी····· हलक मे = तू अनिर्वचनीय है।

अर्थ—हे अश्वसेन राजा और वामा देवी के पुत्र पार्श्वनाथ प्रभो ! आपकी बराबरी करनेवाला इस संसार मे दूसरा कोई भी

नहीं है। विष्णु, महादेव और ब्रह्मा ये तीनों महान् देव कहे जाते है। इन तीनों महान् देवों को कामदेव ने धर दवाया, भ्रष्ट कर दिया अर्थात् सरस्वती जो ब्रह्मा की पुत्री कही जाती है, उसे देखकर ब्रह्मा कामातुर हो गये, विष्णु लक्ष्मी के सहवास में सदा रहते है और महादेव भीलनी का रूप देखकर मोहित हो गये। इस प्रकार तीनों महान् देवों को कामदेव ने भ्रष्ट कर दिया। उस कामदेव को आपने हे प्रभो! एक क्षणमात्र में विजय कर लिया—जीत लिया ॥१॥

संसार मे जिस प्रकार अग्नि को जल—पानी शमन कर देता है—बुझा देता है और अग्निशामक जल को वडवानल एक क्षण मे पी जाता है इसी प्रकार आपने भी कामाग्नि को पी लिया है—शमन कर लिया है। आनदघनजी कहते है—हे वामा देवी के पुत्र पार्श्वनाथ भगवान! आपकी शक्ति का वर्णन कठों से नहीं कहा जा सकता है अर्थात् आपकी काम विजय शक्ति अनिर्वचनीय है। अर्थात् आपने जो ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया है उसका वर्णन वाणी से नही किया जा सकता है, वह अनिर्वचनीय है ॥२॥

बिरह व्यथित उद्गार ९० राग–मालसिरी

वारे नाह सग मेरो यूंही जोवन जाय।
ए दिन हसन खेलन के सजनी, रोते रैन विहाय ॥वारे०॥१॥
नग भूषण सें जरी जातरी, मो तन कछु न सुहाय।
इक बुद्धि जीय में ऐसी आवत है, लीजैरी विष खाइ ॥वारे०॥२॥
ना सोवत है लेत उसासन, मनही में पिछताय।
योगिनी हुय कै निकसूं घर तैं 'आनंदघन' समजाय ॥वारे०॥३॥

(९०) मुद्रित प्रतियो का यह पद ३६वाँ है। भाषा-शैली श्री आनंदघनजी की भाषा शैली से भिन्न होने से शंकास्पद है।

शब्दार्थ—वारे = वाल, छोटे। रैन = रात्रि। विहाय = व्यतीत होती है। नग भूषण = आभूषण।

अर्थ –शुद्ध चेतना अपनी सखी समता से कह रही है— हे सखी ! छोटे पति के साथ (बालभाव छद्मस्थ अवस्था वाले चेतन के साथ) मेरा यह यौवन व्यर्थ ही जा रहा है। यह समय तो— यौवनावस्था तो हंसने खेलने मौज-मजा करने के दिन है किन्तु पति के छोटे होने के कारण मेरी रात्रि तो रोते रोते ही व्यतीत होती है। अर्थात् यौवन अवस्था रूप धर्म साधनाकाल तो हंसने-खेलने रूप ज्ञान ध्यान तप आदि करने का समय है। किन्तु यह समय चेतन प्रमाद-कषायों मे व्यतीत कर रहा है। इस दुख से दुखित मेरी शाति रूप रात्रि रोते हुये वियोग मे व्यथित व्यतीत हो रही है ॥१॥

क्षमा, शील, संतोप आदि रत्नों से जटित व्रत रूप आभूषण चेतन स्वामी के वालभाव मे होने के कारण, अच्छे नही लगते हे— व्यर्थ हो जाते है। ऐसी अवस्था से तो (चेतन के स्व–भाव अवस्था मे नही आने से) मेरे मन मे ऐसी आती है कि इस दुख से छुटकारा पाने के लिये विप पान करलू ? ॥२॥

हे सखी ! मुझे सोना भी नसीब नही है। स्वामी के वालभाव से दुखित निश्वासे डालती रहती हू और मन ही मन पश्चात्ताप करती रहती हू। स्वामी चेतनराज पर-भाव दशा त्यागकर स्व–भाव दशा मे नही आ रहे है। यह दुख मुझे बहुत बडा है। सखी ! उन आनद के घर चेतनराज को समझाओ, नही तो मै योगिनी बन कर घर से निकल जाऊंगी। कुछ भी करने योग्य नही रहूंगी ॥३॥

सच्ची लगन **९१** **राग–ईमन**

लागी लगन हमारी, जिनराज सुजस सुन्यो मै ॥लागी०

काहूके कहे कबहू नहि छूटे, लोकलाज सब डारी।

जैसे अमली अमल करत समें, लाग रही ज्यूं खुमारी ॥जिन०॥१॥

जैसे योगी योग ध्यान में, सुरत टरत नहि टारी।
तैसे 'ग्रानंदघन' ग्रनुहारी, प्रभु के हूँ वलिहारी ।।जिन०।।२।।

(९१) मुद्रित प्रतियों मे इस पद की संख्या ८४वी है। यह पद भी शंकास्पद है, क्योकि इस पद की भाषा-शैली आनन्दघनजी की भाषा-शैली से भिन्न है।

पाठान्तर—कवहू = कवही (वु.)। नहि = न (वु) डारी = मारी (त्रि)

शब्दार्थ—लगन = दृढ प्रीति। अमली = ग्रफीम खाने वाला, नशावाज। ग्रमल = ग्रफीम खाना। समे = समय। खुमारी = नशे का प्रभाव। सुरत = स्मर्ण की तल्लीनता। टरत = टालने प भी, दूर करने पर भी। अनुहारी = अनुरूप, समान, ग्रनुकरण करने वाला, अनुसरण करने वाला।

ग्रर्थ—हे जिनराज! हे जिनेश्वर देव! मैंने जव से आपका सुयश सुना है—आपकी विपय-कषायों की विजय और मैत्री प्रमोद, कारुण्य तथा मध्यस्थ भावना के सवंध मे सुना है तव से ही मेरी दृढ प्रीति आप मे लग गई है।

यह आप में लगी हुई मेरी लगन किसी के कहने से भी नहीं छूट सकती है। इस आपकी प्रीति के पीछे मैंने सव लोक लज्जा का त्याग कर दिया है। जिस प्रकार अफीम का नशा करने वाले पर नशा करते समय, नशे का प्रभाव वढता जाता है, उसी प्रकार मेरी लगन आप में वढती जा रही है।।१।।

जिस प्रकार योग मुद्रा में ध्यानस्थ योगी की स्मर्ण मे लगी तल्लीनता दूर करने पर भी दूर नहीं होती है, उसी प्रकार आनंदघन प्रभु जिनेश्वर देव में लगी हुई मेरी लगन (दृढ प्रीति) अमली और योगी की तल्लीनता की अनुसरण करने वाली है। जिस आनंद की वर्षा करने वाले प्रभु मे मेरी लगन लगी हुई है उस प्रभु की मैं बार-

वार बलिहारी हूं अर्थात् मैं उन पर आत्मोत्सर्ग करता हूं । उनके अनुरूप बनना चाहता हूं ॥२॥

बालपति एवं स्वार्थी कुटुम्ब ९२ राग–धनाश्री

अरी मेरो नाहेरो अतिवारो, मैं ले जोबन कित जाऊं ।
कुमति पिता बँमना अपराधी, नउवा है वजमारो ॥अरी०॥१॥
भलो जानि के सगाई कीनी, कौन पाप उपजारो ।
कहा कहिये इन घर के कुटुम्ब ने, जिन मेरो काज बिगारो ॥अरी०॥२॥

(९२) *यह पद मुद्रित प्रतियों में १०१वीं संख्या पर है। इस पद में आनंदघनजी का नाम नहीं है। भाषा और शैली भी भिन्न है अतः शंकास्पद है। इस पद को श्री कापड़ियाजी भी शंकास्पद मानते हैं।*

पाठान्तर—नउवा है वजमारो = न उवा है व जमरो (क), नउ वाहै व जमारो (वु.) ।

शब्दार्थ—नाहेरी = पति, प्रथम गुणस्थान वाला चेतन । अतिवारो = अत्यन्त छोटा । कित = कहां । नउवा = नाई । वजमारो = वज्र गिरे सिर पर । सगाई = संबंध । उपजारो = उत्पन्न हुआ, प्रकट हुआ । बिगारो = बिगाड़ दिये, नष्ट कर दिये ।

से च्युत करने वाले विचार तथा शुभ अध्यवसायों से दूर हटाने वाली वृत्तियों पर वज्र गिरो जिन्होंने मेरा संबंध अशुद्ध चेतन से कराया है ॥१॥

मेरे पिता सम्यक्त्व और माता श्रद्धा ने तो चेतन को भला व्यक्ति (अनंत ज्ञान दर्शन चारित्र का धनी) समझ कर ही संबंध किया था किन्तु अब यह कौनसा पाप उदय में आया है। अशुद्ध चेतन के परिवार वाले लोगों (कषायादि) को क्या कहा जाये—क्या उपालंभ दिया जावे; इन्होंने तो मेरा सारा ही कार्य बिगाड दिया है। अर्थात् मुझे चेतन से मिलने ही नहीं दिया जाता है। मै चेतन को अपनी ओर खेंचती हूं—शुद्धता की ओर (ज्ञान दर्शन चारित्र तप की ओर) लाना चाहती हूं किन्तु ये दुष्ट कुटुम्बी (कषायादि) चेतन को छोडते ही नहीं है। इस दुख से व्यथित हो रही हूं। चेतन को शुद्ध बुद्ध बनाने वाली क्षमता रूप जवानी को लेकर मै कहाँ जाऊँ ? ॥२॥

ऋषभ देव स्तुति ९३ राग–आसावरी

मनु प्यारा मनु प्यारा रिखभदेव प्रभु प्यारा ॥
प्रथम तीर्थंकर प्रथम नरेसर, प्रथम यतिव्रत धारा ॥रिखभ०॥१॥
नाभिराया मरुदेवी को नंदन, जुगला धर्म निवारा ॥रिखभ०॥२॥
केवल लही मुगते पोहोंता, आवागमन निवारा ॥रिखभ०॥३॥
'आनंदघन' प्रभु इतनी विनती, आ भव पार उतारा ॥रिखभ०॥४॥

(९३) यह पद मुद्रित प्रतियों में १०१वां पद है। भाषा शैली की भिन्नता होने से यह पद शंकास्पद है। इस पद को श्री कपाडिया जी भी शंकास्पद मानते हैं।

शब्दार्थ—मनु = मन को। नरेसर = राजा, नरेश्वर। तीर्थंकर = तीर्थ—साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका तीर्थो की स्थापना करने वाले। यतिव्रत =

साधुव्रत । नदन = पुत्र । जुगला धर्म = युगलिया धर्म, एक साथ जोडा उत्पन्न होने वाला नियम । निवारा = निवारण करने वाले, दूर करने वाले । केवल = केवलज्ञान । लही = प्राप्त कर । पोहोता = पहुचे । आवागमन = आना जाना, जन्ममरण । भव = संसार ।

अर्थ—मेरे मन को भगवान ऋपभदेव बहुत ही प्यारे लगते है।

वे भगवान ऋषभदेव सबसे प्रथम होने वाले प्रथम तीर्थकर (तीर्थों की स्थापना करने वाले) है। सबसे प्रथम होने वाले राजा है। उन्होंने ही सर्वप्रथम साधु व्रतो को धारण किया है, स्वीकार किया है ॥१॥

वे ऋपभदेव भगवान महाराजा नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र है। उन्होंने ही एक साथ जोडा (पुत्र पुत्री) उत्पन्न होने के नियम का निवारण किया है ॥२॥

भगवान ऋषभदेव ने साधु व्रतों का पालन कर केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त की और ससार मे आने-जाने का क्रम दूर किया है ॥३॥

आनंदघनजी प्रार्थना करते है हे ऋषभदेव भगवान ! मेरी इतनी ही विनय है कि मुझे इस ससार के पार उतार दो । मुझे भी जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा दिला दो ॥४॥

निजमन उद्बोधन ९४ राग—केरबो

प्रभु भजले मेरा दिल राजी रे ॥प्रभु०॥
आठ पहोर की साठज घडियां, दो घडियां जिन साजी रे ॥प्रभु०॥१॥
दान पुण्य कछु धर्म करले, मोह माया कूं त्याजी रे ॥प्रभु०॥२॥
"आनंदघन' कहे समज समज ले, आखर खोवेगा बाजो रे॥प्रभु०॥३॥

(९४) यह पद मुद्रित प्रतियो मे १०३वां पद है। यह पद भी भाषा-शैली भिन्न होने से शकास्पद है। श्री कापडियाजी भी इसे शंकास्पद मानते है।

पाठान्तर—साठज = चोसठ (का.)।

अर्थ—हे चेतन ! हे मेरे मन ! तू प्रभु जिनेश्वरदेव का भजन कर, स्मर्ण कर, इससे—स्मर्ण करने से प्रसन्नता प्राप्त होगी।

दिन-रात के आठ प्रहर होते है और आठ प्रहर में आठ घडियां (एक घडी २४ मिनिट की) होती है। इन साठ घडियों मे से कम से कम दो घडी (एक मुहुर्त) तो तू श्री जिनेश्वरदेव की भक्ति-भावना मे लगा ॥१॥

अरे चेतन मेरे ! मोह माया को छोड कर—संसार के भ्रमजाल को छोडकर—कुछ दान-पुण्य कार्य और आत्म शुद्धि के लिये धर्म कार्य करले ॥२॥

आनंदघनजी कहते है—हे चेतन ! अच्छी तरह सोच विचार करले, यदि तूने दान पुण्य और धर्म नही किया तो अन्त में मानव भव की बाजी खो बैठेगा—मनुष्य जन्म व्यर्थ चला जायेगा ॥३॥

श्री आनंदघनजी के पदों में अन्य कत्रियों के वे पद जो 'आनंदघन' नाम की छाप के है और हमारी प्रतियों में भी है। यहाँ मूल मात्र दिये जाते है—

दिव्य प्रकाश में भवान्तर दर्शन ९५ राग—मारू

ब्रजनाथ से सुनाथ बिन हाथोंहाथ बिकायो।
बीचको कोउ जन कृपाल, सरन नजरि नायो ॥टेक॥
जननी कहुं जनक कहुं, सुत सुता कहायो।

भाई कहुं भगिनी कहुं, मित्र शत्रु भायो ।।व्र०।।१।।

रमणी कहुं रमण कहुं, राउ रज तुलायो ।
सेवक पति इन्द चन्द, कीट भृंग गायो ।।व्र०।।२।।

कामी कहुं नामी कहुं, रोग भोग मायो ।
निसपति धरि देह गेह विविध विधि धरायो ।।व्र०।।३।।

विधि निषेध नाटक धरि, भेष ठाट छायो ।
भाषा षट् वेद चारि, सांग सुध पठायो ।।व्रज०।।४।।

तुम्ह से गजराज पाइ, गर्दभ चढि धायो ।
पायस सुगृह को विसारि, भीख नाज खायो ।।व्रज०।।५।।

लीला भुँह टुक नचाइ, कहौ जु दास आयो ।
रोम रोम पुलकित हुं, परमलाभ पायो ।।व्रज०।।६।।

(९५) **पाठान्तर**—बिन = विण (आ)। हाक्षो हाथ = हाथ हाथ (आ), हाथां हाथ (उ)। जन = जिन (उ)। नजरि = नजर (अ), निज (उ)। कहुं = कहौ (अ), कहूं (उ)। रमण = रमणि (आ)। राउ = राव (अ), रहूं (उ)। मायो = गमायो (उ)। विधि = विध (आ)। नाटक = नाटिक (उ)। ठाट = ठाठ (अ) = वाट (उ)। सुगृह = सुंगको (उ)। लीला = जीला (उ) भुँह = मुंह (आ)। जु = ज (उ)। दास = दीस या यो (उ)। पुलकित हुं = पुलकित कहुं (आ),

शब्दार्थ—जन = भक्त व्यक्ति। जननी = माता। जनक = पिता। सुत = पुत्र। सुता = पुत्री। भगिनी = वहिन। भायो = हुआ। रज = मिट्टी। तुलायो = तुलना किया गया। कीट = कीडा। भृंग = भंवरा। मायो = समाया हुआ, लिप्त। निसपति = सम्बन्ध, विवाह। गेह = घर। धरायो = पकडा गया, वद्ध हुआ, धारण किया। ठाट = वनाव-शृंगार, तडक भडक। भाषा षट = छै भाषा। संस्कृत, महाराष्ट्री, सौरशेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश।

सांग = स्वांग। सुध = शुद्ध। पठायो = भेजा। गजराज = हाथी। गर्दभ = गधा। पायस = खीर। विसारि = भूलकर नाज = अन्न। लीला = कौतुक से। भुंह = भोहे। टुक = थोडा।

पद सं० ९५वां—'व्रजराज सें......' 'अ' प्रति मे ११वाँ, 'आ' मे ९वा और 'उ' मे १८वां पद है। 'इ' प्रति मे यह पद नहीं है।

पतित की पुकार ९६ राग--झिंझोरी दादरा

हरि पतित के उधारन तुम्ह, कैसो पावन नामी।
मोसो तुम्ह कब उधार्यो, क्रूर कुटिल कामी ॥ह०॥१॥

और पतित केइ उधारे, करनी बिन करता।
एक काहू नाम लेहु झूंठे विरद धरता ॥ह०॥२॥

करणी करि पार भये, बहुत निगम साखी।
सोभा दई तुम्ह को नाथ, आपनी पत राखी ॥ह०॥३॥

निपट अगति पापकारी, मोसो अपराधी।
जानुं जो सुधारि होऽब, नाव लाज साधी ॥ह०॥४॥

और को उसापक हौं, कैसे के उधारौ।
दुविधा यह रावरी न, पावरी विचारौं ॥ह०॥५॥

गई सो गई नाथ, फेरि नई कीजै।
द्वारि पर्यो ढींगदास, आपनो करि लीजै ॥ह०॥६॥

दास को सुधारि लेहु, बहुत कहा कहीयै।
'आनंदघन' परम रीति, नांव की निबहियै ॥ह०॥७॥

पद सं० ९६वें 'हरि पतितन......' 'अ' प्रति में १०वाँ, 'आ' प्रति मे १०वां, 'इ' प्रति मे ७०वां और 'उ' प्रति में ७८वाँ

पद है। मुद्रित प्रतियो मे इन दोनो पदो का एक ही पद है जिसकी संख्या ६३ है।

(६६) **पाठान्तर**—कैसो""नामी = कहै सो पीवत मामी (आ), कहै सो पीतम मामी (उ)। कव = कवन (इ,उ)। उधार्यो=उधार्या (इ.उ)। कामी= कानी (इ उ)। बिन = विण (आ), विनु (इ)। विरद = विरुद (इ.उ)। दई = हुइ (अ), ई (इ), 'उ' मे यह शब्द नही है। आपनी = अपनी (उ)। पत = पति (अ)। निपट = निकट (उ)। अगति = अग्यानी (अ), अगनि (इ), अननि (उ)। अपराधी = अपराधि (आ), अपाराधि (इ)। सुधारि होऽव = सुधारि हौ (अ), सुधाधिह (इ उ), नाव लाज = नाउ लाल (आ), नाव दला जस (उ)। और = उर (उ)। हौ = हु (आ)। उधारो = उधारूं (आ)। दुविधा"" न = दुविधा यह रावरी नई (आ), दुवि दुविघा यह रावतीन (इ उ)। विचारौ = विचारूं (आ)। नई = नई न (अ)। द्वारि = द्वारे (इ उ)। ढीगदास = ढीठदास (आ,इ), ढीदास (उ)। आपनो = अपनो (अ)। करि लीजै = कलीजै (आ), सुख सपति दीजै (इ,उ.)। वहुत = वहोत (इ)। नाव = नांउ (अ), नाऊ (इ उ)।

शब्दार्थ—कैसी = कैसा। पावन = पवित्र। निगम = वेद। विरद = विरुद, प्रसिद्धि, यश। पत = प्रतिष्ठा। पावरी = कुछ तो। ढीगदास = दुष्ट, कुमार्गी, पापी। नाव = नाम। निवहीयै = पालन कीजिये।

ये दोनो पद ब्रज भाषा मे है। श्री आनंदघनजी की भाषा 'ब्रज' नही है, राजस्थानी है। दोनो पद जैन मान्यता से मेल नही खाते हैं। जैन दर्शन ईश्वर को सुख दुख देने वाला, पाप-पुण्य का फल देने वाला नही मानता है। आत्मा स्वय के सुख-दुख की कर्त्ता है, पाप-पुण्य की भोक्ता है और स्वय के ही पुरुषार्थ से इनसे छुटकारा प्राप्त-कर सिद्ध-बुद्ध वन जाती है, ऐसा मानता है। इन दोनो पदो मे ही 'ईश्वर' से भक्त प्रार्थना कर रहा है कि मुझ पापी का भी उद्धार अपने नाम के विरुद्ध को ध्यान मे

रखकर कर दीजिये। श्री आनंदघनजी के किसी भी पद मे इस तरह का किंचित भी संकेत नही है और न जैन दर्शन की यह मान्यता है कि ईश्वर ही पापियों का उद्धार करता है। अतः ये दोनों पद आनंदघनजी के नही हो सकते है। ये दोनों पद किसी व्रज भाषा के टकसाली भक्त कवि के हैं। बहुत संभव है ये दोनों पद महात्मा सूरदासजी के हों क्योंकि इन की शैली और भाषा उन से मिलती है। सूरसागर बहुत बड़ा ग्रंथ है उसमे से खोज निकालना इस समय संभव नही है। फिर पुराने संस्करण हर जगह उपलब्ध भी नही है। किन्तु इसमें संदेह नही कि ये पद आनंदघनजी के नही है।

गुरुगम मताग्रह व आशाजय ९७ राग--आशावरी

अवधू राम नाम जग गावै, विरला अलख लखावै ॥

मतवाला तो मत में माता, मठवाला मठ राता।
जटा जटाधर पटा पटाधर, छता छताधर ताता ॥अवधू०॥१॥

आगम पढि आगमधर थाके, मायाधारी छाके।
दुनियाधार दुनी सो लागे, दासा सब आसा के ॥अवधू०॥२॥

बहिरातम मूढा जग जेता, माया के फंद रेता।
घट अन्तर परमातम भावै, दुरलभ प्राणी तेता ॥अवधू०॥३॥

खगपद गगन मीन पद जल में, जो खोजे सो बोरा।
चित 'पंकज' खोजै सो चीन्है, रमता अतर भँवरा ॥अवधू०॥४॥

पाठान्तर—मतवाला = आ मतवाला (उ)। पटाधर = दटाधर (उ)। छता = राजा (उ)। माया = माधा (उ)। दुनी = दुनियाँ (उ)। रेता = राता (उ)। घट = घर (उ)। परमातम = वरमातम (उ)।

दुरलभ = दुरल (आ), दुर्लभ (अ,उ.)। खोजै = खोलै (आ), चोले (उ)। चीन्है = चीने (उ)। अंतर = आनंद (इ)। भँवरा = भौंरा (इ), अंतर रनता भमरा रे (उ)।

शब्दार्थ—विरला = कोई। अलख = अलक्ष (ब्रह्म) में ध्यान लगाने वाला। राता = अनुरक्त। पटाधर = सिंहासन वाले। छताधर = छत्र धारन करने वाले। ताता = तप्त। दुनी = संसार। रैता = रहता है। तेता = ऐसे। गगन = आकाश। वोरा = पागल।

यह पद 'अ' प्रसि मे ८१वां, 'आ' प्रति में २८वां, 'इ' प्रति मे २०वां, और 'उ' प्रति मे १३वाँ तथा मुद्रित प्रतियों २७वां पद है। मुद्रित प्रतियो मे और 'इ' प्रति में आनंदघनजी का पूरा नाम नही है। केवल 'आनद' नाम है। अ, आ, और प्रतियों मे आनंदघनजी का नाम नही है और न आनंद शब्द ही है, इसके स्थान पर 'अंतर' शब्द है जो समीचीन लगता है। अतः यह पद आनदघनजी का नही है। यह पद, 'पंकज' नामधारी कवि का है। जैसा कि पद की अंतिम पक्ति मे "चित 'पकज' खोजै" मे स्पष्ट दिया है। सग्रहकर्त्ता ने 'आनद' नाम देखकर ही इस पद को आनंदघनजी का समझने की भूल की है। आनदघनजी के किसी पद मे भी 'आनंद' शब्द अपने नाम के लिये उपयोग नही किया है।

श्री कृष्ण के रूप में इष्ट दर्शन — **९८** — **राग--सोरठ मुलतानी, नट रागिणी, सहेली**

साइडां दिल लगा बंसीवारे सुं, प्राण पियारे सुं ॥
मोर मुकट मकराकृत कुंडल, पीतांबर पटवारे सुं ॥सा०॥१॥
चंद्र चकोर भये प्रान पपइया, नागरि नंद दुलारे सुं।
इन सखा के गुण गंधप गावै, 'आनंदघन' उजियारे सुं ॥सा०॥२॥

(९८) **पाठान्तर**—साइडा = सारा (क. बु.)। पपइया = पपैया (क), पपईया (बु.)। दुलारे = दूलारे (बु.)। सखा = सखी (क. बु)।

शब्दार्थ—मोरमुकट = मयूर के पंखों का ताज। मकराकृत = मगर के आकार का। कुंडल = कान मे पहिनने का एक जेवर। पीताम्बर = पीले वस्त्र। पटवारे = वस्त्र वाले। नागरि = चतुर। ग्रंधप = गंधर्व।

यह पद हमारी केवल 'अ' प्रति में ही है जिसकी संख्या ६ है और मुद्रित प्रतियों मे ५३ वी संख्या पर है। जैन महात्मा के लिये श्री कृष्ण का उपासक होना असंभव है। इस पद की भाषा ब्रज है और शैली आनदघनजी के पदों की शैली से मेल नही खाती है। अतः यह पद जैन महात्मा आनंदघनजी का नही है। 'आनदघन' नामक एक भक्त कवि और हुये हैं जिनकी पदावली तथा कुछ और ग्रंथो को प्रकाश मे श्री विश्वनाथ प्रसादजी मिश्र 'घनानंद और आनंदघन' नामक ग्रंथ मे ला चुके है। इस पुस्तक के पृ० २६१ पर पद सं० २८६ ऊपर के पद से कुछ कुछ मिलती है। अतः यह पद उन भक्त कवि आनदघनजी का मान लेने मे कोई आपत्ति दृष्टिगत नही होती। पूरा पद इस प्रकार है—
राग—ईमनकाफी

मन लाग्यौ री वंसीवारे सों, ब्रजमोहन छवि गतिवारे सों।
दृग चकोर भए प्रान पपीहा, आनदघन उजियारे सो॥

संग्रहकर्त्ता ने तो आनंदघन का नाम देख कर ही जैन महात्मा आनंदघन का पद समझकर आनदघन जी के पदो मे संमिलित कर दिया किन्तु वास्तव में यह पद कोई पंक्ति किसी की, कोई पंक्ति किसी की लेकर जन मुख पर चढ़ गया प्रतीत होता है। इस पद मे सारा दिल लागा वंसीवारेसु" तो "मन लाग्योरी वंसीवारे सों" का प्रतिविम्ब है। "मोर मुकट आदि पद किसी अन्य कवि के पद से लिये हुये प्रतीत होते है। अतिम पंक्ति "आनंदघन उजियारे सु" भक्ति कवि आनंदघन से मिलती ही है अतः यह पद जैन महात्मा आनंदघनजी का नही होसकता।

प्रिया-प्रालाप　　　　९९　　　　राग-कान्हरो

भमरा किन गुन भयो रे उदासी ।
पंख तेरी कारी मुख तेरा पीरा, सब फूलन को वासी ।।१।।
सब कलियन को रस तुम लीनो, सों क्यूं जाय निरासी ।
'आनंदघन' प्रभु तुम्हारे मिलनकुं जाय करवत ल्यूं काशी ।।२।।

(९९) पाठान्तर—तुम्हारे = तुमरे (इ उ क बु.) भमरा = यह शब्द अन्य प्रतियो मे 'उदासी' शब्द के पश्चात है ।

शब्दार्थ —भयो = हुआ । वासी = रमने वाला । निरासी = निराश, अनासक्त ।

यह पद हमारी 'अ' प्रति मे २८ वां, 'ट' प्रति मे ७७ वा, 'उ' प्रति में ८१ वा तथा मुद्रित प्रतियों मे १०६ वां पद है । इस पद की भाषा की ओर दृष्टि दे तो यह भाषा आनन्दघनजी की चौबीसी और उनके अनेक पदों से नही मिलती है । यह भाषा तो निर्गुण पंथी कबीर आदि की भाषा जैसी है । शैली भी वैसी ही है । साथ ही एक बात इस पद में और है । इस पद की अंतिम पंक्ति मे 'काशी करवत' लेने का उल्लेख जैन दर्शन के अनुकूल नही है । जैन दर्शन इस प्रकार की आत्महत्या को प्रश्रय नही देता है । इस प्रकार की क्रियाये जैन सिद्धान्त के प्रतिकूल है । आनन्दघनजी जैसे विद्वान वैराग्य भावना से ओतप्रोत संत की लेखनी से इस प्रकार आत्महत्या को मुक्ति-साधन प्रचारित किया जाना असंभव है । अतः यह पद आनंदघनजी का नही है ।

अब इससे आगे वे पद दिये जा रहे है जो हमारी किसी प्रति मे नहीं है और मुद्रित प्रतियो मे है किन्तु वे पद आनंदघनजी के नही हैं; अन्य कवियों के है ।

१०० राग—सारंग या आशावरी

अब हम अमर भये न मरेंगे।
या कारण मिथ्यात दियो तज क्यु ं कर देह धरेंगे ॥अब०॥१॥
राग दोस जग बंध करत हैं, इन को नास करेंगे।
मर्यो अनंत काल ते प्राणी, सो हम काज हरेंगे ॥अब०॥२॥
देह निवासी हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नासी जासी हम थिरवासी, चोखे है निखरेंगे ॥अब०॥३॥
मर्यो अनंत बार बिन समझे अब सुख दुख विसरेंगे।
'आनंदघन' निपट निकट अक्षर दो, नहि समरे सो मरेंगे ॥अब०॥४॥

पाठान्तर—सारंग या आशावरी = आसावरी (द्या)। क्यु ं = क्यों (द्या)। कर = करि (द्या)। मर्यों""हरेंगे = उपजै मरै काल ते प्रानी, ताते काल हरेंगे (द्या), यह पंक्ति द्यानंतरायजी के पद मे दूसरे पद की पहिली पंक्ति है और दूसरी पंक्ति, इस पद की पहिली पंक्ति है। हूँ = मैं (द्या)। अपनी गति = भेद ज्ञान (द्या)। मर्यो = मरे (द्या)। सुख दुख = सब सुख (द्या)। आनंदघन = द्यानत (द्या)। नहि""मरेंगे = बिन सुमरे सुमरेंगे गे (द्या)।

यह पद द्यातनरायजी का है। द्यातन विलास में पद संख्या ८८ पर है। संग्रहकर्त्ता के दोष से आनंदघनजी के पदों में सम्मिलित कर लिया गया है। यह पद श्री भीमसिंह माणक, श्री कापडियाजी, तथा श्री बुद्धिसागरजी की पुस्तकों में संख्या ४२ पर है। हमारे पास वाली किसी प्रति में नही है।

१०१ राग–आशावरी

अवधू ऐसो ज्ञान विचारी, वामें कोण पुरुष कोण नारी ।।अवधू०।।

बम्मन के घर न्हाती धोती, जोगी के घर चेली ।
कलमा पढ पढ भई रे तूरकडी, तो आप ही आप अकेली ।।अव०।।१।।

ससरो हमारो बालोभोलो, सासू बाल कुमारी ।
पियुजी हमारो पोढे पारणीये, तो मै हुँ झुलावन हारी ।।अव०।।२।।

नहीं हुं परणी नही हुं कुंवारी, पुत्र जणावन हारी ।
काली दाढी को मै कोई नहीं छोड्यो, तो हजु हुं बाल कुमारी
।।अव०।।३।।

अढी द्वीप में खाट खटूली, गगन ओशीकुं तलाई ।
धरती को छेडो आभकी पिछाडी, तोय न सोड भराई ।।अव०।।४।।

गगन मडल में गाय बीआणी, वसुधा दूध जमाई ।
सउरे सुनो भाई बलोणूं बलोवे, तो तत्व अमृत कोई पाई
।।अवधू०।।५।।

नहीं जाउं ससरीए ने नहीं जाउं पीयरीए, पीयुजी की सेज बिछाई ।
'आनदघन' कहे सुनो भाई साधु, तो ज्योति में ज्योति मिलाई
।।अवधू०।।६।।

(१०१) शब्दार्थ—विचारी = विचारो । बम्मन = ब्राह्मण । न्हाती धोती = स्नान आदि करती । बालोभोलो = भोला मनुष्य, भद्रीक, सीधासाधा । पियुजी = प्रिय, पति । पोढे = सोने है । पारणीये = पालन मे, झूले मे । परणी = विवाहिता । पुत्र = लडका, अहंकार । काली दाढी = युवक, कामासक्त । हजु हु = अभी तक । अढीद्वीप = मनुष्य लोक । खाट = पलंग । खटूली = शय्या । ओशीकुं = तकिया । तलाई = बिछावण । छेडो = धोती । आभ = अकाश । पिछोडी = पछेवडी, ओढने का खादी का वस्त्र ।

मोड = मोटी रजाई । तोयन = तोभी । वियाणी = प्रसूता हुई, वच्चा वच्ची दिया । वलूणो = विलोवना, जमा हुआ दही । वलोवे = मथना, विलोना । सासरिये = ससुराल, पति का घर । पीयरीये = पिता का घर ।

यह पद मुद्रित प्रतियों में किसी में ९८वां और किसी मे ९९वां पद है । इस पद की भाषा संत कबीर की भाषा से मिलती है साथ ही शैली भी । इसके अतिरिक्त "आनन्दघन कहे 'सुनो भाई साधो" इस प्रकार से-आनन्दघनजी ने-प्राप्त पदों मे कही भी-नही लिखा है । यह शब्दावली तो केवल कबीर की है । कबीर ने स्थान स्थान पर अपने पदों मे 'कहत कबीर सुनो भाई साधो' लिखा है । अतः यह पद सन्त कबीरदास का है । श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी के कबीर नामक ग्रंथ में पृ० ३०१ पर—इस पद की प्रथम पंक्ति-'अवधू ऐसो ज्ञान विचारी'-पद संख्या ११९ की पंक्ति है—"अवधू ऐसा ज्ञान विचारं" । इसके आगे की पंक्तिया 'कबीर' के पद संख्या ११८ की है । इस पद की पंक्तिया है—

'बूझहु पंडित, कबहु विचारी, पुरुष अहै की नारी ।
बाम्हन के घर बाम्हनि होती, योगी के घर चेली ॥
कलमा पढि पढि भई तुरकिनी, कलि में रही अकेली ।
वर नहि वरै व्याह नहि करई, पुत्र जन्म होनि हारी ॥
कारे मूडे एक नहि छांडै, अब ही आदि कुंवारी ।
रहै न मैके जाइ न ससुरे सांइ के संग सोवे ॥'

इसी प्रकार और पक्तियाँ किसी दूसरे पद की हैं । लोक गायकों ने "किसी की ईंट किसी का रोडा, भानमती ने कुनवा जोडा" के अनुसार पद को बना कर आनन्दघनकी का नाम रखकर उनका पद प्रसिद्ध कर दिया हैं । वास्तव में यह पद आनन्दघनजी का नही हैं । यह पद कबीरदासजी का हैं । कबीर ग्रंथावली पृ० १६६ पद ३२१ बीजक शब्द ४४ ।

१०२ राग–आशावरी

अवधू वैराग बेटा जाया, याने खोज कुंटंब सब खाया ।।अवधू०।।

जेणे माया ममता खाई, सुख दुख दोनों भाई ।
काम क्रोध दोनो कुं खाइ, खाई तृष्णा बाई ।।अवधू०।।१।।

दुरमति दादी मत्सर दादा, मुख देखत ही मुआ ।
मंगल रूप बधाई वांची, ए जब बेटा हुआ ।।अवधू०।।२।।

पाप पुण्य पडोसी खाये, मान लोभ दोउ मामा ।
मोह नगर का राजा खाया, पीछे ही प्रेम ते गामा ।।अवधू०।।३।।

भाव नाम धर्यो बेटा को, महिमा वरण्यो न जाई ।
'आनन्दघन' प्रभु भाव प्रकट करो, घट घट रहो समाई ।।अवधू०।।४।।

(१०२) शब्दार्थ—जाया = उत्पन्न हुआ, जन्म लिया। याने = इसने। जेणे = जिसने। दुरमति = कुबुद्धि। मत्सर = ईर्षा, गर्व,। दादा दादी = पिता के पिता और मा। मुआ = मर गये, मृत्य को प्राप्त हो गये। वांची = गवाई गई, मागलिक गाने किये। पीछे ही = तत्पश्चात। गामा = चला गया। समाई = व्याप्त।

यह पद मुद्रित प्रतियो मे १०५वां पद है। यह पद श्री आनन्दघनजी का नही है। महाकवि वनारसीदासजी आगरे वाले के 'वनारसी विलास' मे यह पद पृ० २५० पर इस प्रकार है :—

मूलन बेटा जायो रे साधो, मूलन, जाने खोज कुटंव सब खायो रे
।।साधो।।मूल०।।

जन्मत माता ममता खाई, मोह लोभ दोइ भाई।
काम क्रोध दोइ काका खाये, खाई तृष्णा दाई ।। साधो०।।१।।

पापी पाप परोसी खायो, अशुभ करम दोइ मामा ।
मान नगर को राजा खायो, फैर परो सब गामा ॥साधो०॥२॥

दुरमति दादी""दादो, मुख देखत ही मूआ ।
मगलाचार वधाये वाजे, जब यो बालक हूओ ॥साधो०॥३॥

नाम धर्यो बालक को सूधो, रूप वरन कछु नाहीं ।
नाम धरते पांडे खाये, कहत 'बनारसी' भाई ॥साधो०॥४॥

पाठकगण स्वयं निर्णय करे कि यह पद किसका है ।

१०३ राग–आशावरी

अवधू ! सो जोगी गुरु मेरा, इन पद का करे रे निवेडा ॥अव०॥

तरुवर एक मूल विन छाया, विन फूले फल लागा ।
शाखा पत्र नहीं कछु उनकुं, अमृत गगने लागा ॥अव०॥१॥

तरुवर एक पंछी दोउ बैठे, एक गुरु एक चेला ।
चेले ने जुग चुण चुण खाया, गुरू निरंतर खेला ॥अव०॥२॥

गगन मंडल में अधविच कूवा, उहाँ हे अमीका वासा ।
सगुरा होवे सो भर भर पीवे, नगुरा जावे प्यासा ॥अव०॥३॥

गगन मडल में गउआ बिहानी, धरती दूध जमाया ।
माखन थासो विरला पाया, छासें जग भरमाया ॥अव०॥४॥

थड विनु पत्र, पत्र विनुं तुंबा, विन जीभ्या गुण गाया ।
गावन वाले का रूप न रेखा, सुगुरू मोही वताया ॥अव०॥५॥

आंतम अनुमव बिन नही जाने, अंतर ज्योति जगावे ।
घट अन्तर परखे सोही मूरति, 'आनन्दघन' पद पावै ॥अव०॥६॥

(१०३) शब्दार्थ—निवेडा = फैसला, विचार। तरुवर = वृक्ष, पेड। शाखापत्र = टहनिये और पत्ते। गुरु = ब्रह्म। चेला = जीव। जुग = चारा, संसार। गगन = आकाश, ब्रह्मांड। अमी = अमृत। सगुरा = सद्गुरुवाले। नगुरा = विना गुरु वाले, गुण रहित। गउआ = गाय, सात्विक वृत्तियां। माखन = मक्खन, सारतत्व। छासे = छाछ से, निस्सार तत्व। भरमाया = मोहित हो गया। थड = डंठल, मूल, जड। तुम्वा = फल विशेष।

यह पद मुद्रित प्रतियों मे ९८वां पद है। पद की भाषा, शैली और भाव अभिव्यक्ति से तो शका उत्पन्न होती है कि यह पद श्रीमदानदघनजी का नही हो सकता। 'घनानद और आनंदघन' के सम्पादक श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस पद की टिप्पणी में इस पद को संत कवीर का लिखा है। उन्होने 'कवीर ग्राथावली पृ० १४३ पर १६५वां पद और वीजक, शब्द २४, पर इस पद का होना लिखा है। हमारे पास उक्त ग्रंथ तो है नही, किन्तु कवीर शब्दावली है। उसके पृ० ८४–८५ से हम यह पद नीचे दे रहे है—

अवधू सो जोगी गुरु मेरा या पद का करै निवेरा ॥टेर॥

तरवर एक मूल विन ठाढा, विन फूले फल लागे।
साखा पत्र नहीं कछु वाके, अष्ट कमल दल गाजै ॥१॥

चढ तरवर दो पंछी वैठे, एक गुरु एक चेला।
चेला रहा सो चुन चुन खाया, गुरु निरतर खेला ॥२॥

विन करताल पखावज बाजै, विन रसना गुन गावै।
गावन हार के रूप न रेखा, सतगुरु मिलै वतावै ॥३॥

गगन मंडल मे उर्ध मुख कुइयां, जहाँ अभी को वासा।
सगुरा होय सो भर भर पीवे, निगुरा जाय पियासा ॥४॥

सुन्न सिखर पर गइया वियानी, धीर छीर जमाया।
माखन रहा सो सतन खाया, छाछ जगत भर माया ॥५॥

पंछी खोज मीन को मारग, कहै कवीर दोउ भारी ।
अपरम्पार पार पुरुषोत्तम, मूरत की वलिहारी ।।६।।

इस पद मे और ऊपर के 'आनंदघन पदावली' के पद मे वहुत साम्यता है। केवल इस पद का छठा पद और आनंदघन पदावली का छठा पद पृथक-पृथक है। एक मे कवीर का नाम है और और एक मे आनन्दघन का नाम है। भाव भी अलग अलग है। वास्तव मे यह पद संत कवीर का ही है। इसमे भाषा और शैली कवीर की ही है। अंतिम छठा पद आनन्दघनजी का ही प्रतीत होता है। यह आनन्दघनजी के किसी अन्य पद का है, वह इस पद मे सम्मिलित कर इस पद को आनंदघनजी का वना दिया गया है।

१०४ राग—वेलावल

ता जोगे चित ल्याऊ रे वहाला ।

समकित दोरो शील लंगोटी, घुलघुल गांठ घुलाऊं ।
तत्व गुफा में दीपक जोऊं, चेतन रतन जगाऊ रे वहाला
।। ता जोगे० ।।१।।

अष्ट करम कंडे की धूनी, ध्याना अगन जलऊँ ।
उपशम छनने भसम छणाऊँ, मलि मलि अग लगऊं रे वहाला
।। ता जोगे० ।।२।।

आदि गुरु का चेला होकर, मोह के कान फराऊँ ।
धरम सुकल दोय मुद्रा सोहै, करुणा नाद वजाऊँ रे वहाला
।। ता जोगे० ।।३।।

इह विध योग-सिंहासन वैठा, मुगतिपुरी कूं ध्याऊँ ।
आनन्दघन देवेन्द्र से योगी, वहुरि न कलि में आऊँ रे वहाला
।। ता जोगे० ।।४।।

(१०४) शब्दार्थ—व्हाला = हे प्रिय । दोरी = डोरी, रस्सी । जोऊं = जलाऊं । अष्ट करम = आठ कर्म, ज्ञानावरणी आदि । कंडे की = छाणे की, गाय भैंसे के गोवर से वनी हुई वस्तु । उपसम = निवृत्ति भाव । छनने = छानने का वस्त्र । धरम सुकल = धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान ।

यह पद मुद्रित प्रतियों मे ३७वा पद है । इस पद को श्री कापडियाजी ने शंकास्पद माना है । सही वात यही है कि यह पद आनंदघनजी की भाषा और शैली से नही मिलता है । इस पद मे 'आनदघन' शव्द ही मतिभ्रम करता है । यह शब्द नाम वाची न होकर विशेषण है । इसका सम्बन्ध देवेन्द्र शव्द से है । यह 'देवेन्द्र' ही इस पद के कर्त्ता मालूम पडते है । भविष्य मे 'देवेन्द्र' के और पद मिलने पर ही इसका पूर्ण रूपेण निर्णय हो सकता है ।

१०५ राग–सारंग

चेतन शुद्धातम कुं ध्यावो ।
पर परचे धामधूम सदाई, निज परचे सुख पावो ।।चेतन०।।१।।

निज घर में प्रभुता है तेरी, पर संग नीच कहावो ।
प्रत्यक्ष रीत लखी तुम, ऐसी, गहियें आप सुहावो ।।चेतन०।।२।।

यावत तृष्णा मोह है तुमको, तावत मिथ्या भावो ।
स्व संवेद ग्यान लहीं करवो, छंडो भ्रमक विभावो ।।चेतन०।।३।।

सुमता चेतना पतिकुं इण विध, कहे निज घर आवो ।
आतम उच्छ सुधारस पीये, 'सुख आनंद' पद पावो ।।चेतन०।।४।।

(१०५) शब्दार्थ—ध्यावो = ध्यान करो । परचे = परिचय, विभाव-दशा मे । धामधूम = भारी हलचल, अत्यन्त कोलाहल । परसग = दूसरो के साथ से । यावत = जव तक । तावत = तव तक । स्व मवेद = अपनत्व की

प्रीतीति करना, अपने पन की अनुभूति करना। छंडो = छोडो। भ्रमक = भ्रामक, भ्रम करनेवाले। उच्छ = गन्ना, अत्यन्त मिष्ठ।

यह पद मुद्रित प्रतियो में ८०वा पद है। इस पद में आनंदघनजी का नाम भी नही है। 'आनंद' शब्द देख कर ही इसे आनदघनजी का पद मान लिया गया है किन्तु इस पद मे कर्त्ता का पूरा नाम है। कर्त्ता का नाम 'सुखानंद' है जो सधि विच्छेद होकर दिया मया है—"सुख आनंद"। आनदघनजी ने अपने किसी भी पद मे "आनद" या 'सुखानद' शब्द का प्रयोग नही किया है। उन्होने तो केवल "आनंदघन" का प्रयोग किया है। यह पद आनंदघनजी की भापा और शैली से भी नही मिलता है।

१०६ राग–सारंग

चेतन ऐसा ग्यान विचारो।
सोहं सोहं सोह सोहं, सोहं अणु न बीया सारो ॥चेतन०॥१॥

निश्चय स्व लक्षण अवलबी, प्रज्ञा छैनी निहारो।
इह छैनी मध्य पाती दुविधा, करे जड-चेतन फारो ॥चेतन०॥२॥

तस छैनी कर ग्रहि ये जो धन, सो तुम सोह धारो।
सोहं जानि दटो तुम मोह ह्वै है समको वारो ॥चेतन०॥३॥

कुलटा कुटिल कु बुद्धि कुमता, छंडो ह्वै निज चारो।
"सुख आनंद" पदे तुम बेसी, स्व परकुं निस्तारो ॥चेतन०॥४॥

(१०६) शब्दार्थ—सोह = सोऽह, वह मैं हूँ। अणु = छोटा, अंशमात्र। वीया = दूसरा। सारो = सारभूत, श्रेष्ठतम। अवलंवी = सहारा लेकर। प्रज्ञा = बुद्धि। छैनी = छेनी, पत्थर तोडने का लोहे का औजार। निहारो = देखो। पाती = पडते ही। दुविधा = दो टुकडे।

फारो = विभाग, फाड़ टुकडा, पृथक्करण । दटो = दवादो । समको = समता का । वारो = प्रहार । चारो = उपाय, इलाज, प्रवृत्ति, आचरण करो । वेसी = वैठ कर । निस्तारो = छुटकारा, उद्धार, मुक्ति ।

यह पद मुद्रित प्रतियो मे ८१ वां है । यह पद भी 'सुखानन्द' का ही है ।

१०७ राग कल्याण

या पुद्गल का क्या विसवासा, है सुपने का वासारे ।।या०।।
चमत्कार बिजली दे जैसा, पानी बिच्च पतासा ।
या देही का गर्व न करना, जंगल होयगा बासा ।।या०।।१।।
जूठे तन धन जूठे जोबन, जूठे है घर बासा ।
'आनन्दघन' कहे सब ही जूठे, सांचा शिवपुर बासा ।।या०।।२।।

मुद्रित प्रतियों मे यह पद ९७ वां है । यह पद भी आनंन्दघन जी की भाषा और शैली से नही मिलता है । श्रीकापडियाजी ने इस पद को शंकास्पद माना है । श्रीविश्वनाथ प्रसादजी मिश्र ने भूधरदास (दिगम्बर जैन कवि) का माना है । उनके "जैन शतक" मे दस पंक्तियों मे यह पद हेरफेर के साथ मिलता है ।

(१०७) **शब्दार्थ**—विसवासा = विश्वास, भरोसा । वासा = वासस्थान । दे = का । विच्च = वीच, मध्य । पतासा = वताशा, चीनी का वना उठाहुआ पदार्थ, वुलवुला । देही = शरीर ।

१०८ राग—वसंत

तुम ज्ञान विभो फूली बसंत, मन मधुकर ही सुख सों रसंत ।।तुम०।।१।।
दिन बढे भये वैराग्य भाव, मिथ्या मति रजनी घटाव ।।तुम०।।२।।

बहु फूली फली सुरुचि बेल, ज्ञाता जन समता संग केल ।।तुम०।।३।।
जानत बानी पिक मधुर रूप, सुरनर पशु आनंदघन सरूप ।।तुम०।।४।।

यह पद मुद्रित प्रतियो मे १०७ वां है, इसकी भाषा और शैली भी आनंदघन जी से भिन्न है। इस पद की भाषा 'व्रज' है जबकि आनंदघन जी की भाषा 'राजस्थानी' है। यह पद 'द्यानत विलास' मे ज्यों का त्यो ५८ वां पद है, फर्क केवल इतना ही है कि इसकी चतुर्थ पंक्ति का आदि शब्द 'जानत' उसमे (द्यानत विलास) 'द्यानत' है वह ठीक है। 'आनंदघन' शब्द देखकर ही संग्रहकर्ता ने आनंदघन जी का यह पद मानकर 'द्यानत' के स्थान पर 'जानत' कर दिया है। वास्तव में यह पद आगरा निवासी द्यानतराय जी का ही है।

१०६ राग—खमाच

तज मन कुमता कुटिल कों संग।
जाकें संगतें कुबुद्धि उपजत है, पडत भजन में भंग ।।तज०।।१।।
कौवे कूं क्या कपूर चुगावत, श्वान ही न्हावत गंग।
खर कुं कीनो अरगजा लेपन, मरकट भूषण अंग ।।तज०।।२।।
कहा भयों पय पान पिलावत, विषहु न तजत भुजंग।
'आनंदघन' प्रभु काली कांवलिया, चढत न दूजो रंग ।।तज०।।३।।

यह पद श्री कापडिया जी की पुस्तक में १०८ वा पद है और श्री बुद्धिसागर जी की पुस्तक मे भूमिका मे दिया हैं। इन दोनों में पाठ भेद भी है जो इस प्रकार है—

कुमता कुटिल = हरविमुखन। क्या = काहा। श्वान ही न्हावत = श्वान नाहावत। कीनो = कहा। विषहु न तजत भुजंग = विष न तजे भुजंग। आनंदघन प्रभु काली कांवलिया = आनंदघन वे हे काली कंवल।

श्री कापड़िया जी की पुस्तक मे "ज्युं पाषाण वाण नहिं भेदत, पीतो भयो निषंग" पक्ति और है।

इस पद को भी श्री कापडिया जी ने महाकवि सूरदास का मानकर ही व्याख्या की हैं। श्री विश्वनाथ प्रसाद जी भी इसे 'सूरदास' का ही मानते हैं। वास्तव मे यह पद महाकवि सूरदास का ही है। सूरसागर तथा अन्य सूरदास के पदो के सग्रह मे यह पद इस प्रकार आरंभ होता है—

'छाडि मन हरिविमुखन को संग'

और पद की समाप्ति—"सूरदास की काली कंवलिया चढत न दूजो रंग" से होती है। वीच के पद भी ऐसे के ऐसे ही हैं।

यहा वे पद दिये जा रहे हैं जो हमारे पास हस्तलिखित प्रतियो मे तो हैं किन्तु अव तक की प्रकाशित प्रतियो में नही हैं। पद संख्या ११०, १११, ११२ और ११३ हमारी 'आ' प्रति के क्रमशः १६, १७, १८ और ८० संख्या पर है। पद संख्या ११४ के दोनो रूप और पद सख्या ११५ किन्ही हस्त लिखित प्रतियों से स्व० श्री उमराव चद जी जरगड ने एक पत्र मे प्रतिलिपि कर रखी थी और पद सख्या ११६ हमारी प्रतियो मे 'अ', 'इ', 'उ' मे क्रमशः २९, ७३, ८० पर है। पद संख्या ११७ भी इसी प्रकार एक अलग पत्र मे लिखा मिला है। ये सव ही पद महाभाग योगीराज आनंदघन जी के प्रतीत नही होते है।

कवि या लेखक आरंभ से जो भाषा और शैली (कहने या लिखने का ढग) अपनाता है वह अन्त तक वना रहता है। श्री आनदघन जी ने जिस भाषा का प्रयोग अपनी चौवीसी और पदो में किया है, वह राजस्थान की है। जो शैली और भावो की अभिव्यक्ति चौवीसी के पदो मे प्राप्त है, वह ही भाषा और शैली इस संग्रह के अनेक पदो मे है, जिन्हे हम इन्ही का मानते है। ये सम्पूर्ण नये आठ पद और श्रीमद् वुद्धिसागर सूरीश्वर जी के तीन नवीन पद श्री आनंदघन जी की शैली और भाषा से मेल नही खाते हैं, अतः ये इनके नही है। इनमे आनदघन जी का नाम होने से ही आनंदघन जी के मान लेना गलती होगी। इन पदो की भाषा एक नही है। कही राजस्थानी मिश्रित है, कही कवीर आदि संत कवियों ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, वैसी है।

श्री आनंदघन जी ने जिस ढंग से चौबीसी और अनेक पदों में अपने भाव व्यक्त का चमत्कार दिखाया है, वह इन पदों मे सर्वथा नही है। इन पदो में साधारण भाषाभिव्यक्ति है, अतः ये पद उनके नही हैं। अब प्रश्न हो सकता है कि आखिर ये पद किसके है ? इसके लिये स्पष्ट कुछ कहा नहीं जा सकता है। यह कार्य आगे की शोध से ही निश्चित हो सकेगा।

११०

प्रिय माहरो जोसी, हुं पीयरी जोसण कोई पडोसण पूछौ जोस।
जे पूछौ ते सगलो कहिसी, सौसो रहै न रहै कोई सोस ॥प्रीय०॥१॥

तन धन सहज सुभाव विचारै, ग्रह युति दृष्टि विचारौ तोस।
शशि दिशि काल कला बल धारै, तत्व विचारि मनि नाणै रोस
॥प्रीय०॥२॥

सौंण निमित सुर विद्या साधै, जीव धातु मूल फल पोस।
सेवा पूजा विधि आराधै, परगासै 'आनंदघन' कोस ॥प्रीय०॥३॥

(११०) **शब्दार्थ**—माहरो = मेरा। जोसी = ज्योतिषी। जोसण = ज्योतिषी की पत्नि। जोस = ग्रहफल। सगलो = सम्पूर्ण। सोसो = संशय, शंका। सोस = शोषण करने वाली वात, चिन्ता। तोस = संतोष। मनि = मनमें। नाणै = न लावै। रोस = क्रोध। सौंण = शकुन। सुरविद्या = स्वर विज्ञान। कोस = कोष, खजाना।

१११

दग्यो जु महा मोह दावानल, उबरूं पार ब्रह्म की ओट।
कृपा कटाक्ष सुधारस धारा, वंचै विसम काल की चोट ॥द०॥१॥

अगज अनेक करी जीय बांधी, दूतर दरप दुरित की पोट ।
चरन सरन आवत तन मनकी, निकसि गई अनादि की खोट ।।द०।।२।।

अब तो गहै भाग वड पायौ, परमारथ सुनाव दृढ़ कोट ।
निरमल मांनि सांच मेरी, कही, 'आनंदघन' धन सादा अतोट
।।द०।।३।।

(१११) शब्दार्थ—दग्यो = प्रज्वलित हुआ । उवरू = मुक्त होना, छूटना, निकलना । ओट = आड, शरण । बंचै = बचना, रक्षा प्राप्त करना । अगज=मूर्खता । दूतर = दुस्तर, कठिन । दरप = दर्प, गर्व । दुरित = पाप । पोट = गठरी । अतोट = अटूट ।

११२

कुण आगल कहु खाटु मीठु, राम सनेही नु मुखडु न दीठु ।
मन विसरामी नु मुखडु न दीठु, अतर जामी नु अतर जामी नु ।।

जे दीठा ते लागइ अनीठा, मन मान्या विण किम कहुँ मीठा ।
धरणी अगास ब्रिचै नहीं ईठा ।।कुण ०।।१।।

जोतां जोतां जगत विशेषु, उण उणिहारइ कोइ न देखु ।
अणसमझ्यु किम मांडु लेखु ।।कुण०।।२।।

कोहना कोहना घर में जावु, कोहना कोहना नितगुण गावु ।
जो 'आनंदघन' दरसन पावु ।।कुण०।।३।।

(११२) शब्दार्थ—आगल = आगे । दीठु=देखा । अनीठा = अनिष्ट-कारी, अप्रिय । धरणी = पृथ्वी । ईठा = इष्ट, प्रिय । जोतां जोतां = देखते देखते । विशेषु = परीक्षा की । उण = उस । उणिहारइ = अनुगार, समान । कोहना कोहना = किस किसके ।

हालु वालु सासरडे जाय, नानो ते घनुडी रमे डींगले रे ।
नरपत परपत निशाले जाय, नानो ते पर्यापत पोढ़ो पालणे ए ॥२॥
बारे वरसे आव्यो रे नाह, छोकरडाने काजे टाचकडा नवी लावीओरे ।
हुं तने पुछुं सुकलीणीनार, पीउ विण छोकरडा कयां थी आवीयारे
॥३॥

गोत्र देवे कर्यो रे पसाय, सायभोरे भौन पधारीया रे ।
एटले उठी ने भाग्यो रे पीय धन्य पनोती तुं कुल वहूरे ॥४॥
एहनो अनुभव लेस्ये रे जेह, तेहु पामे रूडी कुल वहू रे ।
'आनंदघन' जपारे सज्झाय, सुणतां श्रवणे सुखहोये रे ॥५॥

(११५) शब्दार्थ—पसाय = प्रसाद, प्रसन्नता । रूडी = अच्छी । पीउडो = प्रियतम, पति । घेर = घर । रूडुं = शिकायत करना । दीयन = दीन, अज्ञानग्रस्त । हालु वालुं = हालफिर कर । सासरडे = ससुराल । घनुडी = एक प्रकार का खेल । रमे = खेलना । डींगले = बालू मिट्टी का ऊँचा स्थान, टीबा । नानो = बच्चा । पोढो = सोना, शयन करना । पालणे = झूले में । नाह = नाथ, पति । छोकरडाने = बच्चा । काजे = लिए । टाचकडा = खिलौने । नवी = नहीं । सुकलीणी = सुलक्षणी, अच्छे लक्षणों वाली । कयाथी = कहां से । सायभो = पति । भौन = भवन, घर । 'पधारिया' शब्द 'वधारीया' भी पढ़ा जाता है । पधारीया = आये । वधारिया = स्वागत किया । एटले = इतने में, इतने ही समय में । पनोती = पाप पीड़ी, (पांच शुभ ग्रह या पाप अशुभ ग्रह का समय ।

११६

रे परदेशी भमरा मोसुं रह्यो नही जाय ॥
भंवर विलंब्यो केतकी, समके फूल खुलिजाय ॥१
तुम बिन मोहे कल न परत है, तलफ तलफ जीउ जाय ॥२॥
'आनंदघन' प्रभु तुमरे मिलकुं आनन-कलि कुमलाय ॥३॥

(११६) शब्दार्थ—विलंब्यो = लियट गया, लटक गया, चित्तलगाकर फंस गया। समके = समान, बराबर। कल = चैन, आराम। आनन = मुख, चहरा।

११७

मगरा ऊपर कबुआ बोल्यो, पहुँणा आया तीन।
पहुंणा थारी मूंछा बालूं, छाणा क्यों नही ल्यायो।
करकशा नार मिली छैजी, धन्य पियाजी थारा भाग ॥ करकशा०॥
पहुंणा आया देखिने, चूल्हो दियो बुझाय।
दो लात पहुँणा कै मारी, आप बैठी रीसाय ॥करकशा०॥१॥
मोठ बाजरी को पीसणो, ले बैठी भर सूंप।
अब जो पहुंणा मुझनै कहसी, तो जाय पड़ूंगी कूप ॥कर०॥२॥
घर में घट्टी घर में ऊँखल, पर घर पीसण जाय।
पाडोसण सेती बात करतां, चून कूतरा खाय ॥कर०॥३॥
माँचो बाल्यो बरलो बाल्यो, बाल्यो डोलाकी डांडी।
छपरो बाल्यो मूँपरो बाल्यो, तो न चढ़ी इक हाँडी ॥कर०॥४॥
तीन पाव की सात बनाई, सात पाव की एक।
परण्यो डाकी सातों खागयो, हूं सुलच्छनी एक ॥कर०॥५॥
गंगा न्हाई गोमती न्हाई, बिच में आई घाटी।
घर मे आई जोवियो तो, अजहि न मूओ भाटी ॥कर०॥६॥
न्हाइ धोइ बेस बणाई, तिलक कर्‌यो अपार।
सूरज सामी अरज करै छै कद मरसी भरतार ॥कर०॥७॥
'आनंदघन' कहे सुन भाई साधू ! एह पद है सुख दाई।
इस पद की निन्दा करै तो नरक निगोद निसाणी ॥कर०॥८॥

(११७) यह पद भी श्री आनन्दघन जी का नही है। शैली तो मिलती ही नही है साथ ही एक और बात है कि अन्तिम पद ८ वें की तुकांत नही मिलती और न ऊपर के पदों से उसका कुछ सम्बन्ध प्रकट होता है। 'आनंद

घन' कहे सुन भाई साधू" इस प्रकार से आनन्दघनजी ने अपने पदों में कहीं भी नहीं लिखा है। इस प्रकार के लेख तो कबीर की रचनाओं में ही मिलते है। भाव भी अटपटा है। यह पद श्री जरगडजी के संग्रह में एक पत्र पर लिखा हुआ मिला है।

(११७) शब्दार्थ—मगरा = पहाड, पर्वत। कबुआ = कौवा, काक। पहुणा = अथिति। बालु = जलाऊँ। छाणा = गोबर के कंडे। रीसाय = क्रोधित होकर। पीसणो = पीसने के लिए रखी वस्तु। सूंप = अन्न फटकने का छाज, छाजला। घट्टी = चक्की। ऊंखल = लकड़ी का बना हुआ पात्र जिसमे भूसी वाला अन्न डाल कर मूसल से कूट कर भूसी अलग की जाती है। चून = आटा। कूतरा = कुत्ता। माँचो = खाट, पलंग। बाल्यो = जलाया। बरलो = वड़-पीपल की लकड़ी। डोलाकी = दीवार की। डांडी = डडी, लकड़ी। भाटी= भट, योद्धा, मुख्य पुरुष। कद = कब

स्व० श्रीमद् बुद्धिसागर सूरीश्वर जी के द्वारा प्राप्त नये पद (आनंदघन पद संग्रह से)

११८ राग–वेलावल

मेरे ए प्रभु चाहिये, नित्य दरिसन पाउ।
चरण कमल सेवा करूं, चरणे चित लाउ ॥मेरे॥१॥
मन पंकज के मोल में, प्रभू पास वेठाउ।
निपट नजीक होरहुं, मेरे जीव रमाउ ॥मेरे०२॥
अंजरजामी आगले, अंतरिक गुण गाउ।
'आनंदघन' प्रभु पास जो मैं तो और न ध्याउ ॥मेरे०॥३॥

(११८) शब्दार्थ—मोल में = महल मे। निपट = बिलकुल। नजीक= निकट, पास। रमाउ = रमणकराऊं। आगले = सम्मुख, आगे। अंतरिक = हृदय से।

११९

निरंजन यार मोय कैसे मिलेंगे

दूर देखुं में दरियाडुंगर उंची बादर नीचे जमीं युं तले ॥निरं॥१॥

धरती मे घडुता न पिछानुं,अग्नि सहु तो मेरी देही जले निरं०॥२॥

'आनंदघन' कहे जस सुनो बाता, ये ही मिले तो मेरो फेरों टले
॥निरं०॥३॥

(११९) शब्दार्थ—डुंगर = पहाड़ । तले = नीचे । घडुता = प्रवेश कर । पिछानुं = पहिचाना । देही = शरीर । फेरो = संसार में आवागमन, जन्म-मरण का चक्र । टले = दूर हो जावे । जस = यशोविजयजी

१२० राग-आशावरी

अब चलो संग हमारे, काया चलो संग हमारे ।
तोये बहोत यत्नकरी राखी, काया अब चलो० ॥१॥

तोये कारण में जीव संहारे, बोले जूंठ अपारे ।
चोरी करी पर नारी सेवी. जूंठ परिग्रह धारे ॥काया०॥२॥

पट आभूषण सुंधा चुआ, अशनपान नित्य न्यारे ।
फेर दिने खट रस तोये सुन्दर, ते सब मल कर डारे काया०॥३॥

जीव सुणो या रीत अनादि, कहा कहत बारबारे ।
में न चलूंगी तोये संग चेतन, पाप पुण्य दोय लारे ॥काया०॥४॥

जिनवर नाम सार भज आतम, कहा भरम संसारे ।
सुगुरू बचन प्रतीत भये तब, 'आनदघन' उपगारे ॥काया०॥५॥

(१२०) शब्दार्थ—पट = वस्त्र । सुंधा = सुगन्धित पदार्थ । चुआ = चोवा चंदन, इत्र । अशन पान = खाने पीने की वस्तु । दिने = दीने, दिये । मल = विष्ठा । लारे = पीछे ।

१२१

हुं तो प्रणमुं सद्‌गुरु राया रे, माता सरसती वंदु पाया रे ।
हुं तो गाउं आतमराया, जीवन जी वारणे मत जाजोरे ॥
तुमे घर बैठा कमावो, चेतनजी वारणे मत जाजो रे ॥१॥

तारे बाहिर दुर्गति राणी रे, केता शुं कुमति कहेवाणी रे
तुंने भोलवी बाधशे ताणी ॥जीवन जी० ॥२॥

तारा घरमां छे त्रण रतन रे, तेनुं करजे तुं तो जतन रे ।
अे अखूट खजानो छे धन्न ॥जी०॥३॥

तारा घरमां बैठा छे धुतारा, तेने काढो ने प्रीतम प्यारा रे ।
अेहथी रहोने तुमे न्यारा ॥जी०॥४॥

सत्तावन ने काढो घरमां बैठा थी रे, त्रेत्रीश ने कहो जाये इहां थी रे ।
पछी अनुभव जागशे मांहे थी रे ॥जी०॥५॥

सोल कषाय ने दिओ शीख रे, अढार पापस्थानक ने मगात्रो भीख रे
पछे आठ करमनी शी बीक ॥जी०॥६॥

चार ने करो चकचूर रे, पांचमी शुं थाओ हजूर रे ।
पछे पामो आनंद भरपूर ॥जी० ।७॥

विवेक दीवे करो अजुवालो रे मिथ्यात्व अंधकार टालो रे ।
पछे अनुभव साथे म्हालो ॥ज०। ८॥

सुमति साहेली शुं खेलो रे, दुर्गतिनो छेडो मेलो रे ।
पछे पामो मुक्तिगढ हेलो ॥जी०॥९॥

ममता ने केम न मारो रे, जिती बाजी कांई हारो रे ।
केम पामो भवनो पारो ॥जी०॥१०॥

शुद्ध देवगुरु सुपाय रे, मारो जीव आवे कांई ठाय रे ।
पछे 'आनंदघन' मभ थाय ॥जी०॥११॥

(१२१) यह पद श्री साराभाई मणिलाल नवाव द्वारा सम्पादित "श्री आनन्दघन पद्य रत्नावली" नामक पुस्तक से साभार उद्धृत किया गया है। पद की भाषा बिलकुल गुजराती है, जबकि श्री आनन्दघनजी भाषा सभी पदो मे राजस्थानी है। अतः निश्चयपूर्वक कहा नही जा सकता कि प्रस्तुत पद उन्ही का है अथवा किसी अन्य का। इस पद का राजस्थानी रूप प्राप्त होने पर ही निश्चय हो सकता है।

पांच समिति–ढाल १

१ ईर्या समिति

दोहा– पंच महाव्रत आदरो, आतम करो बिचार।
अहो अहो मुझ प्रत्यक्ष थवो, धन्य धन्य अवतार॥

विनती अवधारो रे, इरियाये चालो रे, शक्ति संभालो आत्म स्वभावनी रे ॥१॥

इरिया ते कहिये रे, सुमति सु भेट लहिये रे, पुंठ तव बाली कुमती संग थी रे ॥२॥

द्रव्य थी पण सार रे, किलामणा लगार रे, रखे नवि ऊपजे हवे पर प्राण नै रे ॥३॥

मुनि मारग चालो रे, द्रव्य भाव सु म्हालो रे, आतम नै उजवालो भव-दव-चक्रथी रे ॥४॥

एम सुमति गुण पामी रे, परभाव नै वामी रे, कहै हवै स्वामी 'आनंदघन' ते थयोरे ॥५॥

पांच समिति की पांचो ढाले श्री आनन्दघन जी की ही है। इसमे शंका की कोई गुंजाइश नही है। स्व० श्री उमरावचन्दजी ने ये ढाले कहां से ली इसका कोई उल्लेख नही मिलता। ये ढाले श्री अगरचन्दजी ना हटाने 'श्रीमद्देवचन्द्र सज्झाय माला भाग २ मे प्रकाशित कराई है। कुछ पाठ भेद है वह यहां दिया जाता है।

(ढाल १) पाठांतर— करो = करे । मुझ = हु । प्रत्यक्ष थयो = थयो प्रत्यक्ष । धन्य-धन्य = घन धम । इरिया....भेट लाहियेरे के आगे पाठ है– "निज लक्ष गहियेरे, गमनागमन महिरे ॥२॥

'पुंठ....संगथी रे' से पूर्व—'सुमति जब भाली रे, तव लागी प्यारे रे ॥३॥–पाठ है । सुमति = मुनि । स्वामी = स्वामी रे । उजवालो = उगारो रे । श०-अवधारो = ध्यान पूर्वक ग्रहण करो । पुण्ठ = पीछा । वाली=जलाकर, त्याग कर । किलामणा = तकलीफ़, कष्ट । लगार किंचित भी । म्हालो= आनन्द से चलो । उजवालो = उज्जवल करो । भव–दव = संसार रूपी दावाग्नि । वामी=वाये देकर, दूर कर ।

ढाल २

२. भाषा समिति

बीजी समिति सांभलो, जयवंता जी, भाषा को इण नामरे गुण-वंताजी ॥
भाखे भाषण स्वरूपनु जय०, रूपी पदारथ त्याग रे गुणवंताजी ॥१॥
निज स्वरूप रमणे रह्या जय०, नवी परनो प्रचार रे गुण० ॥२॥
भाषा समिति थी सुख थयो रे जय०, ते जाने मुनिराय रे गुण० ॥३॥
ज्ञानवंत निज ज्ञान थी जय०, अनुभव भाषक थाय रे गुण० ॥४॥
भाषा समिति स्वभाव थी जय०, स्व-पर विवेचन थाय रे गुण० ॥५॥
हवे द्रव्य थी पण महामुनि जय०, सावद्य वचननो त्याग रे गुण० ॥६॥
सावद्य विरम्या जे मुनि, जय०, ते कहिये महाभाग रे गुण० ॥७॥
पर-भाषण दूरे करी जय०, निज स्वरूपने भास रे गुण० ॥८॥
'आनन्दघन' पद ते लहे, जय०, आतम ऋद्धि उल्लास रे गुण० ॥९॥

(ढाल २) पाठां–त्याग रे = वामरे । रह्या = चड्या । थयो = थयु राय = सार । शब्दार्थ—बीजी = दूसरी । साभलो = सुनो । भापक = बोलने वाला । विवेचन विचार करना । हवे = अव । सावद्य = पाप युक्त कार्य । विरम्या = रुकना ।

३–एषणा समिति

ढाल ३, (राग बंगालो–राजा नहीं...)

त्रिजु समिति एषणा नाम, तेणे दीठो आनदघन स्वाम, चेतन सांभलो।
जब दीठो आनंदघन वीर, सहज स्वभावे थयो छै धीर ॥
॥ चेतन सांभलो ॥१॥

वीर थई अरि पूठे धाय, अरि हतों ते नाठो जाय, गयो आमलो ।
वीरजी सन्मुख कोई न थाय, रत्न त्रय सु मलवा जाय ॥चे०॥२॥

अरि बल हवे नथी कांई रे, निज स्वभावे मां म्हाल्यो विशेष ।चे०।
निरखण लाग्यो निज घर माय, तब विसामो लीधो त्याय ॥चे०॥३॥

हवे पर घर मां कदिय न जाऊ, परने सन्मुख कदिय न थाऊँ ।चे०।
एम विचारी थयो घर राय, तब पर परणति रोती जाय ॥चे०॥४॥

मुनिवर करुणारस भंडार, दोष रहित हवे लें छै आहार ।चे०।
द्रव्य थकी चाले छै एम, पर परणति नो लीधो नेम ॥चे०। ५॥

द्रव्य भाव सु जे मुनिराय, समिति स्वभाव मां चाल्या जाय ।चे०।
'आनंदघन' प्रभु कहिया तेह, दुष्ट विभाव ने दीधो छेह ॥चे०॥६॥

(ढाल ३) पाठा०–त्रिजु = त्रीजी। तेणे = तिणे। वीरजी = वीररी।
अरि.....काइर = अरिनुबल हवे नथी काइ रेष। कहिया = कहिए।

शब्दार्थ—त्रिजु = तीसरी। दीठो = देखा। पूठे = पीछे। धाय = दौडना। हतो = था। नाठो = दौडना। विसामो = विश्राम। त्याय = वहा। कदिय = कभी। नेम = नियम। छेह = छिटकाना, दूर करना।

४ आदान–निक्षेप समिति

ढाल ४ (जगत गुरु हीरजी रे...)

चोथी समिति आदरो रे, आदान निखेवण नाम।
आदान ने जे आदर करे रे, निज स्वरूप ने तेम।

स्वरूप गुण धारजो रे, धारजो अक्षय अनंत, भविक दुख वारजो रे ॥१॥

निखेवणा ते निवारवु रे, पर वस्तु वलि जेह ।
तेह थकी चित्त वालवु रे, करवा धर्म सु नेह ॥स्वरूप॥२॥

धर्म नेह जब जागियो रे, तब आनद जनाय ।
प्रगट्यो स्वरूप विषे हवे रे, ध्याता ते ध्येय थाय ॥स्वरूप०॥३॥

अज्ञान व्याधि नसाडवा रे, ज्ञान सुधारस जेह ।
आस्वादन हवे मुनि करे रे, तृप्ति न पामे तेह ॥स्वरूप०॥४॥

स्वरूप मां जे मुनिवरा रे, समिति सु धरे स्नेह ।
सुमति स्वरूप प्रगटावीने रे, दीधो कुमति नो छेह ॥स्वरूप०॥५॥

काल अनादि अनत नो रे, हतो सलंगण भाव ।
ते पर पुद्गल थी हवे रे, विरक्त थयो स्वभाव ॥स्वरूप॥६॥

द्रव्य भाव दोय भेद थी रे, मुनिवर समिति धार ।
'आनंदघन' पद साधसे रे, ते मुनि गुण भडार ॥स्वरूप०॥७॥

(ढाल ४) पाठा०—इसमे पाठ भेद नही है ।

शब्दार्थ—तेम = तब । निवाखु = दूर हटाना, अलग करना । वालवु = अलग करना । नसाड़वा = नाश करने के लिए । आस्वादन = स्वाद लेना, अनुभव करना । सलंगण = संलग्न, जुडा हुआ । हतो = था ।

५ पारीठावणिया समिति

ढाल ५, (रूडा राजवी, ए देशी)

समिति पंचमी मुनिवर आदरो रे, उन्मारग नो परिहार रे, सुधा साधु जी ।
मुनि मारग रूडी परे साधजो रे, पर छोडी ने निज संभार रे ॥सुधा०॥१॥

पारिठावणिया नामे वली जे कह्यु रे, ते तो परिहरवो परभाव रे
।सुधा०

आदर करवो निज स्वभाव नो रे; ए तो अकल स्वभाव कहेवाय रे
।।सुधा०।।२।।

पर पुद्‌गल मुनि परठवे रे, विचार करी घट मांय रे ।सुधा०।

लोक सज्ञा ने मुनि परिहर रे, गति चार पछे वोसिराय रे
।।सुधा०।।३।।

अनादिनो संग वलि जे हतो रे तेनो हवे करे मुनि त्याग रे सुधा०।

विकल्प ने सकल्प ने टालवा रे, वलि जे थया उजमाल रे ।।सुधा०।।४।।

अनाचीर्ण मुनि परठवे रे, ते जाणी ने अनाचार रे ।सुधा०।

आचार ने वलि जे मुनि आदरे रे, कर्त्ता कार्य स्वरूपी थाय रे
।।सुधा०।।५।।

खट् द्रव्यनु जाणपणु कह्यु रे, ते जे जाणे आप स्वभाव रे ।सुधा०।

स्वभावनु कर्त्ता वलि जे थयो रे, ते तो अनवगाही कहेवाय रे
।।सुधा०।।६।।

सुमति सु हवे मुनि म्हालता रे, चालता समिति स्वभाव रे ।सुधा०।

कुमति थी दृष्टि नहि जोडत रे, रे, वली तोडता जे विभाव रे
।।सुधा०।।७।।

पर परणति कहे सुण साहेबा रे, तमे मुझने मूकी केम रे ।सधा०।

कहो मुनि कवण अपराधथी रे, तमे मुझने छोडी एम रे
।।सुधा०।।८।।

में म्हारो स्वभाव नहि छोडियो रे, नथी म्हारो कोई विभाव रे
।सुधा०।

पंचरंगी माहरू स्वभाव छे रे, तेने आदरूं छूं सदा काल रे
॥सुधा॥६॥

वर्ण गंध रसादि छोडू नहीं रे, तो श्यो अवगुण कहेवाय रे ।सुधा।
कदी अवर स्वभाव न आदरूं रे, सडन पडन विध्वंसन न छंडाय रे
॥सुधा०॥१०॥

सिद्ध जीवथी अनंत गुणा कह्या रे, म्हारा घरमां जे चेतन राय रे
।सुधा०।

ते सघला म्हारे वस थई रह्या रे, तम थी छोटी ने केम जवाय रे
॥सुधा०॥११॥

तव मुनिवर कहे कुमति सुणो रे, थारु स्वरूप जाण्युं आज रे ।
थारा स्वरूप मां जिम तूं मगन छे रे, म्हारा स्वरुप मां थयो हूं
आज रे ॥१२॥

म्हारूं स्वरूप अनन्त में जाणियु रे, ते तो अचल अलख कहेवायरे ।
सुमति थी स्वभाव मारगे रमूरे, थारा सामू जोयू केम जाय रे ॥१३॥
थारे म्हारे हवे नहीं वने रे तमे तमारे घरे हवे जाओ रे ।
आटला दहाडा है वालपणे हतो रे, हवे पण्डिम वीर्य प्रगटायो रे
॥१४॥

सुमति सुं में आदर माँडिओ रे, ए तो वहु गुणवंती कहेवाय रे ।
सुमतिना गुण प्रगट पणो रे, में तो लीधो उपयोग मांय रे ॥१५॥

सांभल सुमति ना गुण कहुं रे, जे अचल अखण्ड रहेवाय रे ।
स्थिरतापणु सुमति मां घणो रे, तुज मां तो अस्थिरता समाय रे
॥१६॥

थारा सुख तो हवे में जाणियुं रे, दुख दायक सदा काल रे ।

थारा सुख विभाव कहेवाय छे रे, नहीं पुण्य-पापनु ख्याल रे ॥१७॥
ज्ञानी ते एहने सुख नहि कहे रे, सुख तो जाण्यु एक स्वभाव रे।
थारा पूठे पड़्या ते तो आंधला रे, भव-कूप मां पड़्या सदाय रे ॥१८॥
थारु स्वरूप में बहु जाणियु रे, तू तो जड़ स्वरूप कहेवाय रे।
जड पण प्रगट में जाणियु रे, तू तो पर पुद्गल मां समाय रे ॥१९॥
ते नो विवरो प्रगट हवे सांभलो रे. समार समुद्र अथाह रे।
तृष्णा रूप-जल ते मध्ये घणो रे, पण पीछे तृप्ति न थाय रे ॥२०॥
ते समुद्रनो अधिष्ठायक वलि रे, ते तो नामे मोह भूपाल रे।
तेना प्रधान वलि पच छे रे, ते तले त्रेवीस छडी दार रे ॥२१॥
राजधानी एवी ते मेल वी रे, धर्मराय नू लूटे धन संच रे।
चाहय धर्मी जो एने आदरे रे, ते ने मोलवे ते छडी दार रे ॥२२॥
वस करी सोपे मोहराय ने रे, मोह करावे प्रमाद प्रचार रे।
ते थी जाये नरक निगोद मां रे, तिहां काल अनादि गमाय रे ॥२३॥
हढ़ धर्मी एथी नहीं चले रे जेणे कीधा क्षायक भाव रे।
प्रमादी ने मोह पीठे घणो रे, अप्रमादी घरे नहीं जाय रे ॥२४॥
तेणे पंच महाव्रत आदर्या रे, छोड़्या सर्व अनाचार रे।
आचार थी हूँ हवे नहीं चालू रे, सुण मुज चित्तना अभिप्राय रे ॥२५॥
कुमति जी कहूँ तुमने एटलू रे, म्हारा सधर्मी छे अनन्त काय रे।
ते सर्वने दास पणू दियो रे ते साले छे मुज चित्त माय रे ॥२६॥
श्यु कीजे पूठ ते नहि करवे रे, तो पण मुजने दया थाय रे।
ते थी देशना बहुविद करू रे, जिहाँ चाले म्हारो प्रयास रे ॥२७॥
चेतन जी ने बहु परे प्रीछवु रे, तेने बनावू स्थिर वास रे।
ते तो थारे वस करी न होवे रे, ते ने वोसिरावी शिव जाय रे
धर्मरायनी आणने अनुसरे रे, ते तो "आनन्दघन" महाराय रे। २८॥

(ढाल ५) पाठान्तर—समिति पंचमी = पञ्चमी समिति । अनाचीर्ण = पर आकर्षण । वलिजे = वली । स्वभावनु = स्वभानो ।

नोट—सातवे पद के पश्चात छपी पुस्तक मे "उपसंहार" शब्द है । साहेवारे = साहिवारे । तमे मुझने छोडी = मुझने छं छेडी । छोडिया रे = छाडियो रे । कोई = काइ । पंचरंगी""छेरे = पचरंगी जे म्हारु स्वरूप छेरे । वर्ण....नही रे = वर्ण गंध रस फर्स छोडु नहि रे । सडन = सडण । पडन = पडण । विध्वंसन = विधंस । जीवथी = जीवोथी । तमथी = तो तुमथी । थारू = तारू । आज रे = दगाबाज रे । थारा = तारा । स्वरूपमां = स्वरुपे । मारगे रमू रे = घरे रमु रे । थारा = तारा । तमे तमारे = तुम तुम्हारे । आटला दहाडा=आज लगी । प्रगटाया रे = प्रगटाय रे । रहेवारे = कहेवाय रे । घणो रे = घणु रे । तुज = तुझ । थारा = तारा । हवे मे = मे हवे । जाणियु रे = जाणिया रे । दुख... काल रे = छे किंपाक फल समहाल रे । थारा सुख.... स्यात रे = तेथी ते विभाग कहेवाय छे रे पुण्य पाप नाटक नो स्यात रे । ज्ञानी ते एहने = ज्ञानी एहने । नहि = नथी । सुख तो = सुख । जाण्यु एक = जाण्यु मे एक । थारा = तारी । पूठे = पुंठे । ते नो = ते । पड्या गदायरे = थया गरकाव रे । थारू=तारू । तू तो जड स्वरूप = जड सगे तु जड । प्रगट हवे सांभलो रे = प्रगट सांभलारे । संसार = आ ससार । तृष्णा रूपजल = तृष्णा-जल । घणो रे = घणु रे । न = नव । ते तो = ते । प्रधान = मित्र प्रधान । २१ वे पद के बाद छपी पुस्तक मे इस प्रकार पाठ है = राजधानी ते तेवीसने भालवीरे, तेनी खबर राखे जग पंचरे" । मोकवे = भोकवे । ते = सवि । ते थी जाये नरक निगोदमा रे=पछी नाखे ते नरक निगोदमां रे । अनादि = अनंतो । नहि जाय रे = नवि चरर रे । तेणे = तिणे । छोड्या = वलि छोड्या । नहि = नवि । मुज चितना अभिप्राय रे = मुझ हृदय विरतंत रे । छे अनत काय रे = जीव अनन्त रे । पूठ ते नहि करवे रे = ते पुंठ नवि फेरवे रे । देशना = हु देशना । बतावूं = बतावं छु । करि = फरी । तेने = तने । अंतिम पद के अत मे यह लेख और है—"तिहां तुझ थी नवि पहुंचाय रे ।

शब्दार्थ = उनमारग = उन्मार्ग कुमार्ग । परिहरो = छोडो । रूडी परे = भलि प्रकार से । अकल = स्वच्छ, सुन्दर । वोसिराय = छोडना । उजमाल = उज्ज्वल । अनाचीर्ण = जिसका आचरण न करने योग्य हो, अशुद्धाचार । अनवगाही = नही ग्रहण करने वाला । म्हालता = आनद पूर्वक चलते हुए । मूकी- = छोडी । श्यो = क्यो । कदी = कभी । केम = कैसे । थारूं = तेरा । आटला = इतने । दहाडा = दिन । पूठे = पीछे । विवरो = व्योरा, विस्तार से वर्णन । अथाह = असीम । पंच = पांच इंद्रिय-श्रोत, चक्षु, घ्राण, रस और स्पर्श इंद्रिय । त्रेवीस = तेवीस, पाच इद्रियो के तेवीस विषय । सचरे = सचय करके, एकत्रित करके । मोलवे = आकर्षित करके । एटलू = इतना । प्रीछवू रे = प्रश्न करना ।

श्री आदिजिन स्तवन*

राग--प्रभाती

आज म्हारे चयारु मगल च्यार ।
देख्यौ मै दरस सरस जिनको सोभा सुन्दर सार ॥आज०॥१॥
छिन छिन जिन मनमोहन अरचौ, घनकेसर घनसार ।
धूप उखेवो करो आरता, मुख बोलो जयकार ।।आज०। २ ।
विवध भांत के पुष्फ मगावो, सफल करो अवतार ।
समवसरण आदीसर पूजो, चौमुख प्रतिमा च्यार ॥आज०॥३॥
हीयै धरो बारह भावना भावो, ए प्रभु तारण हार ।
सकल संघ सेवक जिनजी को, 'आनन्दघन' अवतार ।।आज०। ४॥

चौवीसे तीर्थंकर नुं तवन*

ऋषभ जिनेसर राजीउ मन भाय जुहारो जी ।
प्रथम तीर्थंकर[1] पति राजिउ[2] परिगह परिहारो जी ॥१॥

विजयानन्दन वंदीए, सब पाप पलायजी ।
जिम सूस्यर[3] नंदीए, सुरनर मन भाय जी ॥२॥

सभव भव-भय टालतो, ग्रनुभव भगवत जी ।
मलपति गज-गति[4] चालतो सेवे सुर नर सतजी ॥३॥

ग्रभिनन्दन जिन जयकरु, करुणा[5] रस धार जो ।
मुगति सुगति नायक वरु. मद मदन निवार जो ॥४॥

सुमति सुमत[6] दातारु, हुँ[7] प्रणमु ं कर जोडि जी ।
कुमति कु ंमति परिहार कु ं, ग्रन्तराय परि छोड़ि[8] जी ॥५॥

पदम प्रभु प्रताप सू ं परि वादि विभगी जी ।
जिम रवि-केहरि व्याप सू ं ग्रन्धकार मतग जो ॥६॥

श्री सुपास निज[9] वास तें, मुझ पास नित्रास जो ।
कृपा करि निज दास नेइ , दीजइ सुखवास जी । ७॥

चंद्र प्रभु मुख चंदलो, दीठां सव सुख थाय जो ।
उपसम रस भर कदलो दुख[10] दालिद्र जायजी ॥८॥

सुविधि सुविधि विधि, दाखवइ राखइ निज पासजी ।
नवम ग्रठम विधि दाखवइ[11], केवल प्रतिभास जी ॥९॥

सीतल सीतल जेम[12] ग्रमी, कामित फलदाय जो ।
भाव सु ं तिकरण सुध नमि, भवयण निरमाइ जी ॥१०॥

श्री श्रेयांस इग्यारमो, जिनराज विराजे जी ।
ग्रह नवि पीडइ वारमो जस सिर परे गाजे जी ॥११॥

वासपूज वसु पूज्य नरपति कुल-कमल दिनेश जी ।
ग्रास पूरे सुरनर[13] जती, मन तणीय जिनेश जी ॥१२॥

विमल विमल ग्राचारनी, तुझ शासन चाह जी ।
घट पट कट निरधार नइ, जिम दीपइ उमाहजो ॥१३॥

अनन्त असन्त न[14] पामिये गुण गण अविनास जी।
तिन तुझ पद-कज, कामीइ, गणधर पद पासि[15] जी ॥१४॥
धरम धरम तीरथ करी, पंचम गति दाइ जी।
एकंतक मत मद हरी, जिण बोध सवाइ[17] जी ॥१५॥
संतिक संति करी जगधणी, मृगलछन सोहे जी।
निरलछन पदवी भणी, भवियण मण मोहइ जी ॥१६॥
कु थनाथ तीरथपति चक्रधर पद धारजी।
निरमल वचन सुधा राखे[18] निज पास जी ॥१७॥
श्री अरनाथ सुहामणो, अरे संतित साधे जी।
वछित फल दाता भणो, जे वचन आराधे जी ॥१८॥
मल्ली वल्ली कामता वर सूर तस कहीइ जी।
चरण कमल सिर नामिना, अगणिल फल लाहिइ जी ॥१९॥
मुनिसुव्रत सुव्रत तणी, मणि खान सुहावइजी।
वछित पूरण सुरमणि, रमणि गुण गावइ जी ॥२०॥
नमि चरण चित राखिये, चेतन चतुराइ जी।
परमारथ सुख चाखिये, मानव भव पाइ जी ॥२१॥
नेमनाथ ने एकमना[19] साइक नवि लागिजी।
तिण कारण सूर धामणी, जण सगुण मागि जी ॥२२॥
पारस महारस दीजिये, जन जाचन आवे जी।
अभय दान फल लीजियै[21] असरण पद पावे जी ॥२३
सिद्धारथ सुत सेवियइ, सिद्धारथ होइजी।
चयाल[22] जंजाल न खेवीइं[23] परमारथ जोइ जी ॥२४॥
एय चौवीस तीर्थंकरु निज मुन गुण गावु जी।
जिन मत माण संचरु 'आनन्दघन' पाउं जी ॥२५॥

*ये दोनों स्तवन श्री अगर चंद जी नाहटा बीकानेर के संग्रह से लिये गये है ।१ तीरथि ।२ जागियो ।३ सुख सुचिर ।४ प्रति- ।५ करुणी ।६ सुगति ।७ कूं ।८ विछोड ।९ त्यजिवास नई ।१० दुष्ट ।११ नाखवै ।१२ जिन ।१३ नरे ।१४ भव ।१५ धारि ।१६ दातार ।१७ सुवार ।१८ तजी त्रिपदी जस सारजी ।१९ कामना ।२० नाथ स ।२१ दीजीयै ।२२ आःल २३ वेखियै ।

आनन्दघन-चौवीसी

श्री आनन्दघन चौवीसी स्तवन

श्री ऋषभ जिन स्तवन (१)

(राग मारू. करम परीक्षा करण कुंवर चल्यो, ए देशी)

ऋषभ जिणेसर प्रीतम माहरो, और न चाहूँ कत ।
रींझ्यो साहब संग न परिहरे, भांगे सादि अनन्त ।।ऋ०।।१।।
प्रीत सगाई जग मां सहु करै, प्रीत सगाई न कोय ।
प्रीत सगाई निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय ।।ऋ०।।२।।
को कन्त कारण काष्ठ भक्षण करै मिलस्यूं कत नै धाय ।
ए मेलो नवि कदिये संभवे, मेलो ठाम न ठाय ।।ऋ०।।३।।
कोइ पति रजन अति घणुं तप करै, पति रंजान तन ताप ।
ए पति रंजान मैं नवि चित धर्यूं, रजन धातु मिलाप ।।ऋ०।।४।।
कोइ कहै लीला ललक अलख तणी, लख पूरे मन आस ।
दोष रहित नै लीला नवि घटै, लीला दोष विलास ।।ऋ०।।५।।
चित्त प्रसत्ति पूजन फल कह्यूं, पूजि अखडित एह ।
कपट रहित थई आतम अरपणा, 'आनन्दघन' पद रेह ।।ऋ०।।६।।

(१) पाठान्तर—करम....चाल्यो के स्थान पर 'आज नेहजोरे दीसै नाहलो (अ)। चाहूँ = चाहुरे (अ, ऊ)रीझ्यो = रीझियो (इ.) साहव = साहिव (अ, आ, ई, उ, ऊ)। जगमां = जग माहि (अ), कही (मे) भी देखा जाता है। प्रीत = प्रीति (अ; आ,)। करै = करइ (अ, आ,)। को = कोई (अ, आ, ऊ), कोइक (उ)। काष्ठ = काठ (अ,)। मिलस्यूं = मिलस्युं (अ, इ, ई,)। नै = ने (आ, इ, ई, उ,) कदिइ = कहीइ (अ,) कहियैं (आ, इ, उ, ऊ,)। ने = नै

(अ) । घणु = घण (अ); घणो (आ, उ) घणो (ऊ) । रंजन = रंजे (अ, आ,) । धर्‍यूं = कही कही धर्‍यो भी पाठ है । धातु=धात (अ,) ललक=अलख (इ, ई, उ, ऊ) । लीला नवि=लीला किम (अ, आ,) । रहित नै = रहित में (आ, इ, ई,) प्रसत्ति = प्रसनै (आ, इ, ई, उ, ऊ) । कह्यूं = कह्यु (अ, इ, उ,) पूजि = पूज (अ, आ, इ, ई, ऊ) । थई = थइ (ऊ) ।

शब्दार्थ—प्रीतम = अत्यन्त प्रिय स्वामी । कंत = पति, स्वामी । रीझ्यो = प्रसन्न हुआ । परिहरै = छोड़ना, त्यागना । निरुपाधिक=उपाधि रहित; अलौकिक । सोपाधिक=उपाधि सहित । को = कोई । काष्ट = काठ, लकड़ी । धाय = दौडकर । कदिये=कभी भी । ठाम = स्थान । ठाय = स्थिति । रंजन = प्रसन्न करना । ललक = उत्कट अभिलाषा । प्रसत्ति = प्रसन्नता । रेह-=रेखा, चिन्ह, लक्षण ।

अर्थ—शुद्ध चेतना का अपनी सखी श्रद्धा के प्रति वचन—

श्री ऋषभदेव जिनेश्वर मेरे प्रियतम हैं, इसलिये मैं अब और किसी दूसरे को अपना स्वामी बनाने की इच्छा नहीं करती हूँ । प्रसन्न हुये मेरे ये स्वामी मेरा साथ कभी नही छोड़ेंगे । मेरे इस प्रसन्न हुये स्वामी के सम्बन्ध की आदि तो है किन्तु अंत नही है अर्थात् मेरा और इनका साथ अब छूटने वाला नही है, अनंत काल तक रहने वाला है ॥१॥

संसार में प्रेम-सम्बन्ध तो सब ही करते हैं किन्तु वास्तव में वह कोई प्रेम-सम्बन्ध नहीं है । मेरा (शुद्ध चेतना का) प्रेम संबंध तो निरुपाधिक है उपाधि रहित है । और संसार में जो प्रेम-संबंध है वह उपाधि सहित है और आत्म ऋद्धि को खोनेवाला है—विनाश करने वाला है ॥२॥

संसार मे प्रेम संबंध के कारण कोई स्त्री अपने पति की मृत्यु पर उसकी चिता के साथ जल जाना चाहती है और आशा करती है कि इस तरह

सहगमन से पति के साथ शीघ्र मिलन हो जावेगा। किन्तु मिलन का कोई निश्चित स्थान न होने के कारण इस प्रकार कभी संभव नही है ॥३॥

कोई पति को प्रसन्न करने के लिये अनेक प्रकार के उग्र तप करती है और समझती है कि शरीर को तपाने से ही स्वामी प्रसन्न होंगे। इस प्रकार से मिलाप की इच्छा तो शारीरिक धातु (तत्व) के मिलाप की इच्छा है। शुद्ध चेतना करती है, इस प्रकार से पति को प्रसन्न करना मैंने कभी सोचा ही नही। वास्तव मे पति को प्रसन्न करने का तरीका तो धातु मिलाप की तरह है। जिस प्रकार धातु (सोना—चांदी) मिल कर, एक रस हो जाता है उसी प्रकार पति—स्वामि को प्रसन्न करने के लिये उसकी प्रकृति मे अपने आप को मिलाकर-समर्पित कर, एक रस हो जाना है ॥४॥

"प्रकृति मिले मन मिलत है, अनमिल ते न मिलाय।
दूध दहि सों जमत है, कांजी ते फटि जाय ॥"

कितने ही लोग कहते हैं कि ईश्वर की यह लीला है— क्रीडा है वह सब की इच्छाओं को जानता है और उन इच्छाओं को जानकर सब की आशायें वह पूर्ण करता है। शुद्ध चेतना इस प्रकार कहती है दोष रहित परमात्मा मे यह लीला—क्रीडा संभव नहीं होती क्योंकि लीला तो दोषों की रंगभूमि हैं ॥५॥

पति की चित्त-प्रसन्नता ही पति-भक्ति का फल है। यह सेवा (पति को प्रसन्न रखना) ही अखंडित पूजा—भक्ति है। कपट रहित होकर भिन्न-भाव त्याग कर अपने आपको पति के समर्पण कर देना ही भगवान में चित्तवृति को लीन करना ही—आनदघन के समूह—मोक्ष पद की रेखा है। अर्थात् अनंत सुखों के प्राप्त करने का मार्ग है ॥६॥

श्री अजित जिन स्तवन (२)

(राग आसावरी—म्हारो मन मोह्यो श्री विमला चले रे, ए देशी)

पंथडो निहालूं बीजा जिन तणुं, अजित अजित गुण धाम।
जे तें जीत्या तिण हूँ जीतियो, पुरुष किस्यूं मुझ नाम ॥प०॥१॥

चरम नयन करि मारग जोवतो, भूल्यो सयल संसार ।
जिण नयने करि मारग जोइये नयण ते दिव्य विचार । पं०॥२॥
पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां, अंधो अंध पलाय ।
वस्तु विचारै जो आगमैं करी, चरण धरण नहीं ठाय ॥पं०॥३॥
तर्क विचारै वाद परम्परा, पार न पहुंचै कोय ।
अभिमत वस्तु वस्तु गते कहै ते विरला जग जोय ॥पं०॥४॥
वस्तु विचारै दिव्य नयण तणो विरह पड्यो निरधार ।
तरतम जोगे तरतम वासना वासित बोध अधार । पं०॥५।
काललब्धि लहि पंथ निहालस्यूं, ए आसा अवलम्ब ।
ए जन जीवै जिनजी जाणज्यो, 'आनन्दघन' मत अम्ब ॥पं०॥६॥

(२) पाठान्तर—म्हारो....विमला चले रे=जिन प्रतिमाहो-एहनी ढाल (अ) पंथडो... तणुं=वाटडी विलोकूं रे बीजा जिन तणी रे (कहीं-कही)। निहालुं=निहालो (अ) तणु=तणो (अ, आ, उ, ऊ)। तें=तिणे (अ)। जीतियो=जीतीयउ (अ)। किस्यूं=स्यु (अ) मुझ=माहरो (अ) जोवतो=जोई हो (अ), जोवतां (इ, ई)। भूल्यो=भूलौ (अ, आ, इ) भुल्लो (ई)। करि=कर (उ)। अनुभव=अनुभवी (अ) जोवता=जोइइं (अ) पलाय =पेलाय (अ), पुलाय (उ, ऊ), कही पर 'पीलाय' भी है। आगमे=आगम (अ, इ)। करी=कमी (अ)। पहुंचै=पौहचे (उ)। कोय=कोई (अ)। गते =गति (अ)। विरला=विरलौ (अ)। जोय=जोई (अ)। विचारै=विचारूं (इ ई) अधार=आचार (अ) आधार (उ ऊ)। निहालस्यूं=निहालसै (अ) निहालस्ये (उ)। आसा=आस्या (ऊ) जाणज्यो=जाणयो (अ) जाणजो (ई, उ)।

शब्दार्थ—पंथडो=रास्ता, राह, मार्ग। निहालुं=देखता हूं। बीजा=दूसरे। तणुं=का। अजित=अजेय, द्वितीय तीर्थंकर का नाम। धाम=घर। जे=जिनको। ते=नमने। किस्यूं=कैसा। तिण=उनसे। हूं=मैं। चरम=चर्म। जोवतो=देखता हुआ। सयल=सकल, सब। पलाय

= दौडना । ठाय = स्थान । अभिमत = इच्छित । वस्तु = तत्व । विरला = कोई । वासित=गंध युक्त किया हुआ । काल लब्धि=योग्य समय । लहि = प्राप्त कर । अवलंब = सहारा । अम्ब = आम्र,आम ।

अर्थ–दूसरे श्री अजितनाथ जिनेश्वर के उस मार्ग की ओर देखता हूँ जिस मार्ग से उन्होने सिद्धि प्राप्त की है और जिसका उन्होने उपदेश दिया है। आप गुणनिष्पन्न नाम के धारक है अर्थात् आपका 'अजित' नाम और गुणधाम विशेषण युक्ति संगत है, क्योकि आप रागादि शत्रुओ से अजेय है और अनंत ज्ञानादि गुणो के स्थान हैं। मेरा पुरुष नाम कैसा ? अर्थात् पुरुपार्थ न होने से मेरा 'पुरुष' कहलाना निरर्थक है क्योकि आपने जिन पर (रागादि शत्रुओ पर) विजय प्राप्त की थी, उनसे मैं जीत लिया गया हूँ अर्थात् परास्त हो गया हूँ ॥१॥

पुरुष धर्म पुरुषत्वा, बिना शक्ति न लखाय ।
जल-अवधारण शक्ति ते, घट घटता प्रगटाय ॥ (श्री ज्ञान सारजी)

चमडे के नेत्रो से–बाह्य नेत्रो से आपके मार्ग को– आप द्वारा बताये हुये वीतराग मार्ग को (आध्यात्मिक मार्ग को) देखते हुये तो सर्व ससार भूला हुआ ही है–भटकता हुआ ही है। जिन नेत्रो के द्वारा आपका मार्ग देखा जा सकता है उन नेत्रो (आखो) को तो दिव्य (अलौकिक) ही समझो। अर्थात् आपके स्याद्वाद मार्ग को देखने के लिये सम्यक् ज्ञान-चक्षु ही उपयोगी हो सकते है ॥२॥

गुरु परम्परा के अनुभव की ओर देखा जाय तो ऐसा लगता है कि अन्धा अन्धे के पीछे दौडता जा रहा है। अर्थात् अनेक परम्पराये परस्पर की निंदा मे राग-द्वेष वृद्धि करने वाली है। अंधे के पीछे अधों की दौड जैसी हैं। उनसे सत्य मार्ग नही मिल सकता है। यदि आगमो के–सिद्धान्त वाक्यो के द्वारा मार्ग का विचार किया जाय तो पांव रखने के लिये भी स्थान नही हैं। अर्थात् आगमो के अनुसार कषाय आदि पर विजय प्राप्त करना अति कठिन कार्य है ॥३॥

तर्क को प्रमाण मानकर आपके मार्ग का विचार किया जाय तो वादों की परम्परा ही दृष्टिगत होगी। उत्तर-प्रत्युत्तर का अंत ही नही दिखाई देता। इसलिये तर्क द्वारा आपके मार्ग को प्राप्त नही किया जा सकता है। इच्छित मार्ग (भगवान का मार्ग) का यथार्थ स्वरूप कहने वाले तो संसार मे विरले ही दिखाई पडते है। आत्मानुभूति के बिना कौन कह सकता है ॥४॥

वस्तु को—यथार्थ मार्ग को बताने वाले दिव्य—अलौकिक चक्षुओं का (ज्ञानियो का) तो इस समय निश्चय ही वियोग हो गया है। किन्तु इस समय तो क्षयोपशम—योग्यता की तरतमता (न्यूनाधिक) के अनुसार ही न्यूनाधिक ज्ञान संस्कार हैं वे ही इस समय श्रद्धा के आधार हैं ॥५॥

अपने प्रियतम [आराध्य] के लिये कवि का हृदय छटपटा रहा है। वह उसकी खोज मे अनेक आचर्यो के पास जाते है, अनेक शास्त्र पढते हैं, तर्क वितर्क करते हैं किन्तु आराध्य का मार्ग तो मिलता नही है। इससे इन्हे निश्चय होता है कि इस जन्म में तो अचूक साधन तो दुर्लभ है किन्तु जो साधन मिले, उससे जितना भी लाभ उठाया जाय, उठा लेना चाहिये। आगे अपने हृदय को सांतवना देते हुये कहते हैं—

हे अतिशय आनन्द के देने वाले अनेकान्तवाद के आम्रफल जिनेश्वर देव! काललब्धि प्राप्त होने तक-भव भ्रमण की अवधि के परिपक्व होने तक-योग्य समय प्राप्त होने तक—मैं आपके मार्ग की प्रतीक्षा करूंगा। यह सेवक-भक्त संयम रूप परमार्थ जीवन व्यतित करता हुआ और आध्यात्म गुण की निरन्तर वृद्धि करता हुआ आनन्दघन-दर्शन रूप आम्र वृक्ष से दिव्य अमृत फल की [मुक्ति की] आशा में जी रहा है॥६॥

यह प्रकृति का नियम है कि समय आने पर ही आम पकता है और कार्य की सिद्धि भी समय आने पर ही होती है।

काल लब्धि की परिपक्वता पुरुषार्थ बिना नही होती है। आम योग्य क्षेत्र मे रोपण करने के पश्चात बराबर जल सिंचन, खाद डालने और बराबर

उसकी सम्भाल करते रहने के पश्चात ही समय आने पर—ऋतु आने पर पकेगा। यदि सिंचाई आदि नहीं की जावेगी तो आम शुष्क हो जावेगा—सूख जावेगा उसी प्रकार आत्मार्थी पुरुष निरन्तर प्रयत्न करता रहेगा—पुरुषार्थ करता रहेगा तो काललब्धि प्राप्त कर—समय आने पर आनन्द स्वरूप मोक्ष फल प्राप्त कर लेगा। वीतराग सत् पुरुष की आज्ञा अप्रमत होकर उत्साहित होकर आराधन करना ही काललब्धि प्राप्ति का प्रमुख उपाय है अर्थात् जो जिनेश्वर की आज्ञानुसार वैराग्य भाव से श्रद्धापूर्वक मद कषायी और मंद विषयी होकर महाव्रतादि पालता हुआ आत्म भाव मे मग्न रहता है वह काललब्धि शीघ्र प्राप्त कर लेता है।

हे जिनेश्वर भगवान ! मैं उस ही समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि कब मेरी काललब्धि परिपक्व हो और मुझे दिव्य नयन की प्राप्ति हो जिससे मुझे दिव्य दर्शन मिले। वह प्राप्ति मुझे देर अवेर अवश्य मिलेगी। हे कृपालुदेव ! ऐसी मुझे पूरी पूरी आशा है। कारण कि आपकी परम प्रीति—भक्ति रूपी वीज को मैंने अपने चित्त रूपी क्षेत्र मे रोपण कर लिया है तो आनदघन रूप आम्र फल अवश्य काललब्धि पाकर—समय आने पर—ऋतु आने पर पकेगा ही। इसी आशा के अवलम्बन से मैं जीवन व्यतीत कर रहा हूँ।

श्री सम्भव जिन स्तवन (३)

(राग-रामगिरी—रातडी रमीने किहां थी आवियां, ए देशी)

संभव देव ते धुर सेवो सब रे, लहि प्रभु-सेवन भेद।
सेवन कारण पहिली भूमिका रे, अभय, अद्वेष, अखेद ॥सं०॥१॥
भय चचलता जे परनामनी रे, द्वेष अरोचक भाव।
खेद प्रवृत्ति करतां थाकिये, दोष अबोध लखाव ॥स॥२॥
चरमावर्तन चरमकरण तथा, भव परिणति परिपाक।
दोष टलै वलि दृष्टि खुलै भली, प्राप्ती प्रवचन वाक ॥सं०॥३॥

परिचय पातक घातक साधुरयूं, अकुशल अपचय चेत।
ग्रंथ अध्यातम श्रवण मनन करि, परिसीलन नय हेत ।।सं०। ४।।
कारण जोगे कारज नीपजें, एमां कोइ न वाद।
पिण कारण विण कारज साधियैं, ते निज मति उन्माद। सं०।५।।
मुग्ध सुगम करि सेवन आदरै, सेवन अगम अनूप।
दीज्यो कदाचित सेवक याचना, 'आनन्दघन' रसरूप ।।सं०।।६।।

(३) पाठान्तर—राग, रामगिरी....अवियारे = रागमाल—करग परीक्षा करण कुमर चाल्यो रे (अ) संभव = ''''सवेरे = संभवदेव तो चित्त धरि सेवियै (अ, आ) लहि = लहीइं (अ) प्रभु=ज्युं (अ, आ)। चंचलता = चंचलता हो (अ, इ, ई, उ) प्रवृत्ति = प्रवृत्ति हो (अ, इ, ई, उ) अवोव = एवोधि (अ), अवोधि (उ)। लखाव = लखाय (उ) चरम = हो चरम (आ, इ, ई) परिणति = परिणत (अ), परणित (ऊ)। प्राप्ति = प्रापति (अ, आ) प्रापित (उ) वाक = पाक (अ)। पातक = पातिक (इ, ई, ऊ) साधरयूं = साधस्युं (अ, उ), साधसूं (आ, इ, ऊ) मनन = मनने (उ) हेत = हेतु (अ, ऊ) जोगे = योगे (अ, आ) जोगे हो (इ, ई, उ)। कारज = करिज (अ)। एमा = एहमां (अ, आ, उ, ऊ) पिण = जिण (अ, ई) विण = विणु (अ, आ, ई)। मति = मत (अ, उ)। मुग्ध = मुगध (अ, आ, ऊ) दीज्यो = देज्यो (अ, आ, ऊ) देजो (उ)। 'देयो'' भी कही पाठ है।

शब्दार्थ—धुर = ध्रुव, सर्व प्रथम। अभय = भयरहित, निर्भय। अद्वेप = द्वेप रहित। अखेद = खेद--दुःख रहित। परणामनी = मनके भावों की। द्वेप = वैर। अरोचक = अरुचिकर। अवोध = अज्ञानता। लखाव = चिन्ह। चरमावर्तन = अन्तिम फेरा, जीव अखिल लोक के सम्पूर्ण पुद्गलों का स्पर्श व त्याग कर चुकता है, वह एक पुद्गल परावर्त्त है। इस एक पुद्गल परावर्त्त मे जीव अनन्त द्रव्य, भव, और भाव का स्पर्श व त्याग करता है। द्रव्य से अनन्त पुद्गल परमाणु, क्षेत्र से लोकाकाश के सर्व प्रदेश, काल से-

अनंत अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी, भव से अनत जन्म मरण, और भाव से अनंत अध्यवसाय स्थानों को यह जीव परावर्तता है। इस काल चक्र मे भ्रमण करता भव्यजीव किसी समय अंतिम भ्रमण चक्र को प्राप्त कर लेता है। चरम करण = अंतिम आत्म परिणाम विशेष, दाव । भवपरिणति = भवस्थिति। परिपाक = परिपक्व होना, पूर्ण होना । प्रवचन वाक = सिद्धान्त वाक्य । परिचय = सत्संग, प्रेम सवध। पातक = पाप। घातक = नष्ट करने वाला। अकुशल = खराव वृत्ति। अपचय = नष्ट होना । परिसीलन = भली भांति गहराई मे घुसकर पढना। मुग्ध = भोला, मूर्ख, भोगोपभोग मे आसक्त । याचना = मांग, भिक्षा।

अर्थ—तृतीय जिनेश्वर देव श्री सम्भवनाथ की स्तवना करते हुये कवि कहते हैं—

सेवा का मर्म जानकर सव लोगो का पहला कर्तव्य श्री सम्भवनाथ जिनेश्वर देव की सेवा–भक्ति करना है। सेवा–भक्ति की प्राप्ति की प्रथम भूमिका—सोपान, निर्भयता, अद्वेष–प्रेम और अखेद है।

भगवान सम्भवनाथ की सेवा–भक्ति के लिए, साहस, प्रेम और आनंद की अत्यन्त आवश्यकता है, इन तीनो गुणो के विना मनुष्य जीवन के किसी भी क्षेत्र मे सफल नही हो सकता। भय ईर्षा और शोक ये मनुष्य के महान शत्रु है। जब तक इन तीनो अंतरंग शत्रुओ पर विजय न प्राप्त करली जावे तब तक मनुष्य भगवद् भक्ति का अधिकारी नही हो सकता ॥१॥

मानसिक चचलता से भय, अरूचि से द्वेप और किसी प्रवृत्ति मे हतोत्साह होने से खेद–शोक उत्पन्न होता है। ये तीनो दोष अज्ञान के चिन्ह हैं। सप्त महाभयों से चित्त चंचल होता है और उनके विसर्जन से अभय प्राप्त होना है। सत्कर्मो मे—धार्मिक कार्यों मे रुचि ही अद्वेप है। मैत्री भाव है। और सद्प्रवृतियो मे उत्साह पूर्वक–जागरूक होकर लगे रहना ही अखेद है, अर्थात् परमार्थवृत्तियो मे रस लेते हुए थकान न होना, दृढता न खोना ही

अखेद है। अतः भय द्वेष और खेद को त्याग कर अभय, अद्वेष और अखेद को ग्रहण करना ही श्री सम्भवनाथ भगवान की परम सेवा है ॥२॥

जिसकी चरमावर्तन—अनत पुद्गल परावर्तनो मे अन्तिम पुद्गल परावर्तन मे अन्तिम उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी बाकी रही हो; जिसने चरमकरण अपूर्वकरण तथा अनिवृतिकरण अर्थात् अभूतपूर्व शुभपरिणाम–हेयोपादेय का ज्ञान (मिथ्यात्व, कषाय और अज्ञान हेय और सम्यक् ज्ञान उपादेय) तथा मिथ्यात्व के उदय को दूर कर सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य शुभ परिणाम कर लिया हो अर्थात् ग्रंथि भेद कर लिया हो (प्रथम गुण स्थान से चौथा गुण स्थान प्राप्त कर लिया हो) और जिसकी भव भ्रमण की अवधि पूर्ण रूप से पक गई हो, उसके भय, द्वेष खेद (भय, ईर्षा और शोक) आदि दोष दूर हो जाते हैं। उसके दिव्य नेत्र खुल जाते हैं (योग दृष्टि मिल जाती है) और उसे प्रवचन वाणी—सिद्धान्त वाक्यों की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् सिद्धान्त वचनों पर (जिनेश्वर वाणी पर) पूर्ण श्रद्धा हो जाती है ॥३॥

पापों को नाश करने वाले, सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूप मोक्ष मार्ग के साधन और समिति गुप्तियों के पालन मे जागरुक साधुओं के परिचय से सत्संग से अकल्याणकारी वृत्तियों का ज्ञान हो जाता है। तब आध्यात्मिक ग्रंथ के सुनने और मनन करने एवं तत्वों का नैगम आदि नयों द्वारा भली भांति विचार करने से प्रभु सेवा-भक्ति का उद्देश्य प्राप्त हो जाता है ॥४॥

योग्य कारण से ही कार्य की सिद्धि होती है, इसमे किसी प्रकार का विवाद नही है—सदेह नही है। विना कारण ही कार्य की सिद्धि चाहे तो यह अपनी बुद्धि का पागलपन है–मूर्खता है। कारण के अनुरूप ही कार्य की सिद्धि होती है। जिस कार्य का जो कारण नहीं है उसे उसका कारण मानकर कार्य सिद्धि मानना मात्र पागलपन है।

जो भय, ईर्षा और शोक के त्याग विना ही, आत्मज्ञानी साधुओ के सत्संग विना ही और आध्यात्मिक ग्रंथो के श्रवण मनन विना ही आत्मोत्थान चाहते हैं, वे अपनी मूर्खता का परिचय देते है ॥५॥

काज विना न करे जिय उद्यम, लाज विना रण मांहि न झूझै।
डील विना न सधे परमारथ, सील विना सत सो न अरूझै।।
नेम विना न लहे निहचैपद, प्रेम विना रस रीति न बूझै।
ध्यान विना न थँमे मन की गति, ज्ञान विना शिव पंथ न सूझै।।

(समयसार नाटक, महा कवि बनारसीदास)

कवि सेवा-भक्ति मार्ग की भिक्षा मागते हुये, सेवा—भक्ति मार्ग की कठिनता प्रदर्शित करते हैं—

भोले लोग सेवा-भक्ति को सुगम जानकर आदरते है—स्वीकार करते है किन्तु सेवा का मार्ग (उपासना) वडा ही अगम्य और अनुपम [बेजोड] है। हे ज्ञानानद रस से परिपूर्ण सभवदेव ! मुझ सेवक को भी कभी यह सेवा (उपासना) प्रदान करना, यही इस सेवक की प्रार्थना है ।।६।।

उपासना भागवति सर्वेभ्योऽपि गरीयसी।
महापापक्षयंकरी तथा चोक्त परैरपि ।। (श्रीमद्यशोविजय)

श्री अभिनन्दन जिन स्तवन (४)

(राग—धन्याश्री सिधुओ— आज निहेजो रे दीसै नाहलो— ए देशी)

अभिनन्दन जिण दरसण तरसियै, दरसण दुरलभ देव।
मत मत भेदे जो जइ पूछियै, सहु थापे अहमेव ।।अभि०।।१।।
सामान्यै करि दरसण दोहिलूं, निरणय सकल विशेष।
मद में घेर्‌यो हो आंधो किम करै रवि ससि रूप विलेष ।।अभि०।।२।।
हेतु विवादे चित धरि जोइयै, अति दुरगम नयवाद।
आगम वादे, गुरु गम को नहीं, ए सबलो विषवाद ।।अभि०।।३।।
घाती डूंगर आडा अति घणा, तुझ दरसण जगनाथ।
धीठाई करि मारग संचरूं, सैगू कोइ न साथ ।।अभि०।।४।।

दरसण दरसण रटतो जो फिरू, तो रण-रोझ समान।
जेहनै पिपासा अमृत पान नी, किम भांजै विष पान ।।अभि०।।५।।
तरस न आवै मरण जीवन तणो, सीझै जो दरसण काज।
दरसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, 'आनन्दघन' महाराज।।अभि०।।६।।

(४) पाठान्तर—रागधन्याश्री....नाहलो = साधुजी न जाइये पर घर एकला (अ)। दरसण = दरिसण (इ, ई, उ)। तरसिये = तरसीयै (अ, ऊ)। कही कही 'तरसीयो,' तरषियो भी पाठ है। दुरलभ = दुर्लभ (उ, ई, उ, ऊ)। दरशण = दर्शन (इ)। जो जइ = जो ते (अ), जो जई (उ), ज्यो जइ (ऊ)। पूछियै = पूछिइं (उ)। दोहिलू = दोहिलो (अ, आ) दोहिनु (ऊ)। निरणय = निर्णय (अ, इ, ई)। मद मे = छद्र मे (अ)। घेर्यां = धार्यो हो (अ) आधो = आधो (आ), अन्धो (ई, उ)। धरि = घर (इ, ऊ)। संगू = सैगू (आ), सेंगू (इ, ऊ) जो = जे (अ), जौ (ऊ)। तो = ते (अ), तौ (ऊ)। रण = रन (अ, आ) रनि (इ, ई) रिण (ऊ)। जेहनै=जै (इ), जै ने (ई)। भांजै=भाजै(अ, आ, ऊ)। विष = विस (अ, आ, ऊ)। मरण जीवन = जीवन मरण (अ, आ)। तणो = तणु (ई)। दुर्लभ = दुरलभ (आ, ऊ)।

शब्दार्थ—दरसण = दर्शन, देखना, सम्यग्दर्शन। तरसिये = वस्तु प्राप्ति के लिये उत्कंठित होना या व्याकुल होना। मत मत = अलग अलग दर्शन वालो से। सहु = सब। अहमेव = अहंकार। दोहिलू = दुर्लभ। निरणय =निर्णय, निश्चय, फैसला। विलेष = जाच करना, बताना, विश्लेशण करना। घाती = मारक। डूंगर=पहाड। घाती डूंगर=चार घाती कर्म, ज्ञाना वरणी, दर्शनावरणी मोहनीय, अंतराय। आडा = रूकावट, बीच में, बाधक। धीठाई = धृष्टता। सचरू = संचरण करूं, चलूं। सैगू = मार्ग दर्शक। रणरोझ = वन में नील गाय की तरह, अरण्यरोदन। भांजै = भंग होवे, दूर होवे, मिटै। तरस त्रास = कष्ट। सीझै = सफल हो।

अर्थ—श्री अभिनन्दन जिनेश्वर के लिए तरस रहा हूँ। हे जिनेश्वर देव ! आपका दर्शन बड़ा दुर्लभ है। (यहां 'दर्शन' शब्द मे श्लेष है) भिन्न २

दर्शन शास्त्रियो के पास जाकर पूछा, तो सबको अपने ही दर्शन के श्रेष्ठत्व का गर्व करते देखा ॥१॥

दर्शन शास्त्र का सामान्य अध्ययन ही कठिन है, फिर सब का पढ कर निर्णय करना तो अत्यन्त ही कठिन है। नशे में गर्क (डूबा) हुआ अन्धा सूर्य और चन्द्रमा के विम्ब को (रूप को) कैसे पहिचान सकता है? ॥२॥

आपका दर्शन कैसे प्राप्त होगा? इसके हेतुओ के विवाद में (झंझट मे) चित्त लगाकर देखा जाय तो नयवाद को समझना बहुत ही दुष्कर है। आगम के ज्ञाता सद्गुरु भी कोई नही मिल रहे है। इस लिए चित्त मे उद्वेग है— असमाधि है ॥३॥

हे त्रिभुवन स्वामी! आपके दर्शन मे अन्तराय डालने वाले—बाधा डालने वाले अनेक घाती पर्वत (घाती कर्म-ज्ञाना वरणी, दर्शना वरणी, मोहनीय और अन्तराय) बाधक हो रहे है। यदि धृष्टता से (हिम्मत करके) मार्ग पर चलता हूँ तो कोई ज्ञानी का साथ भी नही मिलता है ॥४॥

हे नाथ! आपका दर्शन कैसे प्राप्त होगा? यह लोगो से पूछता फिरता हूँ तो जंगल की रोझ-गाय के समान लोग मुझे पागल समझते है। (रोझ गाय जगल मे प्यास से जिस प्रकार पानी के लिए भटकती फिरती हैं और पानी नही मिलता हैं उसी प्रकार दर्शन के लिए भटकता हुआ मै हो रहा हूँ) जिसे आत्म साक्षात्कार रूपी अमृत पीने की इच्छा हो, उसकी पीपासा (प्यास) मतवादियो के सिद्धान्त रूपी विष से कैसे तृप्त हो सकती है? ॥५॥

हे नाथ! मुझे जीवन और मृत्यु से कुछ भी त्रास—कष्ट नही है। मुझे तो आपका दर्शन प्राप्त हो जाय तो मेरे सब कार्य सिद्ध हो जावें। हे अनन्त आनन्द के धनी! यो तो आपका दर्शन बहुत ही दुर्लभ है किन्तु आपकी कृपा से तो बहुत सुलभ है ॥६॥

श्री सुमति जिन स्तवन (५)

(राग–वसन्त या केदारो)

सुमति चरण कँज आतम अरपण, दरपण जिम अविकार। सुग्यानी।
मति तरपण वहु संमत जाणिये, परिसरपण सुविचार ।।सु०।।१।।

त्रिविध सकल तनुधर गत आतमा, वहिरातम धुर भेद ।सु०।
बीजो अन्तर-आतम, तीसरो, परमातम अविछेद ।।सु०।।२।।

आतम वुद्धे कायादिक ग्रह्यो, वहिरातम अघरूप ।सु०।
कायादिक नो साखीधर रह्यो. अन्तर आतम भूप ।।सु०।।३।।

ज्ञानानन्दे पूरण पावनो, बरजित सकल उपाध ।सु०।
अतीन्द्रिय गुण गण मणि आगरू, इम परमातम साध ।।सु०।।४।।

वहिरातम तजि अन्तर आतमा, रूप थई थिर भाव ।सु०।
परमातमनुं आतम भाववूं, आतम अरपण दाव ।।सु०।।५।।

आतम अरपण वस्तु विचारतां, भरम टलै मति दोष ।सु०।।
परम पदारथ सम्पति संपजै, 'आनन्दघन' रस पोष ।सु०।।६।।

(५) पाठान्तर—राग.....केदारो = कागलीयो करतार–ढाल ऐह्नी (अ) कँज = कमल (अ) दरपण = दर्पण (अ) । तरपण = तर्पण (इ, ई)। परिसरपण = परिसर्पण (इ, ई) परसरपण (ऊ) । धुर = धुरि (अ, ई' उ) कायादिक = कायादिक नो (अ), अघरूप = अघभूप (अ) । आतमभूप=आतम रूप (अ, इ, ई, उ, ऊ) । वरजित = वर्जित (इ, ई) उपाध = उपाधि (अ, आ-ए, ऊ) । अतीन्द्रिय = अतिइन्द्रीय (अ) । गुण गुण = गुणि (अ) आगरू = आगरो (अ) । साध = साधि (अ, आ, उ) । तजि = तजी (अ, उ) तज (ऊ) । भाववूं = वछुं (ऊ) ।

शब्दार्थ—कँज = कंज, कमल । अरपण = अर्पण करना, भेंट करना । दरपण = मुख देखने का कांच । अविकार = विकार रहित, मलीनता रहित ।

मति = बुद्धि । तरपण = तर्पण, तृप्त करना । परिसपण = अनुगमन करना । त्रिविध = तीन प्रकार की । सकल = सब । तनुधर = शरीरधारी । गत = गई हुई, रही हुई । धुर = प्रथम । अविछेद = अखड, अविनाशी । अघ = पाप । साखीधर = साक्षी, गवाह, ज्ञाता, दृष्टा । पावनो = पावन, पवित्र । वरजित = त्यक्त, छोडा हुआ । उपाध = उपाधि, विघ्न, बाधा । आगरू = खान, खजाना । भाववू = विचारना । दाव = उपाय । भरम = भ्रम, सशय । परम पदारथ = मोक्ष । संपजै = प्रगटे, उत्पन्न होय ।

अर्थ—दर्पण के समान अविकारी और निर्मल श्री सुमतिनाथ जिनेश्वर के चरण कमलों मे आत्म समर्पण करता हूँ । यह वहुत लोगो के द्वारा मान्य और बुद्धि की तृप्ति करने वाला—सतोष करने वाला है । अतः इस विचार का ही अनुगमन करना चाहिये ।।१।।

समस्त देहधारियो मे आत्मा की स्थिति तीन प्रकार से है । प्रथम वहिरात्मा, द्वितीय अन्तरात्मा और तृतीय अविच्छिन्न (अविनाशी-अखण्ड) परमात्मा ।।२।।

देहादिक पुद्गल पिंड को आत्म बुद्धि से ग्रहण करना (आत्मा समझना) पाप रूप वहिरात्म भाव है । देहादि के कार्यो मे साक्षी (गवाह) रूप से दर्शक हो कर रहने वाला ही राजा अन्तरात्मा है ।।३।।

सम्पूर्ण उपाधियों से रहित (अविकारी), परम पवित्र, ज्ञानान्द से परिपूर्ण (भरा हुआ) और इन्द्रियातीत (इन्द्रिये से न जाना जाने वाला) अनेक गुण रत्नो का खजाना, परमात्मा को समझो ।।४।।

वहिरात्म भाव (पुद्गलानन्द) को त्याग कर धैर्य पूर्वक अन्तराभिमुख हो अर्थात् आनन्द की खोज अपने अन्दर कर परमात्म स्वरूप का चिन्तन ही आत्म-समर्पण का श्रेष्ठ उपाय है ।।५।।

आत्मार्पण तत्व पर विचार करने से बुद्धि का महान दोष—सशय जाता रहता है । ज्ञान रूपी महान संपदा प्रगट होती है जो पूर्णानन्द-रस को पुष्ट करने वाली है ।।६।।

श्रीपद्मप्रभ जिन स्तवन (६)

(राग–मारू तथा सिन्धुः चांदलिया सदेशो कहिजे म्हारा कंत ने रे, ए देशी)

पदम प्रभु जिन तुज मुझ आंतरू, किम भांजे भगवन्त ।
करम विपाके कारण जोइनै, कोई कहै मतिवन्त ॥पदम०॥१॥

पयइ ठिई अणुभाग प्रदेशथी मूल उत्तर बहु भेद ।
घाती अघाती बंधोदयोदीरणा, सत्ता करम विछेद ॥पदम०॥२॥

कनकोपलवत पयडी पुरुष तणी, जोड़ि अनादि सुभाय ।
अन्य संजोगी जंह लगि आतमा ससारी कहवाय ॥पदम०॥३॥

कारण जोगे बांधे बंधनै, कारण मुगति मुकाय ।
आश्रव संवर नाम अनुक्रमे हेयोपादेय सुणाय ।पदम०॥४।

जुंजन करणे अंतर तुझ पड्यो, गुण करणे करि भग ।
ग्रन्थ उक्ति करि पंडित जन कह्यो, अन्तर भंग सुअंग ॥पदम०॥५॥

तुझ मुझ अन्तर अन्ते भांजसे, बाजस्यै मंगल तूर ।
जीव सरोवर अतिशय वाधिस्ये आनन्दघन' रस पूर ॥पदम०॥६॥

(६) पाठान्तर—राग....कतनेरे = ढाल सोहलानी (अ)। पदम = पद्म (इ, ई) प्रभ = प्रभु (अ, उ, ऊ)। आंतरू = आंतरो (अ, आ) भांजे = भाजै (अ, आ, ऊ) । जोइनै = जोयनै (ऊ)। पयई ठिई = पैडीठिई (अ)। बहु = विहूं (उ, ऊ)। बंधोदयोदीरणा = बंध उदय उदीरणा (अ) बंध उदै दीरणा (आ) बधुदयदीरणा (इ, ई, उ, ऊ) सत्ता = संत (अ, उ, ऊ) पयडी = पयडि (इ, उ) पयड (ऊ) । जोडि = जोडी (अ, आ, उ, ऊ) । सुभाय = स्वभाव (ई, उ) सुभाव (ऊ) । अन्य = अनादि (अ), संजोगी = संयोगी (अ, आ, उ) । जहँ = जां (अ, आ) जिहाँ (उ, ऊ) । कहवाय = कहिवाय (उ, ऊ) ।

जोगे = योगे (अ, आ उ) । वांधे = वंधै (अ, उ) । वंधनै = वंध मे (उ) । कारण = मुकाय = मुगति कारण मूंकाय (ऊ) । हेयोपादेय = हेयोदेय (अ, आ, इ) । जुंजन करणे = जैं जिन कारणे (अ) युंजन करणे (इ, ई) युंज्जन (उ) । उक्ति = उकति (अ, आ, उ, ऊ) । युक्ति (ई) । अन्ते = अन्तए (अ, आ), अतर (इ ऊ) । 'उ' प्रति मे न 'अन्ते' है, न 'अंतर' है । भाँजसे = भाजिस्यै (अ, आ) भाजस्ये (उ, ऊ) । वाजस्यै = वाजिस्यै (अ, आ), वाजसि (इ) । वाधिस्ये = वाध से (इ) वावस्ये (उ) । वाधस्यै (ऊ) ।

शब्दार्थ—आंतरू = अन्तर, फर्क । भांजै = नष्ट होय । विपाकै = फल । मतिवन्त = बुद्धिमान । पयइ = प्रकृति वध, कर्म पुद्गलों का स्वभाव । ठिई = स्थिति वंध, कर्मत्व मे रहने का काल प्रमाण । अणुभाग=कर्म का रस, कर्म का वल । प्रदेश = कर्म समुदाय का विभाग । मूल = मुख्य । उत्तर = अवान्तर भेद । घाती = आत्मा के मूल गुणो (ज्ञानदि गुणो) को नष्ट करने वाले । अघाती = मूलगुणो को नाश न करने वाले तथा संसार मे परिभ्रमण कराने वाले कर्म । वधोदयोदीरणा = वध, उदय, उदीरणा, बंध-कर्मो का आत्मा के साथ मिलाप । उदय—कर्म फल प्रवृति काल । उदीरणा=कर्मफल प्रवृति काल से पूर्व ही कर्मो को उदय के लिये खेंच लेना । सत्ता=आत्मा के साथ कर्मो की मौजूदगी । विच्छेद=विच्छेद, नाश होना, अलग होना । कनकोपलवत=सोना और पत्थर के समान, सोना और पत्थर मिट्टी खान से एक साथ निकलती हैं उसी के समान । पयडी = कर्म प्रकृति । पुरुष तणी = आत्मा की । जोडी = साथ, सवंध । सुभाय = स्वभाव से ही । आश्रव = कर्म ग्रहण का द्वारा । सवर = कर्म ग्रहण के मार्ग की रोक । हेयोपादेय = छोडने और ग्रहण करने योग्य । जुंजन करणे = कर्मो से जुडना । गुण करणे = गुणो को ग्रहण करने पर । भंग = नष्ट । उक्ति = कथन । सुअग = उत्तम उपाय । वाजस्यै = वजेगे । तूर = तुरही, वाजा । अतिशय = अत्यन्त । वाधिस्यै = वढेगा ।

अर्थ—हे पद्मप्रभ जिनेश्वर देव ! आपका मेरा अन्तर किस प्रकार दूर होगा ? कोई बुद्धिमान अन्तर के कारणो पर विचार कर उत्तर देता है—कर्म विपाक होने से-अर्थात् कर्म के कारण का अभाव होने पर ॥१॥

कर्म के विषय में बताया जाता है–प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये बंध के चार भेद हैं। कर्म के मूल आठ और उत्तर बहुत भेद हैं। (मूल भेद आठ हैं–ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अंतराय, वेदनी, नाम, गोत्र और आयुष्य और उत्तर भेद अनेकानेक है। मुख्य १४८ अथवा १५८ हैं।) कर्म के मूल भेदों में प्रथम चार तो घाती कर्म है। पिछले चार अघाती कर्म है। इन आठ मूल कर्मों का तथा उनकी उत्तर प्रकृतियों का बंध होता है अर्थात् आत्म प्रदेशो के साथ मेल होता है, फिर ये उदय मे आते हैं–फल देने मे प्रवृत होते हैं। इन बद्ध कर्मों की उदीरणा होती हैं अर्थात् तप आदि करके इन्हे उदय मे लाकर नष्ट कर दिया जाता है। फिर जो बाकी रहे कर्म हैं उनको 'सत्ता' नाम से कहा जाता है। इन सत्ता कर्मो के विच्छेद–क्षय से ही पद्मप्रभ जिनेश्वर के और मेरे मध्य का अन्तर दूर होगा, ऐसा बुद्धिमान कहते है ॥२॥ (विशेष जानकारी के लिए कर्म ग्रन्थ देखने चाहिये)

जिस प्रकार स्वर्ण और पत्थर अनादि काल से खान में मिले हुए पाये जाते हैं उसी प्रकार कर्मप्रकृति की और पुरुष(आत्मा) की भी जोडी अनादि काल से चली आ रही है। जब तक आत्मा अन्य–कर्म पुद्गलों–के साथ सम्बधी है, तब तक वह संसारी कहलाता है ॥३॥

कर्मबन्ध के कारण (मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग) उत्पन्न होने पर ही आत्मा कर्मों का बन्ध करता है , इन कर्मबन्धन के कारणो को छोडने से ही आत्मा की मुक्ति होती है। आश्रव से कर्म बन्ध होता है इसलिए यह हेय है–त्याज्य है और जिससे कर्म बन्ध रुकता है वह संवर उपादेय है—ग्रहण करने योग्य है ॥४॥ (इस हेयोपादेय की विवेकपूर्वक प्रवृत्ति होने से ही भगवान पद्मप्रभ से अन्तर दूर होगा– ऐसा बुद्धिमान लोग कहते हैं।)

कर्मो के योग (सम्बन्ध) से ही, हे नाथ! आप मे और मुझ में अन्तर पड़ा हुआ है–व्यवधान पडा हुआ है। गुण करण से–आत्म गुण (ज्ञान, दर्शन और चारित्र) से–इन गुणो के विकास से–इस युञ्जन करण का नाश होगा अर्थात् आपके और मेरे मध्य का व्यवधान दूर होगा। शास्त्रों के प्रमाण से पंडित

लोगों ने (ज्ञानियों ने) इसे व्यवधान दूर करने का उत्तम अंग (श्रेष्ठ उपाय) माना है ।।५।।

(आत्मा का कर्म से सम्बन्ध करने की क्रिया को 'युंजनकरण' कहते हैं । और आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र ग्रहण करने को 'गुण करण' कहते है । गुणकरण से ही ही युंजनकरण का नाश होता है)

ज्ञानकरण गुणकरण दो, ए सुभाव सम्बद्ध ।
गुणकरणे समवाय फल, अचल अकल रिधि सिद्ध ।। (श्रीज्ञानसारजी)

ज्ञान जीव की सजगता, कर्म जीव कूं भूल ।
ज्ञान मोक्ष को अंकुर है, कर्म जगत को मूल ।।८५।।

ज्ञान चेतना के जगे, प्रकटे केवल राम ।
कर्म चेतना मे वसे, कर्म-वन्ध परिणाम ।।८६।।

(समयसार नाटक अ० १०; महाकवि पण्डित वनारसीदास)

हे नाथ ! अन्त मे आपके और मेरे वीच का यह अन्तर (व्यवधान) दूर होगा और मांगलिक वाद्यंत्र वजेगे । अर्थात् अनाहत नाद रूपी मागलिक वाजे वजेगे । जीव रूपी यह सरोवर (तालाव) आनन्द-समूह के रस से परिपूर्ण होकर अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त होगा जिससे मेरी पद्म रूपी निर्मल आत्मा 'पद्मप्रभ' जैसी वन जावेगी ।।६।।

श्री सुपार्श्व जिन स्तवन (७)

(राग—सारंग मल्हार, ललनानी देशी)

श्री सुपास जिन वंदिये, सुख सम्पति नो हेतु । ललना ।
शांत सुधारस-जलनिधि, भवसागर मां सेतु । ललना ।।१।।

सात महाभय टालतो, सप्तम जिनवर देव । ललना ।
सावधान मनसा करी, धारो जिन-पद सेव ।। ललना ।।श्री सु०।।२।।

सिव संकर जगदीश्वरू, चिदानन्द भगवान । ललना ।
जिन अरिहा तीर्थंकरू, जोति स्वरूप असमान ।।ललना।।श्री सु०।।३।।

अलख निरञ्जन वच्छलू, सकल जन्तु विसराम । ललना ।
अभयदान दाता सदा, पूरण आतम राम ।।ललना।।श्री सु०।।४।।
वीतराग मद कल्पना, रति अरित भय सोग ।। ललना ।
निद्रा तन्द्रा दुरदसा, रहित अबाधित ज़ोग ।।ललना।।श्री सु०।।५।।

परम पुरुष परमातमा, परमेसर परधान ।
परम पदारथ परमेष्ठी, परमदेव परमान ।।ललना।।श्री सु०।।६।।

विधि विरचि विश्वंभरू, ऋषीकेस जगनाथ ।
अघहर अघमोचन धणी, मुगति परमपद साथ ।।ललना।।श्री सु०।।७।।

इम अनेक अभिधा धरै, अनुभव गम्य विचार ।
जे जाणै तेहनै करै, 'आनन्दघन' अवतार ।।ललना।।श्री सु०।।८।।

पाठान्तर—राग ...देसी = ढाल मधुकरनी (अ), राग सारग मल्हार (इ) देशी ललनानी (उ, ऊ) सुपास = सुपार्श्व (अ)। नो = नं (अ, उ ऊ)। हेतु = हेत (अ) शांत = शान्ति (अ, आ, इ, उ, ऊ)। मां = मही (अ) माहे (उ)। जिन पद=नितपद (अ,आ)। सिव = शिव (इ,उ)। अरिहा=अरहा (अ)। तीर्थंकरू = तित्थंकरू (अ, आ)। जोनि = ज्योति (अ, आ, इ, ई, ऊ)। स्व-रूप = रूप (अ, आ, ई) असमान = समान (उ, ऊ)। वच्छलू = वछलू (उ,ऊ)। मद = मत (अ)। रति = रती (इ, ई)। जोग = योग (अ, आ, इ, ई, उ)। परमेसर = परमेश्वर (इ, ई, उ, ऊ)। परमेष्ठी = परमेठ्टी (अ, आ,)। परमिट्टी (ऊ)। परमान = परिनांन (अ)। मुगति = मुक्ति (आ, इ, ई, ऊ)। मुक्त (उ)। साथ = साध (अ)। धरै = धरू (अ, आ)।

शब्दार्थ—सुख = आत्मिक सुख। सम्पत्ति = सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र। हेतु = कारण। शांत = कषयो के नष्ट होने पर, उत्पन्न स्थिति, निज

स्वरूप मे स्थिरता। सुधारस=अमृतरस। जलनिधि=समुद्र। सेतु=पुल। सात महाभय=सात महान भय—इहलोक भय, परलोक भय, आदान भय, अकस्मात भय, आजीविका भय, अपयश भय, मरण भय, काम, क्रोध, मद, हर्ष, राग, द्वेष, और मिथ्यात्व भाव भय। अरिहा=कर्मशत्रु के नाशक, अर्हन्त। असमान=अनुपम, अतुल्य। निरंजन=निर्लेप। वच्छलू=वत्सल, सब के हित कारी, कल्याण कारी। विसराम=विश्राम, सुख के स्थान। मद=गर्व। कल्पना=सकल्प विकल्प। दुरदसा=बुरी अवस्था, दुर्दशा, दुगछा, घृणा। विधि=विधाता, सन्मार्ग को स्थापित करने वाले। विरंची=ब्रह्मा, आत्म गुणो की रचना करने वाले। विश्वभरू=विश्वम्भर, ससार मे आत्म गुणो को पोषण करने वाले। ऋषीकेस=इंद्रियो के स्वामी। धणी=स्वामी। अभिधा=नाम, गुण निष्पन्न नाम।

अर्थ—श्री सुपार्श्वनाथ भगवान को भक्ति पूर्वक वन्दन (प्रणाम) करो। जो प्रभु सासारिक और अनन्त आत्मिक सुख और सम्पत्ति के हेतुभूत है। और जो शातरस (वैराग्य) रूपी अमृत के समुद्र एवं ससार समुद्र को पार करने के लिए सेतु (पुल) के समान है ॥१॥

यह सातवे जिनेश्वर देव सातो ही महाभयो (सांसारिक सात महा भय १ इहलोक भय, २ परलोक भय, ३ आकस्मिक भय, ४ आजीविका भय, ५ आदान भय, ६ अपयश भय, ७ मरणमय तथा आध्यात्मिक सात महा भय १ काम, २ क्रोध, ३ मद, ४ हर्ष, ५ राग, ६ द्वेष और ७ मिथ्यात्व) को टालने वाले—दूर करने वाले है। इसलिये सावधान होकर और मन लगाकर इन जिनेश्वर देव की सेवा धारण करो ॥२॥

यह जिनेश्वर देव उपद्रवों का संहार (नाश) करने वाले होने से 'शिव' हैं, कल्याणकारी होने से शंकर है, आत्म साम्राज्य के शासक होने से 'जगदीश्वर' है, ज्ञानमय और आनन्द मय होने से 'चिदानंद' हैं, अपने स्वरूप ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया है इसलिये 'भगवान हैं। राग—द्वेष विजयी होने से 'जिन', कर्म—शत्रुओं के नाशक होने से 'अरिहन्त', धार्मिक संस्था—चतुर्विध संघ

के संस्थापक होने से 'तीर्थंकर', ज्ञान-ज्योति से प्रकाशमान होने मे 'ज्योति स्वरूप' है और इनकी किसी से भी तुलना नहीं की जा सकती है अतः यह 'असमान' है, अर्थात् इनके समान यही है ॥३॥

आंखों द्वारा यह देखे नही जाते, इसलिये अलख हैं। वासना रहित होने से यह 'निरंजन है। सब प्राणियो पर वात्सल्य भाव रखने से वच्छलू-वत्सलू' हैं और सब प्राणियों के विश्राम रूप हैं। ज्ञानामृत पान करा के सब को अभय बनाते हैं इसलिये अभय दान के दाता हैं। अथवा प्राणीमात्र (जड-जंगम) के अहिंसक होने से 'अभय दात्री' है। शुद्ध आत्म स्वरूप मे निरन्तर बिना प्रयास रमण करने वाले हैं अतः 'आत्मरामी है ॥४॥

भगवान सुपार्श्वनाथ राग रहित हैं, मद, कल्पना, आशक्ति, अप्रीति, भय, शोक आदि मानसिक विकारों एवं निद्रा (नींद) तन्द्रा (ऊंघ), आलस्य आदि शारिरिक विकारो से मुक्त है इसलिए अबाधित योगवाले हैं अर्थात् सयोगी केवली अवस्था में मन, वचन तथा काया के योग आपको बाधा रूप नही है ॥५॥

पूजा (भक्ति) के परम पात्र होने से 'परम पुरुष', परमपद के पाने से 'परमात्मा' अनन्त शक्ति रूप ऐश्वर्य के धारण करने से 'परमेश्वर' पुरुषोत्तम हैं- 'प्रधान पुरुष' हैं। अतः प्रामाणिक रूप से आप ही प्राप्त करने योग्य 'परम-पदार्थ है, सेवा-भक्ति करने योग्य 'परम इष्ट है और पूजने योग्य 'परम देव' स्वयं सिद्ध हैं ॥६॥

द्वादशांगी रूप मुक्ति मार्ग के सर्जनहार होने विधि (विधाता), मोक्ष मार्ग का विधान रचने के कारण श्री सुपार्श्वनाथ भगवान ब्रह्मा है। आपका उपदेश आत्मिक गुणों का पोषण करता है अतः आप 'विश्वम्भर' है। इंद्रीय विजयी होने के कारण आप 'ऋसिकेश' एवं जगत पूज्य होने से 'जगन्नाथ' हैं। हे स्वामी ! आप पापों को हरण करने वाले हैं, पापों से छुटकारा दिलाने वाले हैं साथ ही परमपद-मोक्ष को प्रदान करने वाले स्वामी हैं ॥७॥

इस प्रकार इन अनेक अभिधाओं (नामो) के अतिरिक्त आपके अनेक गुण निष्पन्न नाम हैं, उन सब का विचार अनुभव गम्य है। जो इन अभिधाओं का यथार्थ स्वरूप जानता है उसे यह आनन्दघन सुपार्श्वनाथ भगवान आनन्द का आवतार ही कर देते है–आनन्द रूप ही बना देते हैं ॥८॥

श्री चन्द्रप्रभ जिनस्तवन (८)

(राग–केदारो, गौडी– कुमरी रोवै आक्रन्द करै, मुनै कोइ मुकावै–ए देशी)

चन्द्रप्रभ मुखचन्द सखी मुनै देखण दे, उपसम रस नो कद।सखी०।
सेवै सुरनर इन्द सखी०, गत कलिमल दुख दद ॥सखी०॥१॥

सुहम निगोदे न देखियो सखी०, बादर अतिही विसेस।सखी०।
पुढवी आऊ न लेखियो सखी०, तेऊ वाऊ न लेस ॥सखी०॥२॥

वनसपती अति घण दिहा, सखी०, दीठो नहीं दीदार।सखी०।
वि ती चौरिंदी जल लीहा, सखी०, गति सन्नी पण धार॥सखी०॥३॥

सुर तिरि निरय निवास मां, सखी०, मनुज अनारज साथ।
अपज्जता प्रतिभास मां, सखी०, चतुर न चढियो हाथ॥सखी०॥४॥

इम अनेक थल जाणिये, सखी०, दरसण विन जिनदेव।सखी०।
आगम थी मति आणिये, सखी०, कीजे निरमल सेव ॥सखी०॥५॥

निरमल साधु भगति लही, सखी०, जोग अवचक होय।सखी०।
किरिया अवचक तिम सही, सखी०, फल अवचक जोय ॥सखी०॥६॥

प्रेरक अवसर जिनवरू, सखी०, मोहनीय खय थाय।सखी०।
कामित पूरण सुरतरू, सखी०, 'आनन्दघन' प्रभु पाय ॥सखी०॥७॥

(८) पाठान्तर—राग....मुकावै=राग, केदारो गौडी (अ), कुमारी रोवे आक्रन्द करै, मुनै कोई मुकावै (आ, उ, ऊ)। यह स्तवन 'इ, ई प्रतियों मे इस प्रकार आरंभ किया गया है–'देखण दे रे सखी मुनै देखण दे। चन्द्रप्रभ = चन्द्र प्रभु (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ)। मुनै = मौने (अ,) मोने (आ) । इन्द्र = वृन्द

(इ, ई) गत = गति (ऊ) । दंद = द्वंद (इ, ई) । निगोदे = निगोद (इ, उ, ऊ) आऊ = आई (इ, ई, उ) । वाऊ = वाउ (इ, ई, उ, ऊ) वनसपति = वनस्पति (अ, आ) घण = घणा (कहीं, कहीं) । दिहा = दीहा (अ, आ, उ, ऊ) । नहिं = नही (अ, आ, उ) नहीय = (ऊ) । चौरिंदी = चउरिंदी (इ, इ) । गति = गत (इ, उ) । चढियो = चढीयो (अ) । जाणिये = जाणीये (अ, आ), जाणीइं = (उ) । विण = विणु (अ) । मति = मनि (अ) । आणिये = आणीइं (उ) । भगति = भक्ति (इ, ई) । अवंचक = अवंछक (अ) जोग = योग (इ, ई, उ) । किरिया = किरिय (अ), क्रिया (इ, ई) । जोय = होय (अ, आ, इ, ई) । खय = क्षय (इ, ई, उ) थाय = जाय (अ, आ, इ, ई) ।

शब्दार्थ—उपसम रस = शांत रस । कद = मूल । गत = चला गया । कलिमल = रागद्वेषादि मैल । दंद = द्वंद, उत्पात । सुहम = सूक्ष्म । निगोद= गति विशेष में, साधारण वनस्पतिकाय मे । वादर = दिखाई पड़ने वाले जीव । पुढवी = पृथ्वी काय । आऊ = जल, अप्पकाय । तेऊ = अग्निकाय । वाऊ = हवा के जीव । लेस = किंचित भी । घण = घणा, अधिक । दीहा = दिवस । दीठो = देखा । दीदार = दर्शन । वि = द्वे इंद्रिय जीव । ति = तीन इंद्रिय वाले जीव । चौरिंदी = चार इंद्रिय वाले जीव । लीहा = रेखा । सन्नी = मनवाले जीव । पण = परन्तु । तिरि = तिर्यंच । निरय = नरक । अनारज = अनार्य । अपज्जता = अपर्याप्ता जीव । प्रतिभास = अन्तर मुहूर्त काल की स्थिति । चतुर = पूर्ण ज्ञानी परमात्मा । थल = स्थल, स्थान । मत=अभिप्राय । लही = प्राप्त कर । अवंचक = कपट—कुटिलता रहित । प्रेरक = प्रेरणा देने वाला । अवसर = अनुकूल समय । कामित = इच्छित, मन चाहा । सुरतरु = कल्प वृक्ष ।

अर्थ—कवि या भक्त की सुमति अपनी सखी श्रद्धा से कहती है—हे सखी श्रद्धे ! अब तो मुझे श्री चंद्रप्रभ भगवान के मुख चंद्र को देखने दे । यह उपसम रस का मूल है । यह देवताओं के इन्द्र और मनुष्यों के इन्द्र महाराजाओं द्वारा सेवित है । यह कलुषित मल, आशा निराशा एवं दुख—द्वन्द से रहित है इस मुख-चंद्र को मुझे वारंवार देखने दे ।।१।।

इस मुखचंन्द्र को मैने सूक्ष्म निगोद मे नही देखा, और वादर निगोद में तो खास तौर पर नही देखा। उसी भाति पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायू काय मे भी लेश मात्र नही देखा। (जव मैं वहाँ–इन उक्त स्थानों मे थी)। अव तो इस मनुष्य जन्म मे जहाँ मैंने उत्तम कुल, आदि प्राप्त किया है, मुझे चंद्रप्रभ भगवान को देखने दे—लो लगाने दे। ॥२॥

वनस्पति मे भी दीर्घ काल तक इस मख चन्द्र के दीदार (दर्शन) नही हुए। द्वेन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं सज्ञी पचेन्द्रिय गतियों मे भी दर्शन के विना मै जल रेखा के समान निष्फल हो गई ॥३॥

देवलोक मे, तिर्यंच योनि मे, नर्क निवासों मे यह दिखाई नही पडा और अनार्य मनुष्यो की संगत के कारण दुर्लभ मनुष्य भव मे-जन्म मे-भी यह चतुर हाथ नही आया तो प्रतिभास रूप अपर्याप्त अवस्था मे तो किस प्रकार हाथ आता अर्थात् किस प्रकार इस मुख-चंद्र के दर्शन होते ॥४॥

इस प्रकार अनेक स्थल (स्थान) जिनेश्वर देव चन्द्रप्रभ के दर्शन विना व्यतीत हो गये। अव जिनागम से बुद्धि को निर्मल करके–चित्त शुद्धि करके प्रभु की निष्काम भाव से सेवा-भक्ति करो ॥५॥

कामना (इच्छा) रहित पवित्र साधुओ की भक्ति से अवंचक (कुटिलता रहित) योग की प्राप्ति होती है। इस अवचक योग की क्रियाये (कार्य) भी उसी प्रकार अवंचक–अमोघ–अचूक होती हैं और इसका फल भी निश्चय ही अवंचक होता है। अर्थात् आत्म स्वरूप को प्राप्त सद्गुरु के योग से यह अवंचक त्रिपुटी–निज स्वरूप को पहचानना योग, अवंचकता स्वरूप की साधना, क्रिया अवचकता तथा स्वरूप को प्राप्त करना, फल अवचकता सिद्ध होती ॥६॥

ऐसे अवसर की प्राप्ति श्री जिनेश्वर देव के वचनो की प्रेरणा से मिलतीहै और उसकी अचिन्त्य शक्ति से प्रवल मोहनीय कर्म क्षय हो जाता है। ऐसे चन्द्रप्रभ भगवान जो आनंद के धन हैं उनके चरण कमल इच्छित फल देने वाले कल्प वृक्ष हैं ॥७॥

श्री सुविधि जिन स्तवन (९)

(राग–केदारो–इम धन्नो धणनै परचावै–ए देशी)

सुविधि जिणेसर पाय नमीनै, शुभ करणी इम कीजैरे।
अति घरण उलट अग धरीनै, प्रह ऊठी पूजीजैरे। सु०॥१॥
द्रव्य भाव सुचि भाव धरी नै, हरखि देहरे जइये रे।
दह तिग परण अहिगम सांचवतां, एकमनां धुर थइये रे ॥सु०॥२॥
कुसुम अक्खत वर वास सुगंधो, धूप दीप मन साखी रे।
अँग पूजा परण भेद सुणी इम, गुरु मुख आगम भाखो रे। ।सु०॥३॥
एहनूं फल दुइ भेद सुणीजै, अन्तर नै परम्पर रे।
आणा पालन चित्त प्रसत्ति, मुगति सुगति सुर-मन्दिर रे। सु०॥४॥
फूल अक्खत वर धूप पइवो, गंध निवेज फल जल भरि रे।
अंग अग्र पूजा मिलि अड विधि, भावे भविक शुभ गति वरि रे
। सु०॥५॥

सतर भेद इकवीस प्रकारे, अठोत्तर सत भेदे रे।
भाव पुजा बहु विधि निरधारी, दोहग दुरगति छेदे रे ॥सु०॥६।
तुरिय भेद पडिवत्ती पूजा, उपसम खोरण सयोगी रे।
चउहा पूजा उतराभ्भयणे, भाखी केवल भोगी रे ॥सु०॥७॥
इम पूजा बहु भेद सुणीनै, सुखदायक सुभ करणी रे।
भविक जीव करसे ते लहसे, 'आनन्दघन' पद धरणी रे ॥सु०॥८॥

(९) पाठान्तर—राग....परचावै = ढाल, सुणि वहिनी पिउडो परदेसी (अ) इम धन्नो....परचावै (आ, उ, ऊ)। घरण = घणु (अ, आ) घणो (इ, ई) उलट अंग = अंगे ऊलट (अ), ऊलट अंग (ऊ)। ऊठी=उठी (इ,उ)। पूजीजैरे=

पूज रजीजै (अ), हरखि=हरखै (अ) हरषै(आ, उ, ऊ) हरषि (इ, ई)। अहि-गम = अभिगम (उ)। धुर=धुरि (अ, आ, ई, उ)। थइये=थइइं रे (उ)। अक्खत=अक्षत (आ, इ, ई, उ, ऊ)। सुगंधो = सुगंधी (अ,)। मन = मनि (अ) मुणि (कही कही)। अँग = अंग (अ, आ, ई, उ, ऊ)। पूजा = पूज (अ)। एहनूं = एहनुं (अ, ई) दुइ = दो (इ, उ, ऊ) दोय (ई)। परंपर रे=पारंपर रे (अ)। प्रसत्ती = प्रसन्नी (आ, इ, ई)। सुगति = सुरगति (अ, आ,) सुर मंदिर रे = सुन्दर रे (अ), सुम मन्दिर रे (इ)। अक्खत = अक्षत (आ, इ, उ, ऊ)। पइवो = पईवो (अ, आ, इ, ऊ)। निवेज = नेवज (अ)। नैवेद्य (आ, उ, ऊ) निवेद्य (इ, ई)। भरि रे = भर रे (अ, आ, ऊ)। तरि रे (उ)। मिलि = मिलिनै (अ, उ)। भावे = भावै (अ, आ, ऊ)। तावे (उ), भविक = भुविक (उ) भवि (ऊ)। वरि रे = वर रे (अ, आ, इ, ऊ)। सतर = सत्तर (अ, उ) अठ्ठोत्तर = अठोत्तर (आ ऊ), अष्टोत्तर (इ, ई)। सत = सौ (अ,)। पुजा = पूज (अ), पूजा (आ, उ, ऊ)। तुरिय = तुरय (आ) तुरीय (उ)। उपसम = उवसम (अ)। खीण = क्षीण (इ, ई,) सयोगी रे = सँयोगी रे (इ, ई)। चउहा = चउदह (अ)। पूजा = पूज इम (अ,) पूजा इम (आ, उ, ऊ)। उतराझयणे = उत्तरझयणे (अ, आ, उ, ऊ)। सुभ = शुभ (इ, ई)। करसे = करस्सै (अ, आ, उ, ऊ)। लहसे = लहिस्यै (अ, आ, उ, ऊ)।

शब्दार्थ—उलट = उल्लास, उमग। प्रह = प्रातः काल। सुचि = पवित्र हरखि = प्रसन्नता पूर्वक,। देहरे = मंदिर। दह = दश। तिग = तीन। पण = = पांच। अहिगम = अभिगम। साचवतां = पूर्ण करके। धर = स्थिर। कुसुम = फूल। अक्खत = अक्षत, चांवल। वर = श्रेष्ट। वास = सुवास से। सुंगधो = गधित। दुइ = दो। अनन्तर = अन्तर (फर्क) रहित, तुरत। परंपर = परम्परा से, क्रम से। आणा = आज्ञा। प्रसत्ति = प्रसन्नता। सुगति = अच्छी गति (मनुष्य, देव)। सुर मन्दिर = वैमानिक देवो के मन्दिर (स्थान)। पइवो = दीपक। गंध = केशर आदि। नेवज = नैवेद्य, वादाम आदि मेवे। अड विधि = अष्ट प्रकारी पूजा। भावे = भाव पूर्वक करो। भविक = भव्य जीव, मुक्ति में जाने वाले प्राणी। सतर = सतरह। अठ्ठोतर = एक सौ आठ। दोहग =

दुर्भाग्य । दुरगति = खराब गति (नरक,तिर्यंच) । छेदे रे = नष्ट कर देता है । तुरिय = चौथा । पडिवत्ती=प्रतिपत्ति, आत्म गुण का अनुभव, आत्म स्वरूप प्राप्ति । भाखी = कही है । धरणी = पृथ्वी । आनन्दघन पद धरणी = मोक्ष ।

अर्थ—श्री सुविधिनाथ भगवान के चरणो में नमन करके आगे कही गई विधि से शुभ कार्य करने चाहिये । हृदय मे अत्यन्त उत्साह और हर्ष पूर्वक प्रातः काल उठते ही विनय श्रद्धा पूर्वक भगवान का स्मरण करना चाहिये ॥१॥

द्रव्य और भाव से पवित्र—शुद्ध होकर(द्रव्य शुद्धि—शरीर एवं वस्त्रों से पवित्र होकर और भाव शुद्धि—हृदय को काम, क्रोध, लोभ, वासना रहित करके) हर्षोत्फुल्ल होकर मन्दिर जाना चाहिये । दश त्रिक—(तीन निस्सही, तीन प्रणाम, तीन प्रदिक्षणा, भूमि प्रमार्जन तीन समय, तीन पूजा, तीन अवस्था, तीन अवलंबन, तीन मुद्रा, और तीन प्रणिधान) और पाच अहिगमों का (सचित वस्तु त्याग, अचित वस्तु ग्रहण, उत्तरासन, नत मस्तक एवं अंजलि-करण और एकाग्रमन) पालन करते हुये सर्व प्रथम मानसिक एकाग्रता की ओर ध्यान देना चाहिये ॥२॥

सुगंधित पुष्प, अखंडित चावल, सुन्दर वासचूर्ण, सुगन्धित धूप, और दीपक यह पांच प्रकार की अग पूजा—जिसे गुरु मुख से सुना है और आगम में जिसके संबध मे कहा गया है, मन की साक्षी से अर्थात् चित्त लगाकर करनी चाहिये ॥३॥

इस पूजा का फल दो प्रकार का होता, एक तो अनतंर—अन्तर रहित —तत्काल प्रत्यक्ष में, दूसरा परम्पर—परोक्ष—गत्यन्तर—भवान्तर मे । जिनाज्ञा का पालन और चित की प्रसन्नता, प्रत्यक्ष प्रथम फल है और दूसरा परोक्ष फल मुक्ति है वरना कम से कम उत्तम सामग्री युक्त मनुष्य भव या देवगति प्राप्त करना है ॥४॥

पुष्प, चावल, श्रेष्ठ धूप, दीपक, केशर चंदनादि सुगंधित पदार्थ, नैवेद्य (बादाम आदि) फल, और जल से भरा कलश—इस सामग्री से अंग और अग्र पूजा दोनों मिलाकर आठ प्रकार की होती है। जल, गंध और फूल से होनेवाली अंग पूजा है और धूप दीप, अक्षत, नैवेद्य और फल से की जानेवाली अग्र पूजा है। जो भव्य प्राणी भाव पूर्वक (भक्ति पूर्वक) ये पूजायें करता है वह शुभ गति प्राप्त करता है ॥५॥

सतरह भेदी, इक्कीस प्रकारी और एक सौ आठ भेद वाली अनेक पूजाये हैं तथा भाव पूजा के भी (चैत्यवन्दन, स्तवन, जाप आदि) अनेक भेद निर्धारित किये गये हैं ये सब पूजाये दुख और दुर्गति का छेदन (नाश) करती है ॥६॥

इस प्रकार पूजा के तीन भेद—अंग पूजा, अग्र पूजा और भाव पूजा ऊपर कही जा चुकी है। पूजा का चौथा भेद प्रतिपत्ति पूजा है। प्रतिपत्ति का अर्थ है अंगीकार (स्वीकार) करना जिनाज्ञा का अनुसरण, समर्पण भाव जहाँ ध्यान, ध्यता और ध्येय का लोप हो जाता है ऐसी प्रतिपत्ति यथाख्यात चारित्र, उपशांत मोह, क्षीण मोह एवं सयोगी अवस्था मे होती है जिसका वर्णन (चौथी पूजा का वर्णन) केवल ज्ञान के भोगी भगवान ने उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है ॥७॥

इस प्रकार पूजा के अनेक भेद कहे है जिन्हे श्रवण करके जो भव्य प्राणी इस आनन्द दायक शुभ करणी (कार्य) को करेगा, वह निश्चय ही आनन्दघन पद—धरणी (मोक्ष) को प्राप्त करेगा ॥८॥

श्री शीतल जिन स्तवन (१०)

(राग—धन्याश्री गौड़ी-गुणह विसाला मंगलिकमाला—ए देशी)

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगि मन मोहे रे ।
करुणा कोमलता तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥शी०॥१॥

सर्व जीव हित करणी करुणा, कर्म वीदारण तीक्षण रे।
हानादान रहित परणामी, उदासीनता वीक्षण रे ।।शी०।।२।।
परदुख छेदन इच्छा करुणा, तीक्षण पर दुख रीझे रे।
उदासीनता उभय विलक्षण, एक ठामि किम सीझे रे ।।शी०।।३।।
अभय दान ते मलक्षय करुणा, तीक्षणता गुण भावे रे।
प्रेरण विण कृत उदासीनता इम विरोध मति नावे रे ।।शी०।।४।।
शक्ति व्यक्ती त्रिभुवन प्रभुता, निर्ग्रंथता सयोगे रे।
योगी भोगी वक्ता मौनी, अनुपयोगि उपयोगे रे ।।शी०।।५।।
इत्यादिक बहुभंग, त्रिभंगी, चमत्कार चित देती रे।
अचरज कारी चित्र विचित्रा, 'आनन्दघन' पद लेती रे ।।शी०।।६।।

(१०)पाठान्तर—राग....माला=ढाल, पास जिनंद जुहारिये (अ), गुणह विशाला मंगलिक माल (आ, उ, ऊ) भंगि=भंग (अ,आ) भंगी (उ, ऊ)। जीव= जन्तु (अ,आ,उ, ऊ)। तीक्षण = तीक्ष्यण (अ)। हानादान — हीनादान (अ)। तीक्षण — तीक्ष्यण (अ)। उदासीनता = ओदासनता (अ)। एक — इक (अ)। ठामि = ठामे (अ) ठांम (इ, ऊ) ठाम (उ)। ते मल.....करुणा — मलखय फल करुणा (अ), ते करुणा मलक्षय (उ), तिम लक्षण करुणा (कही कही)। विण — विनु (अ, उ) विन (आ, उ)। कृत = कृति (ई, उ)। मति = मनि (अ)। शक्ती व्यक्ती = शक्ति व्यक्ति (अ, आ, इ, उ)। निर्ग्रंथता = निग्रंथता (अ, आ, ऊ)।संयोगे = संयोगी (अ,आ)। अनुपयोगि=अनुपयोगी (उ) अनुपयोग (ऊ)। उपयोगे — उपयोगी (अ, आ)। चमत्कार = चमतकार (आ, उ,ऊ)। अचरज = अचरिज (अ,) अचिरिज (उ) अचिरज (ऊ)।

शब्दार्थ—ललित=सुन्दर। त्रिभंगी = तीन प्रकार की भंगीमा (झुकाव) वाले। तीक्षणता = तीक्ष्णता, उग्रता, प्रचण्डता। उदासीनता — अलिप्तता। वीदारण = चीरने फाडने मे, काटने मे। हानादान — त्याग और ग्रहण। परिणामी — भाव वाले, विचार वाले। वीक्षण = देखना। रीझे = प्रसन्न होते है।

उभय = दोनों । विलक्षण = विचित्र, अद्भुत, अनूठा । ठामि = स्थान। सीझे रे = सिद्ध होना, सफल होना, रहना । मलक्षय = कर्म मल को नष्ट करना। प्रेरणा = प्रेरणा, कार्य मे लगाना।

अर्थ—दशवे जिनेश्वर देव श्रीशीतलनाथ भगवान की त्रिभंगी वडी लालित्य पूर्ण है जिसकी विविध भगिमा सब के मन को मोहित करनेवाली है भगवान श्रीशीतलनाथ मे करुणा रूपी कोमलता के साथ तीक्षणता भी है और इन दोनो से सर्वथा विलक्षण उदासीनता भी शोभायमान है ॥१॥

सब जीवो पर हित बुद्धि रूप करुणा भगवान शीतलनाथ की कोमलता है। ज्ञानावरणी आदि कर्मो को नष्ट करने मे जो कठोरता (दृढता) है वह इनकी 'तीक्ष्णता' है। आप वस्तु के त्याग व ग्रहण परिणामो से रहित है अर्थात् समपरणामी—मध्यस्थभावी है, यह आपकी अद्भुत उदासीनता है ॥२॥

दूसरो के दुख नष्ट करने की इच्छा आपकी करुणा है। पर दुख—पौद्गलिक दुखो मे प्रसन्नता, यह आपकी 'तीक्षणता' है। अर्थात् परिषह सहन मे प्रसन्नता ही आप की तीक्ष्णता है। कोमलता और तीक्ष्णता इन दोनो से भी विलक्षण (अद्भुत) आपकी 'उदासीनता' है। ये तीनो विरोधी भाव एक ही साथ एक स्थान मे कैसे सिद्ध हो सकते है—कैसे संभव है? परन्तु जो आत्मानन्द मे रमण करते है उनमे ये सब सभव है। (यह व्यग्यार्थ है) ॥३॥ (ऊपर के पद का उत्तर है—)

कर्मरूपी मल से सब जीव त्रस्त है—(भयभीत है), जन्म मरण रोग, शोक आदि से भयभीत है। भगवान के उपदेश से सब अभय बनते हैं यह अभयदान रूप आपकी 'करुणा' है। आत्मिक गुणो मे—भावो मे दृढता यह आपकी 'तीक्ष्णता' है। शारीरिक कष्ट (२२ परिषह) से विचिलित नही होते अपितु इन्हे प्रसन्नता पूर्वक सहन करते हैं, यह परदुख—रीझन रूप तीक्ष्णता है। ये सब करुणामय और कठोरतामय प्रवृति बिना किसी प्रेरणा के स्वाभाविक रूप से होती है यह आपकी 'उदासीनता' है ॥४॥

इस प्रकार विचार करने पर जो विरोधभाव तीसरे पद मे उठाया गया था उसका परिहार हो जाता है।

आगे के पदों मे दो दो भग ही वताये गए है तीसरे भंग की सिद्धि दोनों से हो जाती है।

शक्ति, व्यक्तित्व त्रिभुवन प्रभुता, निग्र'थता, योगी, भोगी, वक्ता मौनी, उपयोग रहितता और उपयोग सहितता भगवान श्रीशीतलनाथ में है, यह वताते है–(१) अनत ज्ञान दर्शन यह इनकी शक्ति है। (२) इन गुणों को (ज्ञान दर्शन को) भगवान श्रीशीतलनाथ ने अपने पुरुषार्थ से प्रकट किया है यह इनका व्यक्तित्व है। (३) अपने ही गुण अपने मे प्रकट हों, इसमे 'न शक्तित्व, न व्यक्तित्व रूप तीसरा भग होने से 'त्रिभंगी' सिद्ध हो जाती है।

(१) तीनो लोको के पूज्य होने से–'त्रिभुवन प्रभुता' (२) गांठ देकर रखने लायक कोई वाह्य सामग्री न होने से तथा न माया–ममतादि अंतरंग सामग्री होने से 'निग्र'थता' सिद्ध होती है। (३) भगवान मे अपने को पुजाने की इच्छा न होने से 'न त्रिभुवन प्रभुता' और इसी प्रकार निग्र'थ के वाह्य चिन्ह न होने से 'न निग्र'थता है। इस प्रकार त्रिभंगी सिद्ध होती है।

(१) चित्त वृत्ति के निरोध से एवं तेरहवे गुणस्थान सयोगी केवली अवस्था मे मन, वचन काया के योग होने से भगवान योगी हैं। (२) आत्म-रमणता रूप सुख भोगने से भगवान भोगी है। (३) मन, वचन, और काया के योग, कर्मक्षय के कारण वाधा उपस्थित नही करते अतः भगवान अयोगी हैं और इंद्रिय जन्य विपयों के त्यागी होने से अभोगी हैं।

(१) द्वादशांगी शास्त्र के कथन से 'वक्ता', (२) पापाश्रव संबंधी वचन न कहने से 'मौनी', (३) अनंत तीर्थंकर देव अनंत काल से जो कहते आये है, वही आपने भी कहा है, उससे न्यूनाधिक नही कहा, यह आपका 'अवक्त-पन' है और धर्म तीर्थ के प्रवर्तन के लिये देशना देना आपका 'अमौनी-पन' है।

(१) अनंत पदार्थ विना उपयोग दिये आपको केवल ज्ञान से प्रत्यक्ष है अतः आप अनुपयोगवन्त है। (२) आपके ज्ञान व दर्शनोपयोग है इसलिये आप उपयोगवत है। (३) योग रूंधन के पश्चात सिद्धावस्था मे ज्ञान दर्शन का उपयोग अनुपयोग करने का कोई हेतु नही रहता अतः आप न उपयोगी, न अनुपयोगी है। इस प्रकार श्री शीतलनाथ भगवान मे त्रिभंगियों के सयोग की सभावना बताई गई है ॥५॥

इन त्रिभंगियो के और भी अनेक भेद कहे जा सकते हैं, क्योंकि भगवान मे अनत गुण है। ये त्रिभगिये चित्त मे चमत्कार उत्पन्न करती है। आश्चर्य उत्पन्न करने वाली है। ये विविध प्रकार की चित्र-विचित्र त्रिभगिये आनन्दघन रूप मोक्ष पद को प्राप्त करती है ॥६॥

श्री श्रेयांस जिन स्तवन (११)

(राग-गौडो-म्हो मतवाले साजना-ए देशी)

श्री श्रेयांस जिन अतरजामी, आतमरामी नामी रे।
अध्यातम मत पूरण पामी, सहज मुगति गति गामी रे ॥श्री श्रे०॥१॥
सयल संसारी इद्रियरामी, मुनिगण आतमरामी रे।
मुख्य पणे जे आतमरामी, ते केवल निक्कामी रे ॥श्री श्रे०॥२॥
निज सरूप जे किरिया साधै, ते अध्यातम लहिये रे।
जे किरिये करि चउ गति साधै, ते न अध्यातम कहिये रे ॥श्री श्रे॥३॥
नाम अध्यातम ठवण अध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडो रे।
भाव अध्यातम निज गुण साधै, तो तेह थी रढ मंडो रे ॥श्री श्रे॥४॥
शब्द अध्यातम अरथ सुणी नै, निरविकल्प आदरज्यो रे।
शब्द अध्यातम भजना जाणी, हांन-ग्रहण मति धरज्यो रे
॥श्री श्रे०॥५॥

श्रध्यातम जे वस्तु विचारी, वीजा जाण लवासी रे।
वस्तु गते जे वस्तु प्रकासै, श्रानन्दघन' मत वासी रे ।।श्री श्रे। ६।।

(११) पाठान्तर—राग....साजना = राग—रामगिरी—ढाल —माभलिरे सामलियासामी (अ,) अन्तरजामी = अन्तरयामी (इ, ई) । मत = मति (ऊ) । गामीरे = पामीरे (श्र) । गण = गुण (अ, श्रा, उ, ऊ,) । निक्कामी = निःकामी (श्र,) निष्कामी (इ, ई) । सरूप = स्वरूप (आ; इ, ई, उ, ऊ) । लहिइरे = लहिइरे (उ) ।चउगति = चौगति (अ) । न अध्यातम = अनध्यातम (श्र) । कहियेरे = कहिइरे (उ) । छंडोरे = छांडोरे (ऊ) । तेहथी = ते ो (अ,) तहसो (आ), तेहसु ँ (इ, ई,) तेहसूं (उ) । रढ = रढि (अ, आ, उ) शब्द = अरथ (अ, आ) । श्ररथ = अर्थ (इ, ई) । निर्विकल्प = निरवि-कलप (अ, आ, ऊ) । श्रादरज्योरे = आदरयो (अ,) । हान = हाणि (अ,) हान (आ, इ, ई,) दान (उ) । मति = मत (अ) । धरज्यो रे = धरयो रे (श्र) । लवासी रे = लिवासीरे (अ, आ, उ, ऊ) । गते = गति (श्र), गतैं (श्रा, इ, ऊ) ।

शब्दार्थ—आतमरामी = आत्मस्वरूप मे रमण करने वाले । नामी = प्रसिद्ध, श्रेष्ट नाम वाले । अध्यातम = आध्यात्मिक, श्रात्मा सम्बन्धी । मत = तत्व । पामी = प्राप्त करके । गामी = जाने वाले । सयल = सकल, सब । इंद्रियरामी = इंद्रिय सुख मे रमण करने वाला । निक्कामी = निष्कामी, कामना रहित । चउगति = चारों गतियें—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव । ठवण = स्थापना । रढ = रटना, प्रीति । निरविकल्प = विकल्प रहित, शंका रहित । भजना = होय अथवा न होय । हान = त्याग । गति = बुद्धि, धारणा (मति ज्ञान का भेद) वीजा = दूसरे । लवासी = लवाड़, लवार, वकवक करने वाले । मत = मान्यता, सिद्धात । वासी=रहने वाले ।

श्रर्थ—श्री श्रेयाँसनाथ भागवान अतरयामी है. आत्म गुणो मे रमण करने वाले सुप्रसिद्ध है । श्रापने श्रात्मतत्व को पूर्णरूप से प्राप्त करके, सहज स्वाभाविक भाव से पंचम गति—मोक्ष गति प्राप्त करली है ।।१।।

सम्पूर्ण संसार के प्राणी तो इंद्रिय सुखों मे लीन रहते है। केवल मुनि गण ही आत्मिक सुख मे रमण करने वाले–लीन रहने वाले है। जो लोग पुद्गलानन्द मे रस न लेकर मात्र आत्मानन्द मे मग्न रहते है केवल वे ही कामना रहित–निस्पृह होते हैं ॥२॥

स्वरूपानुयायी–जो आत्मार्थी मुमुक्षु इस लोक और परलोक के सुखो की कामना त्याग कर आत्मार्थ ही क्रिया करता है वह अध्यात्म को प्राप्त करता है किन्तु जो धन, कीर्ति, पूजा, सत्कार आदि की कामना से इहलोक और परलोक सम्बन्धी क्रिया करते हैं वे चतुर्गति रूप भव–भ्रमण की साधना करते है, उन्हे अध्यात्मी नही कहना चाहिये ॥३॥

गुण विना केवल नाम मात्र अध्यात्म शब्द को, कल्पित स्थापना–अध्यात्म को और दिखावे रूप–आध्यात्म क्रिया रूप–द्रव्य अध्यात्म को छोड़ो और आत्म गुण ज्ञान दर्शन रूप साधना, भाव अध्यात्म है उसी की साधना करो–उसमे पूर्ण रूप से लग जावो--मग्न हो जावो ॥४॥

गुरुमुख से अध्यात्म शब्द का अर्थ सुनकर, विकल्प रहित--संकल्प विकल्प रहित शुद्ध आत्म भाव को ग्रहण करो। मात्र अध्यात्म शब्द–'अहं ब्रह्मासि', 'सोऽहं' आदि मे अध्यात्म है अथवा नही है इसे समझ कर अर्थात् अध्यात्म शब्द मे आध्यात्मिकता नही, वह भाव मे ही है इसे जानकर क्या त्यागने योग्य है, क्या ग्रहण करने योग्य है, इसमे अपनी बुद्धि लगावो ॥५॥

आत्मवस्तु के विचारक ही आध्यात्मी हैं–साधु--संत--मुनि है, शेष दूसरे तो केवल लबासी हैं—बकवास करने वाले भेषधारी है। वस्तु मे रहे हुये गुण व पर्यायो को स्पष्टतया यथार्थ रूप से जो प्रकट करते है वे ही आनन्दघन प्रभु के सप्तनयाश्रित मत के वासी है–रमण करने वाले है।

श्री वासुपूज्य जिन स्तवन (१२)

(राग–गौडी–तुगिया गिर सिखर सोहै ए देशी)

वासपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घणनामी परणामी रे।
निराकार साकार सचेतन, करम करम फल कामी रे ॥वास०॥१॥

निराकार अभेद सग्राहक, भेद ग्राहक साकारो रे।
दर्शन ज्ञान दु भेद चेतना, वस्तु ग्रहण व्यापारो रे ।वास०।।२।
करता परिणामी परिणामो, करम जे जीवै करियै रे।
एक अनेक रूप नयवादे, नियते नर अनुसरियै रे ।।वास०।।३।।
सुख दुख रूप करम फल जाणो, निश्चय एक आनंदो रे।
चेतनता परिणाम न चूकै, चेतन कहे जिन चंदोरे ।।वास०।।४।।
परिणामी चेतन परिणामो, ज्ञान करम फल भावी रे।
ज्ञान करम फल चेतन कहियै लीज्यो तेह मनावी रे ।।वास०५।।
आतमज्ञानी श्रमण कहावै, वीजा तो द्रव्यलिंगी रे।
वस्तु गतै जे वस्तु प्रकासै, 'आनन्दघन' मत संगीरे ।वास०।।६।।

पाठान्तर—राग...मोहै=आदर जीव क्षमा गुण आदर (अ)। वासपूज्य=वासुपूज्य (अ, आ, उ)। वासुपुज्य (इ, ई)। घणनामी=घननामी (आ, इ, ई उ, ऊ)। परणामीरे=परिणामीरे (अ, उ, ऊ)। परनामीरे=(आ, ई)। सचेतन=चेतना (अ, आ)। ग्राहक=ग्राह(इ) ग्रहण (ई)। दर्शन=दरसण (अ)। करता=कर्ता (इ, ई, उ, ऊ)। जीवै=जीवइ (अ), जीव (इ, ई)। करम=कर्म (आ, इ, ई, उ, ऊ) कर्म (उ)। नियेते नर=नियति इतर (अ, आ) नियतइं नर (उ)। अनुसरियरे=अणुसरीयेरे (उ, ऊ)। जाणो=जाणै (अ)। निश्चय=निश्चै (अ), निहचै (आ, ऊ)। एक=इक (अ, इ, ई)। कहे=कहै (अ, आ, उ, ऊ)। लीज्यो=लेज्यो (अ, आ, इ, उ, ऊ)। द्रव्य=द्रव्यत (अ)। 'अ' प्रति मे 'वीजा' के आगे 'तो' नही है। गतै=गति (अ)। मत=मति (ऊ)।

शब्दार्थ—घणनामी=अनेकानेक नाम वाले। परणामी=शुद्धात्म गुण में परिणमन करने वाले। कामी=कामना करने वाले। सग्राहक=सत्य स्वरूप ग्रहण करने वाले। दुभेद=दो भेद (विभाग)। परिणामी=परिणामी भाव वाले। अनुसरिये=अनुसरण करना, मानना। श्रमण=

साधु । वीजा = दूसरे, अन्य । द्रव्यलिंगी = वेशधारी, साधु का केवल भेष धरने वाले ।

अर्थ—श्रीवासुपूज्य भगवान तीनो जगत के स्वामी है और अनेक नाम वाले है। भगवान ने आत्मा को परिणामी, (आत्मगुणो मे परिणमन करने वाली) साकार एव निराकार उपयोग वाली, चैतन्य रूप, कर्म का कर्त्ता और फल का भोक्ता कहा है ॥१॥

अभेद को ग्रहण करने वाले दर्शनोपयोग को निराकारोपयोग—सामान्योपयोग और भेद को ग्रहण करने वाले ज्ञानोपयोग को साकारोपयोग—विशेषोपयोग कहते है । इस प्रकार चेतना के 'दर्शन और ज्ञान' यह दो भेद है । इस चैतन्य व्यापार से ही यह आत्म वस्तु ग्रहण की जाती है—पहचानी जाती है । अथवा इस चैतन्य वस्तु से ही आत्मा वस्तुओ को देखता जानता है ॥२॥

विशेष—अभेद को ग्रहण करने वाले द्रव्य नय की अपेक्षा आत्मा निराकार औरभेद को ग्रहण करने वाले पर्याय नय की अपेक्षा आत्मा साकार है । चेतना के 'ज्ञान और दर्शन' दो भेद है । वस्तु के जानने और देखने का कार्य इन्हीं द्वारा सम्पन्न होता है ।

प्रत्येक द्रव्य सामान्य और विशेषात्मक होता है । चेतन भी द्रव्य है, इसलिए वह भी सामान्य और विशेषात्मक है । उसके दो रूप दर्शन और ज्ञान है । वह दर्शन-ज्ञान को कभी त्यागता नही है । दर्शन उसका सामान्य स्वरूप है तथा ज्ञान उसका विशेष स्वरूप है। सामान्य उपयोग दर्शन है, विशेष उपयोग ज्ञान है ।

जीव कर्त्ता है क्यों कि परिणामों मे परिणमन करता है और कर्म का करता है। नयवाद से इस कर्तृत्व के एक ही नही, अनेक रूप हैं । अर्थात् निश्चय नय से अपने ज्ञान स्वभाव का कर्त्ता है । अशुद्ध निश्चय नय से जिन जिन रागादि भावो मे परिणमन करता है, उनका कर्त्ता है । तथा व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कार्यो का एव शारीरिक नोकर्म का कर्त्ता है और उपचार से घर, नगर आदि का कर्त्ता है । इस प्रकार इसमे कर्त्तापन व

परिणमनशीलता है किन्तु मनुष्य को शुद्ध निश्चय नय के अनुसार अपने ज्ञायक भाव मे परिणमन करना चाहिए ।।३।।

सुख और दु:ख दोनों को कर्म-फल जानो। निश्चय से तो केवल आनंद ही है। केवलियों मे चन्द्रमा के समान तीर्थंकर श्री वासुपूज्य भगवान ने कहा है कि आत्मा किसी भी अवस्था मे अपने चेतन स्वभाव को नही छोडता है। अत: वह चैतन्य है और निश्चय नय से वह आनन्द स्वरूप है ।।४।।

श्री ज्ञानसारजी ने कहा है—

धर्मी अपने धर्म को, तजै न तीनो काल।

आतमा न तजै ज्ञान गुण, जड किरिया की चाल ।।

सब द्रव्य परिणामी है, (एक अवस्था छोड कर दूसरी अवस्था प्राप्त करने को परिणाम कहते है अर्थात् परिवर्तनशीलता को परिणामी कहते है) अपने अपने स्वभाव मे सब परिणमन करते है इसलिए चेतन भी परिणामी है। उसका परिणमन-ज्ञान, कर्म और कर्मफल रूप होता है। इन्हे क्रम से ज्ञान-चेतना, कर्म-चेतना और कर्म फल-चेतना कहना चाहिये। इस प्रकार चेतना के यह तीन परिणमन मानने चाहिये। इन में ज्ञान चेतना शुद्ध चेतना है और कर्म चेतना एव कर्म फल चेतना अशुद्ध चेतना है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भाव मे विचरना—'इसे मैं करता हूँ'—कर्म चेतना है और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य मे यह चिन्तन करना —'मैं भोगता हूँ'—यह कर्म फल चेतना है। ये दोनो अज्ञान चेतना संसार का बीज है और ज्ञान चेतना मुक्ति बीज है। अत: हे भव्य जीवो ! इस प्रकार समझ कर अपने चेतन को मनाकर—समझाकर आत्म स्वरूप प्राप्त करो ।।५।।

आत्म ज्ञानी—भावलिंगी ही श्रमण (साधु) कहे जाते है अन्य तो द्रव्य-लिंगी—भेषधारी (साधु वेश वाले) है। जड और चेतन भाव को जो यथार्थ रूप से प्रकाशित करते है और रागादिभावों को—जड कर्म के सयोग से उत्पन्न जान कर छोड़ते है, वे भेद ज्ञानी चारित्रवान, आनन्दघन मत के सगी—साथी हैं। अर्थात् वे ही घनीभूत आनन्द को प्राप्त करते है ।।६।।

श्री विमल जिन स्तवन (१३)

(राग मल्हार–इडर आंबा आवली रे, इडर दाडिम दाख–ए देसी)

दुख दोहग दूरै टल्या रे सुख सम्पत सूँ भेट ।
धींग धणी माथै कियो रे कुण गजै नरखेट ।।
विमल जिन दीठा लोयणे आज म्हारा सीझा वंछित काज
।।विमल०।।१।।

चरण कमल कमला वसै रे, निरमल थिर पद देख ।
समल अथिर पद परिहरी, पकज पामर पेख ।।विमल०।।२।।
मुझ मन तुझ पद-पकजे रे, लीनो गुण-मकरंद ।
रक गिणे मदर धरा रे, इन्द्र चन्द नागिन्द । वमल०।।३।।
साहब समरथ तूं धणी रे, पाम्यो परम उदार ।
मन विसरामी वाल हो रे आतम चो आधार ।।विमल०।।४।।
दरसण दीठे जिन तणो रे ससय रहे न वेध ।
दिनकर कर भर पसरतां रे, अंधकार प्रतिषेध ।।विमल० ५।।
अमी भरी मूरति रची रे उपमा घटै न कोय ।
शांत सुधारस झलीती रे निरखत तृपति न होय ।।विमल० ।६।।
एक अरज सेवक तणीं रे, अवधारो जिनदेव ।
क्रिपा करी मुझ दीजिये रे, 'आनन्दघन' पद सेव ।।विमल०।।७।।

(१३) पाठान्तर—'राग मल्हार' शब्द आ, उ, ऊ, प्रतियो मे नहीं है । 'अ' प्रति मे यह स्तवन 'विमल जिनेसर' आदि से आरम्भ होता है । सूं = सुं (अ, आ), स्यु (उ) । कियो रे = किया रे (अ, आ; उ, ऊ) । नरखेट = जनखेट (अ) । जिन = जिनेसर आज दीठा लोयणा (अ) । म्हारा = मारा (आ, ऊ) । सीझा = सीधा (आ, उ) । 'म्हारा सीझा वछित काज' 'अ' प्रति

में नही है । थिर पद = पद थिर (अ) । देग्व = देखि (अ, उ) । परिहरी रे = परिहरे रे (अ) । पंकज = पद कज (अ) । पेख = पेखि (उ) । मुझ....पंकजे रे = मन मधुकर तुझ पद कजेरे (अ) । लीनो = लीणो (अ, उ, ऊ)। गिण = गुणे (अ) । मन्दर = मन्दिर (अ, ऊ) । साहब = साहिव (अ, आ, उ, उ) । पाम्यो = पांम्यौ (आ, ऊ) । आतमचो = आतमचौ (अ, आ, उ, ऊ) । दीठे = दीठो (उ) । ससय = संसो (अ) पसरता रे = विलमतो रे (अ) प्रसरता रे (इ)। अमी=अमिय(इ,ई,)अमीय (उ,ऊ) । उपमा घटै न=उपमा न घटै (अ,आ, ऊ) । उपम न घटै (उ) । शात=दृष्टि (अ), शान्ति (उ,ऊ) । निरखत=निरषित (ऊ) । तृपति = त्रिपत (अ), तृप्ति (इ, ई) । क्रिपा = कृपा (अ, आ, इ, ई, उ) ।

शब्दार्थ—*दोहग = दुर्भाग्य । टल्या रे = टल गये, दूर हो गये । धीग =* प्रवल, वलवान । गंजे = जीते । नरखेट = नराधम, शिकारी, मोहादि कषायें । सीझा = सिद्ध हो गये, सफल हो गये । दीठा = देखा । लोयणे = लोचनो से, नेत्रो से । पामर = पापी । लीनो = लवलीन है । रक = तुच्छ । मन्दर = मन्दराचल, मेरू पर्वत । नागिन्द = नागेन्द्र, भुवनवासी देवताओं का इन्द्र । विसरामी = विश्रामस्थल । वालहो = प्रिय । चो = का । वेध = कसक, चुभन । पसरतां = फैलते ही । प्रतिखेद = रुकावट । अमी=अमृत । झीलती=भरी हुई । अवधारो = ग्रहण करो ।

अर्थ—कवि कहते है—श्री विमलनाथ जिनेश्वर के दर्शन से चतुर्गति सम्वन्धी दुख और अज्ञान सम्वन्धी दुर्भाग्य दूर चले गय है । मानसिक शांति रूप सुख और रत्नत्रय रूप सम्पत्ति प्राप्त हो गई है । ऐसे सामर्थ्यवान स्वामी जव मेरे मस्तक पर हैं तव मोहादि अधम शिकारियो (शत्रुओ) मे से ऐसा कौन है जो मुझे जीत सकता है । आज ज्ञान-चक्षुओं से मैंने श्री विमलनाथ भगवान के दर्शन कर लिये है । अब मेरे सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध हो गये है ॥१॥

"क्रोधादि सब जीव के, लगे पीठ ठग लार ।
जक न दियत, मुनिराज लग, खेटक लच्छन धार ॥ (श्री ज्ञानसारजी)

कमल को तुच्छ, मैला, क्षण स्थायी और घृणित कीचड सहित देखकर लक्ष्मी ने उस स्थान को छोड दिया है और आपके चरण रूपी कमल को निर्मल और स्थिर स्थान वाला देखकर वहाँ अपना निवास कर लिया है ॥१॥

मेरा मन रूप भ्रमर (भोरा) आपके चरण कमल के गुण रूपी पराग मे लवलीन है–मग्न है। यह मेरा मन इन्द्र, चन्द्र और नागेन्द्र आदि के महान पदो एवं मेरू पर्वत की स्वर्ण भूमियो को इन चरणों की तुलना मे तुच्छ गिनता है–समझता है ॥३॥

हे नाथ ! आप सब प्रकार से सामर्थ्यवान है। आप जैसा महान उदार स्वामी मुझे प्राप्त हुआ है। आप मनके विश्राम रूप हैं, जहा मेरा मन विश्राम लेता है–ठहरता है। आप मुझे अत्यन्त प्रिय है। मेरी आत्मा के आधार और निज स्वरूप प्राप्ति के साधन, ध्येय हैं। मैंने आज ज्ञान-चक्षुओं से आप के दर्शन कर लिये हैं ॥४॥

हे जिनेश्वर देव ! जिस प्रकार सूर्य की किरणों के फैलने से अन्धकार (अन्धेरा) रुक जाता है–लुप्त हो जाता है, उसही प्रकार आपके दर्शनों से सभय अश्रद्धा, अज्ञानादि का मूलोच्छेद हो जाता है ॥५॥

आपकी मूर्ति अमृत रस से भरी हुई है जिस पर कोई उपमा घटित ही नही होती अर्थात् यह अनुपमेय है। इसमे प्रशम रस रूप सुधा रस झकोले खा रहा है–उमड़ रहा है जिसे निरख निरख कर–देख देख कर–कभी तृप्ति नही होती है–मन नही भरता है ॥६॥

हे जिनेश्वर देव ! इस सेवक की एक ही विनय है उसे आप स्वीकार कीजिये। हे प्रभो ! कृपा पूर्वक मुझे आनन्दघन रूप परम पद की सेवा दीजिये ॥७॥

श्री अनन्त जिन स्तवन (१४)

(राग–रामगिरी कडखो)

धार तरवार नी सोहिली, दोहिली चउदमा जिन तणी चरण सेवा।

धार परि नाचता देखि बाजीगरा, सेवना-धार परि रहै न देवा
॥धार०॥१॥

एक कहै सेविये विविध किरिया करी फल अनेकांत लोचन न देखं।
फल अनेकान्त किरिया करी बापड़ा, रडवडं चार गति मांहि लेखं
॥धार०॥२॥

गच्छ ना भेद बहु नयण निहालतां, तत्वनी बात करतां न लाजं।
उदर भरणादि निज काज करतां थकां, मोह नडिया कलिकाल राजै
॥धार०॥३॥

वचन निरपेख व्यवहार झूठो कह्यो वचन सापेख व्यवहार सांचो।
वचन निरपेख व्यवहार ससार फल, सांभली आदरी कांइ राचो
॥धार०॥४॥

देव गुरु धर्म नी शुद्धि कहो किम रहै किम रहै शुद्ध श्रद्धान आणो।
शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया करी, छारि परि लीपणो तेह जाणो
॥धार०॥५॥

पाप नहि कोइ उत्सूत्र भाषण जिस्यो धर्म नहि कोइ जग सूत्र सरीखो।
सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करै, तेहनो शुद्ध चारित्र परिखो
॥धार०॥६॥

एह उपदेशनू सार सक्षेप थी, जे नरा चित्तमां नित्य ध्यावै।
ते नरा दिव्य बहुकाल सुख अनुभवा, नियत 'आनन्दघन' राज पावै
॥धार०॥७॥

पाठान्तर—राग... कडखो = राग कडखानी (अ, आ,) कडखो (उ) राग–कडपो (ऊ)। मोहिली दोहिली = लोहली दोहली (इ, उ)। चउदमा = चौदमा (अ, आ,) चोदमा (उ) चवदमा (ऊ)। परि = पर (आ, इ, उ, ऊ)। देखि = देख (आ, इ, उ, ऊ)। सेविये = सेविइं (अ)। कहै = कहि (उ, ऊ)। रडवडं = रडपड्या (अ), रढवडे (उ)। चार = च्यार (अ, आ, उ,

ऊ)। नयण = नयणि (उ)। निरपेख = निरपेखि (अ), निरपेक्ष (आ, इ, ई, उ, ऊ)। सापेख = सापेखि (अ), सापेक्ष (आ, इ, ई, उ, ऊ)। आदरी = आचरी (अ)। किम = किमि (उ)। श्रद्धान = सरधान (अ)। आणो = टाणौ (अ, आ)। करी = सही (अ, आ,) कही (उ)। लीपणो = लीपणा (अ, आ)। तेह = सरिस (अ, आ)। जिस्यो = जिसौ (अ, आ, उ, ऊ)। जग = जगि (अ)। अनुसार = अनुसारि (उ)। परिखो = परपौ (ऊ)। सक्षेपथी = सखेपथी (अ)। चित्तमा = चित्त मे (अ, आ, उ, ऊ)। नित्य = नित्त (अ, आ, ऊ)। भावै = भावै (।)। ते नरा.....अनुभवी = ते नरा काल वहु दिव्य सुख भोगवी (अ), ते नरा काल वहु दिव्य सुख अनुभवी (आ)।

शब्दार्थ—सोहिली = सरल। दोहिली = कठिन। देवा = देवता भी। लोचन = आंख। वापडा = वेचारा, अज्ञानी। रडवडे = भटकते है। गच्छना = समुदाय के। निहालता = देखते हुये। उदर = पेट। मोह नडिया = मोह मे फँसे हुये, मोहाधीन, मोह से वधे हुये। निरपेख = निरपेक्ष, अपेक्षा रहित, तटस्थ। सापेख = सापेक्ष, अपेक्षा सहित, जिन वचन अनुसार। साँभली = सुनकर। राचो = प्रसन्न होना। आदरी = ग्रहण करके। काइ = क्या, कुछ भी। श्रद्धान = विश्वास, प्रतीति। आणो = प्राप्त करो, लावो। छारि = धूलपर। लीपणो = लीपना। उत्सूत्र = सूत्र के विपरीत, जिनवचन के विरुद्ध। सूत्र = आगम शास्त्र। सरिखो = समान। परिखो=परीक्षा करो।

अर्थ—तरवार की धार पर चलना सुगम है किन्तु चौदहवे तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ भगवान की चरण-सेवा—उनके चारित्रानुसार प्रवर्तन—अत्यन्त दुष्कर है। तलवार की धार पर नाचते हुये अनेक वाजीगर (खेल दिखाने वाले नट) देखे जाते हैं किन्तु भगवान की चारित्र-सेवा रूप धार पर देवता भी नही टिक (ठहर) सकते है क्यो कि उन्हे चारित्र नही प्राप्त हो सकता है ॥१॥

कई एक क्रियावादी ऐसा कहते है कि विविध क्रियाओ (त्याग वैराग्य) द्वारा प्रभु की सेवा भक्ति करनी चाहिये। उन विविध क्रियाओ का फल भी विविध, अनेकान्त रूप (नाना प्रकार का पुण्य बंध) होता है जिसे नेत्र (आंखे)

नही देखती। जिन क्रियाओं के करने से एकात फल (मोक्ष) नहीं होता, विविध फल होते है—भांति भाति के फल मिलते हैं–ऐसी अनेकान्त फल दायक क्रियाओ से तो वे बेचारे चार गति रूप संसार मे भटकते है जिनका लेखा—हिसाब नही बताया जा सकता।

(त्याग-वैराग्य मोक्ष मार्ग के साधन है। वे आत्म ज्ञान सहित किये जाये तो मोक्ष रूप एकांत फल दाता है।)

जो क्रियाये एक लक्षी होती है उनका फल भी एकात (मोक्ष) ही होता है। अनेकान्त नही होता। ऐसी एक लक्ष्मी–स्वरूपानुयायी क्रिया ही चारगति का फेरा—भव भ्रमण टालती है। जैसे लक्ष्य साध कर छोडा हुआ बाण ठीक निशाने पर पहुंचता है और बिना लक्ष्य का बाण ऊंचा नीचा होकर निशाने पर नही पहुंचता ॥२॥

गच्छो के अनेक भेद दृष्टिगोचर होते है। यह गच्छ-ममत्वी तत्व की बात करते हुये तनिक भी नहीं सकुचाते है। पेटपालन आदि अपना कार्य करते हुये, ये लोग दुषम–कलिकाल के राज्य मे महामोह मे फँसे हुयें हैं–जकड़े हुयं है। अर्थात् महामोह के आधीन होकर ये लोग कलिकाल मे राजा बने वैठे है ॥३॥

निरपेक्ष वचन–अपेक्षा रहित वचन–एकान्तवाद असत्य है। सापेक्ष वचन–अपेक्षा सहित वचन--अनेकान्त वाद--सापेक्षवाद ही सत्य है। इस सापेक्ष वाद का प्रयोग ही सद् व्यवहार है। निरपेक्ष वचन--एकान्तिक वचन का प्रयोग संसार बढाता है। यह सुन कर उसे मान देकर--स्वीकार कर--उसमे क्यो रचपचते हो–अनुरक्त होते हो–निमग्न होते हो ॥४॥

आगम साक्षी बिना निरपेक्ष बचनो से (एकान्त वाद से) देव, गुरु और धर्म की शुद्धि की परीक्षा कैसे हो सकती है? परीक्षा बिना दृढ़ श्रद्धान कैसे रह सकती है? और शुद्ध श्रद्धा के बिना तो की हुयी सम्पूर्ण क्रियाये ऐसे व्यर्थ हो जाती है जैसे छार–धूल के आगन पर किया हुआ लेपन। (लीपणा--गोबर की पतली तह पोतना) ॥५॥

उत्सूत्र-भाषण--आगम विरुद्ध भाषण--के समान संसार मे कोई पाप नही है और आगम के अनुसार कथन और आचरण के समान कोई धर्म नही है। सूत्र—आगम के अनुसार जो भव्य प्राणी क्रियाये करता है उसके चरित्र (चारित्र) को ही शुद्ध समझना चाहिये ॥६॥

(जो मनुष्य आगमो के अर्थ का मृषा उपदेश देता है उसकी शुद्धि प्रायश्चित से भी नही हो सकती है क्योकि जो व्यक्ति अपने व्रतो को भंग करता है उससे तो वह केवल अपनी ही आत्मा को मलीन करता है किन्तु जो सिद्धात ग्रन्थो का मृषा उपदेश देता है वह दूसरी अनेक आत्माओ को मलीन करता है संसार-समुद्र मे डुबोता है अतः इसके समान कोई दूसरा पाप नही है।)

यह जिनेश्वर देव के कथित उपदेश का सार-संक्षेप है। जो व्यक्ति इस आर्ष धर्म का चित्त मे प्रति समय विचार रखेगा, वह बहुत समय तक दिव्य (अनोखे) सुख का अनुभव करके निश्चय ही अनन्त आनन्द का राज्य-मोक्ष प्राप्त करेगा ॥७॥

श्री धर्म जिन स्तवन (१५)

(राग—गोडी सारंग, रसियानी देशी)

धरम जिनेसर गाऊ रग सू भगम पडज्यो हो प्रीत।
बीजो मन मन्दिर आणू नहीं, ए अम्ह कुलवट रीत ॥धरम०॥१॥
धरम धरम करतो जग सहु फिरै, धरम न जाणै हो मर्म।
धरम जिनेसर चरण ग्रह्यां पछी,कोइ न बंधै हो कर्म ॥धरम०॥२॥
प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करै, देखे परम निधान।
हृदय नयन निहाले जग धणी, महिमा मेरु समान ॥धरम०॥३॥
दोडत दोडत दोडत दोडियो, जेती मननी हो दौड।
प्रेम प्रतीति विचारो ढूकडी, गुरुगम लीज्यो हो जोड ॥धरम०॥४॥

एक पखो किम प्रीत वरै पडं, उभय मिल्यां हो संधि ।
हूँ रागी हूँ मोहे फंदियो, तू नीरागी निरबंधि ॥धरम०॥५॥

परम निधान प्रगट मुख आगलै, जगत उलंघी हो जाय ।
ज्योति बिना जोवो जगदीसनी, अंधो अंध पुलाय ॥६।

निरमल गुणमणि रोहण भूधरा, मुनिजन मानस हंस ।
धन ते नगरी धन बेला घडी, मात पिता कुलवंस ॥धरम०॥७॥

मन मधुकर वर कर जोडी कहै, पद-कज निकट निवास ।
घन नामी 'आनन्दघन' सांभलो, ए सेवक अरदास ॥धरम०॥८॥

(१५) पाठान्तर—राग....देसी = राग गौडी देसी रसियानी (अ), देसी रसियानी–गौडी सारंग (आ,) राग–गौडी (इ), देशी रसियानी (उ,ऊ)। जिनेसर = जिणेसर (आ, उ, ऊ)। गाऊं = गावो (अ)। प्रीत = प्रीति (अ, आ, उ)। अम्ह = अम (आ, इ, ई, उ, ऊ)। रीत = रीति (अ, उ)। जग सहु फिरै = फासुं फिरै (अ), कमूं (आ), कामू (उ, ऊ)। मर्म = मर्म्म (अ)। जिनेसर = जिणसर (अ, आ, उ, ऊ)। बंधै = बांधै (आ, इ, ई, उ, ऊ)। कर्म = कर्म्म (अ)। नयन = नयण (इ, उ), नं [illegible] (ऊ)। मननी हो = मननी रे (इ, ई, उ, ऊ)। दोड = दोडि (उ) प्रतीति = प्रतीत (अ, आ उ, ऊ)। लीज्यो हो = लेज्यो हो (अ, आ, ऊ)। लीज्यो रे (इ, उ,)। जोड = जोडि (उ)। प्रीत = प्रीति (अ, आ, इ, ई), प्रीते (उ)। हो संधि = होवै सधि (अ), हुवै संधि (आ, ऊ), हो संध (इ, ई,) हुइ संधि (उ)। हूं = हुं (अ)। फंदियो = फंदीयो (उ)। तू = तुं (अ)। निधान = निधि (अ)। प्रगट = परगट (अ)। मुख = गुण (अ, आ,)। आगलै = आगरी (अ)। उलंघी हो = उलंडी हो (अ)। उलघियो (इ, ई) उलंघि रे हो (उ)। जोवो = जुओ (इ, ई,) जोऊं (उ)। अन्धो अन्ध पुलाय = आधे आंधो पेलाय (अ, आ,) अंधो अंधो पलाय (ई)। धन वेला = दिन वेला (अ, आ,)। पदकज = पद पंजक (अ) घाननामी = [illegible]नामी (अ)।

शब्दार्थ—रंग सूं = आनन्द से, आत्म भाव में लीन होकर। भंग = बाधा। म = नही। बीजो = दूसरा। आणू = लाऊं। अम्ह = हमारी। कुलवट = कुल (वश) परम्परा। सहु = सब। मर्म = रहस्य। पछी = पीछे। निधान = खजाना। निहालै = देखे। धणी = स्वामी। महिमा = यश, कीर्ति ढूकडी = समीप, नजदीक। एक पखी = इक तरफा, एकाँगी। उभय = दोनो। संधि = मिलाप। निरवंध = बंध रहित। आगलै = आगे, सम्मुख। पुलाय = दौडना। रोहण = रोहणाचल। भूधरा = पर्वत। वर = श्रेष्ठ। कज = कंज कमल। साँभलो = सुनो। अरदास = प्रार्थना।

अर्थ—भक्ति-रंग मे रंग कर मै श्रीधर्मनाथ जिनेश्वर का स्तवन-गायन करता हूँ। हे प्रभो! आपके प्रति मेरी भक्ति है, वह कभी टूटे नही, यही मेरी प्रार्थना है। मेरे मन-मन्दिर मे आपके अतिरिक्त किसी दूसरे को कोई स्थान नही है। यही हमारा कुलधर्म है—यही आत्मस्वभाव है ॥१॥

यह संसार धर्म, धर्म-मुनि धर्म, यति धर्म, सन्यास धर्म, गृहस्थ धर्म आदि धर्म करो धर्म करो कहता हुआ फिर रहा है किन्तु यह धर्म के मर्म को-रहस्य को-जरा भी नही जानता।

'वस्तु स्वभावो धर्मः'। स्वभाव परिणति ही धर्म है। अत. निज स्वरूप रूप धर्म मे परिणमन करने वाले धर्मनाथ जिनेश्वर के चरण पकडने के पश्चात-चारित्र का अनुसरण करने के वाद-कोई भी नवीन पाप कर्म नहीं वाँधता है ॥२॥

सद्गुरु कृपा करके प्रवचन रूपी अंचन जिस किसी के हृदय रूपी नेत्रों में आंजते हैं-लगाते हैं-तो वह स्व स्वरूप रूपी परम निधान (खजाना) को देख लेता है। हृदय नेत्रों से उस जगतपति को वह देखता है जिसकी महिमा (यश) मेरू के समान है ॥३॥

मन अपनी दौड-कल्पना शक्ति के अनुसार चारों ओर जितना दौड सकता था-दौडा किन्तु कस्तूरीमृग के समान उसका चारो ओर दौडना व्यर्थ

ही गया। सद्‌गुरु द्वारा दी गई समझ को—ज्ञान को—अपनी बुद्धि के साथ जोड कर विचारने से प्रेम प्रतीति—भक्ति और श्रद्धा का आधार आत्मदर्शन तो मन के अत्यन्त निकट ही है ॥४॥

एक तरफा प्रीति कैसे निभ सकती है। दोनो समान धर्मियों के मेल से ही संधि—मिलाप—होता है। मैं राग--द्वेष और मोह के फंदे में फंसा हुआ हूँ और आप राग रहित और बंध रहित हैं। मेरी प्रीति तो तब ही निभ सकेगी जब मैं भी आप जैसा वीतरागी बन जाऊं ॥५॥

परम निधान (खजाना) मोक्ष सुख के सामने ही रखा हुआ है किन्तु उसे संसारी लोग (अंधे की भांति) लांघ कर चले जाते है। जगदीश की ज्ञान ज्योति के बिना एक अन्धे के पीछे दूसरा अन्धा--भेडिया धसान के समान दौड लगा रहा है और परम निधान आत्मतत्व को जो अपने पास है नही देखता—नही पहचानता ॥६॥

खंध चढाये तनयकूं हेरत फिर्‌यो विदेस।
सुरत भई तब सांभर्‌यो, पूत खंध परवेस ॥ (ज्ञानसारजी)

हे प्रभो ! आप निर्मल ज्ञानादि गुण रत्नों के रोहणाचल पर्वत है और मुनिगणों के मनरूपी मानसरोवर के हंस है। वह नगरी धन्य है जो आपके चरणों से पवित्र हुई है। वह वेला—समय धन्य है जिसमें आपका जन्म हुआ। आपके माता पिता और कुल (गोत्र) तथा वंश (कुटुम्ब) ये सब धन्य है ॥७॥

भक्ति-भाव में विभोर मेरा श्रेष्ठ मन रूपी भ्रमर हाथ जोड़ कर प्रार्थी है कि हे भगवान ! आपके चरण कमलों के निकट ही सेवक को निवास स्थान दीजिये। हे अनेक नाम वाले आनन्दघन प्रभो ! इस सेवक की यह प्रार्थना सुनिये और स्वीकार करिये ॥८॥

श्री शन्ति जिन स्तवन (१६)

(राग—मल्हार—-चतुर चौमासो पडकमी-ए देशी)।

शान्ति जिन इक मुझ विनिती, सुणो त्रिभुवन राय रे।

शांति सरूप किम जाणिये, कहो मन किम परखाय रे ।।शाति०।।१।।
धन्य तू जेहने एहवो, हुओ प्रश्न अवकास रे ।
धीरज मन धरि सांभली, कहूँ शान्ति प्रतिभास रे ।।शांति०।।२।।
भाव अविशुद्ध सविशुद्ध जे,कह्या जिनवर देव रे ।
ते तिम अवितत्थ सद्दहे,प्रथम ए शान्ति-पद सेव रे ।।शां०।।३।।
आगम धर गुरु समकिती, क्रिया सम्बर सार रे ।
सम्प्रदायि अवचक सदा, सुचि अनुभवाधार रे ।।शां०।।४।।
शुद्ध आलम्बन आदरै, तजि अवर जंजाल रे ।
तामसी वृत्ति सवि परिहरि, भजे सात्विकी साल रे ।।शां०।।५।।
फल विसवाद जेहमां नहीं, शब्द ते अर्थ सम्बन्धि रे ।
सकल नयवाद व्यापि रह्यो, ते शिव साधन संधि रे ।।शान्ति०।।६।।
विधि प्रतिषेध करि आतमा, पदारथ अविरोध रे ।
ग्रहण विधि महाजन परिग्रह्यु , इस्यो आगमे बोध रे ।।शान्ति०।।७।।
दुष्ट जन सगति परिहरी, भजे सुगुरु संतान रे ।
जोग सामर्थ चित भावजै, धरै मुगति निदान रे ।।शान्ति०।।८।।
मान अपमान चित सम गिणै, सम गिणै कनक पाखान रे ।
बदक निन्दकहु सम गिणै, इस्यो होय तू जान रे ।।शान्ति०।।९।।
सर्व जग जन्तु नै सम गिणै, गिणै त्रिण मणि भाव रे ।
मुगति संसार बुधि सम धरै, मुणै भव-जलनिधि नाव रे ।।शां०।।१०।।
आपणो आतम भावजे, एक चेतना धार रे ।
अवर सवि साथ संजोगथी, ए निज परिकर सार रे ।।शा०।।११।।
प्रभु मुख थी इम सांभली, कहै आतमराम रे ।
थाहरै दरसणे निस्तर्यो, मुझ सीधा सवि काम रे ।।शां०।।१२।।

अहो अहो हूँ मुझनै कहूँ, नमो मुझ नमो मुझ रे ।
अमित फल दान दातारनी, जेथी भेंट थई तुझ रे ॥शां०॥१३॥

शान्ति सरूप सखेपथी, कह्यो निज पर रूप रे ।
आगम मांहि विस्तर घणो, कह्यो शान्ति निज भूप रे ॥शां०॥१४॥

शान्ति सरूप इम भाव से, धरि शुद्ध प्रणिधान रे ।
'आनन्दघन' पद पामसे, ते लहसे बहुमान रे ॥शां०॥१५॥

पाठान्तर—राग....पडकमि–ए देसी = ढाल--दान उलट धरि दीजियै (अ, आ), चतुर चौमासो पडकमी-ए देसी (उ, ऊ,) । त्रिभुवन राय रे = त्रिभुवनराव रे (अ, आ) । सरूप = स्वरूप (इ, ई, उ) । जाणिये = जाणियइ (अ), जाणिइं (उ) । मन परखाय रे = निज परभाव रे (अ, आ), मन परथाइरे (उ) । जेहने एहवो=एहवो जेहनै (अ), आतम जेहने (उ, ऊ) । हुवो=एहवो (अ, उ,ऊ)। धरि=धरी (अ,उ,ऊ)। कहूँ=कहु (अ,उ)। अदिसुद्ध सविसुद्ध=अविरुद्ध अविशुद्ध (अ), अविशुद्ध, विशुद्ध (इ); अशुद्धछै, शुद्धछै (उ) । जिनवर=श्री जिनवर (आ, ई) । तिम = तेम (इ, ई) । अवितत्य सद्दहे = अवितथ सद्दहे (उ), अवितथ सरद है (ऊ) । प्रथम ए = प्रथम (अ) । गुरु = गुर (ऊ) । क्रिया = किरिया (अ) । सम्प्रदायि = सम्प्रदायी (अ), सम्प्रदाई (आ, उ, ऊ) अवंचक= अवछक (अ) । सुचि = सुची (अ) । अनुभवा = अनुभव (अ) । तजि = तजे (अ) । मूकतो (उ), तजी (ऊ)। परिहरी = परिहरै (अ, ऊ), परिहरइ (उ) । भजे = भजइ (उ) । सालरे = सार रे (उ) । जेहमां = जेम्हां (इ, ई) । शब्द ते अर्थ सम्बन्धि रे = शबद अरथ सम्बन्ध रे (अ), शब्द ते अर्थ सम्बन्ध रे (उ, ऊ) । व्यापि = व्यापी (अ, आ, उ, ऊ) । ते....संधि रे = सिद्ध साधन संध रे (अ) । विधि....आतमा = विध-प्रतिषेध क्रिया तथा (अ) । विधि = विध (अ) । महाजन = महाजने (अ, आ, ऊ) । परिग्रह्यू = परिग्रह्यो (अ, आ, उ, ऊ) , आगमे बोधरे = आगम अवबोध रे (अ), आगम बोधरे (इ) । परिहरी = परिहरे (अ), परिहरइ (उ) । भजै = भजइ (उ) । जोग = योग (इ, ई, उ) । सामर्थ = सामर्थ्य (उ) । अपमान = उपमान (इ, ई) । समगिणै = गिणै (अ,

आ), समगरो (उ)। वंदक निन्दकहु = निन्दक वंदक (अ), वदक निन्दक (आ, उ, ऊ) इस्यो = इसौ (अ, आ, ऊ) । त्रिरा = तृण (अ, आ,)। वुधि समधरे = वेउ सम गिरणै (इ, ई), वहु (उ), विहु (ऊ)। 'मुरण' अ प्रतियों में नहीं है। आतम = आतमा (उ)। सवि = सहु (अ)। साथ = सर्व (उ)। परिकर सार रे = परिसार रे (अ)। थाहरे = ताहरे (अ, आ, उ ऊ)। दरसरो = दरसरा (इ, उ)। मुझ = मुज्भ (ऊ)। सवि = सहु (अ), सवे (ऊ)। अहो अहो हूँ = अहो हुं हुं (अ, आ)। मुझ = मुज्भ (ऊ)। दातारनी = दातारथी (अ), दातारनि (इ, ई)। अैथी = अेहवै (अ), अेहनी (आ, उ, ऊ)। सरूप = स्वरूप (उ, ऊ)। संखेप = सक्षेप (आ, इ, ऊ)। कह्यो = कह्यूं (इ, ई)। भावसे = भावस्यै (अ, आ, उ, ऊ)। शुद्ध = सुभ (अ)। पाम से = पामस्यै (अ, आ, उ, ऊ)। ते लहसे = नहो सत (अ, आ), लहस्ये ते (उ), ते लहिस्यै (ऊ)।

शब्दार्थ—त्रिभुवनराय = तीनों लोको के स्वामी। परखाय = परीक्षा करना, पहिचानना। अवकाश = अवसर मिला, विचार आया। सांभली = सुनी। प्रतिभास = स्वरूप। अविसुद्ध = असुद्ध, हीन। सविशुद्ध = शुद्ध, उत्तम। अवितत्थ = यथार्थ। सद्दहे = श्रद्धान करे, माने। सम्प्रदायि = सम्प्रदाय के रक्षक वीतराग देव की मर्यादाओ के रखने वाले। अवंचक = निष्कपट। सुचि = पवित्र, अनुभवाधार = अनुभव (ज्ञान) के आधार। अवर = अन्य, दूसरे। तामसी = तमो गुण वाली, कषायों वाली। सवि = सव। परिहरी = छोड़कर। सात्त्विकी = सात्विक गुण वाली, समता, दया, क्षमादि गुण वाली। साल = सार, निष्कर्ष, उत्तमोत्तम। विसंवाद = संशय। प्रतिषेद = निषेद। अविरोध = विरोध रहित। पाखान = पाषाण, पत्थर। वदक = वंदना करने वाला। निन्दक = निंदा (बुराई) करने वाला। त्रिण = तृण, घास। परिकर = परिवार। थाहरे – तेरे। अमित = अनंत। प्रणिधान = एकाग्रता, समाधि।

अर्थ—हे शान्तिनाथ प्रभो! हे त्रिभुवन के राजेश्वर! मेरी एक विनय युक्त प्रार्थना सुनिये। मैं आपके परम शान्त स्वरूप को कैसे जान सकता हूँ, कैसे पहचान सकता हूँ। ये सव कृपा कर वताइये—कहिये ॥१॥

यह जिज्ञासु भावनात्मक प्रश्न है, आगे के पद्य मे इसका उत्तर है। लगता है कि स्वय श्री शातिनाथ भगवान ही उत्तर देते हैं या यो कहे कि ज्ञान चेतना कहती है—

हे आत्मा ! तू धन्य है जिसे ऐसे प्रश्न करने का अवसर प्राप्त हुआ है, जिज्ञासा हुई है। मन मे धैर्य धारण करके सुन। शातिस्वरूप जैसा प्रतिपित हुआ है, ठीक वैसा ही यहां कहा जाता है ॥२॥

श्री जिनेश्वर देव ने आगम मे जिन जिन भावों को विशेप शुद्ध और जिन भावो को अशुद्ध (निकृष्ट) कहे हैं, उन्हे ठीक उस ही रूप मे यथार्थ जान और उन पर पूर्ण श्रद्धा करना ही शांति-पद प्राप्ती की प्रथम सेवा है अर्थात् सोपान है। शाति-पद प्राप्ती के लिए सर्व प्रथम दृढ श्रद्धा (विश्वास) की आवश्यकता है ॥३॥

इस पद मे श्रद्धा अर्थात् सम्यक्त्व का महत्व एव लक्षण बताया गया है।

(अनन्तकाल तक जीव स्वच्छन्द चले तो भी अपने आप ज्ञान प्रान्त नही कर सकता, किन्तु ज्ञानी की आज्ञा का आराधक अन्तर्मूहूर्त में ही केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है, इसलिए क्षीणमोह तक ज्ञानी की आज्ञा का अवलवन हितकारी है। श्री राजचन्द्र)

आगमों के परमार्थ को धारण करने वाले अर्थात जिनेश्वर के कहे हुये आचारांगादि शास्त्रो के ज्ञाता, सवर क्रिया करने वाले, मोक्षमार्ग सम्प्रदाय के अनुयायी और वीतराग देव श्री शांतिनाथ भगवान की परम्परा के रक्षक, सदा अवंचक (आश्रव क्रिया न करने वाले, निष्कपट और निर्दंभ रहने वाले और दूसरों को न ठगने वाले) पवित्र, आत्मानुभव के आधार रूप सद्गुरु की सेवा शांति-स्वरूप प्राप्त करने का उत्कृष्ट मार्ग है ॥४॥

सम्पूर्ण सासारिक जंजालो को त्याग कर जो शुद्ध आत्म स्वरूप का अवलम्बन करते है और सव तामसी वृतियों (कपायादि राग-द्वेष भावो) का

त्याग कर, जो मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि सात्विक वृत्तियो को ग्रहण करते है, वे ही शांतिस्वरूप को प्राप्त करने वाले सद्‌गुरु है ॥५॥

गुरु उपदेश के सम्बन्ध में कथन है—

फल का सदेह व अनिश्चितता जिसमे नही है अर्थात् जो निश्चय रूप से मुक्तिदायक है, जिन के शब्द (उपदेश) भ्राति रहित यथार्थ अर्थ के सूचक है, जिसमे पारमार्थिक रूप से सफल नयवाद की पूर्ण रूप से व्यवस्था है–सब दृष्टिकोणों का समन्वय है। ऐसा गुरुउपदेश शिवमार्ग—मोक्ष मार्ग का साधन भूत एवं संधिरूप है–हेतुरूप है–मिलाने वाला है ॥६॥

आगे के सातवे पद्य मे शाति स्वरूप का साक्षात्कार के प्रकार का निर्दशन है।

आत्म पदार्थ के द्वारा ही विधि और निपेध की व्यवस्था और निर्णय होता है। जिन क्रियाओ का आत्म भाव से विरोध नही है, वह 'विधिमार्ग' है। वह उपादेय (ग्रहण) करने योग्य है। आत्म भाव से जिन कार्यो एवं क्रियाओं का विरोध हो व निषिद्ध है–करने योग्य नही है। इस ग्रहण और त्याग विधि को महापुरुषो ने अपनाया है, ऐसा आगम से बोध होता है ॥७॥

क्रोधादि कषायें, राग-द्वेष और अशुभ योग आत्म भाव के विरुद्ध है अतः ये त्याज्य हैं और तप सयमादि विधिमार्ग है, यह ग्रहण करने योग्य है। ऐसा करते रहने से शांतिस्वरूप प्राप्त करने मे कोई बाधा उपस्थित नही होती है, ऐसा आगमों (शास्त्रो) से बोध होता है।

ज्या ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समझ तू तेह।
त्या त्या ते ते आदरे, आत्मार्थी जन ऐह॥ (श्रीरायचन्द्र)

दुष्ट मनुष्यों के साथ को त्याग कर जो आरम्भ परिग्रह त्यागी, निस्पृही अल्पकषायी, स्व पर समय के ज्ञाता गुरुसंतान की–शिष्य परम्परा की सेवा करता है वह योग शक्ति से–इच्छा योग, शास्त्र योग तथा सामर्थ्य योग से चित्त के भावो को स्वरूपानुयायी करके अंत मे मुक्ति प्राप्त करता है।

अथवा मन, वचन और काया के योगो को आत्म शक्ति से वश मे करके हृदय मे इस परम पवित्र आत्म तत्व को ध्याता है वह निश्चय से मुक्ति प्राप्त करता है। अर्थात् जो मन, वचन और काया के योगों को इतना सक्षिप्त करता है, ऐसा सम्यक् योग साधता है जिससे चित्तवृत्ति इधर उधर न जाकर आत्मा में ही लीन रहती है वह अवश्य मुक्ति लाभ करता है ॥८॥

मान (प्रतिष्ठा) अपमान को चित्त में समान समझ, कनक (स्वर्ण) और पत्थर की भी समान ही गणना कर, वन्दना करने वाले और निन्दा करने वाले को भी समान ही जान उस मे भेद मत कर। हे प्रार्थी आनन्दघन! जव तू ऐसा हो जावेगा तव तू शांति-स्वरूप वन जावेगा ॥६॥

जगत के सव प्राणियों को आत्मवत समझ, मणिरत्नादि को तृणवत जान, मुक्ति और संसार को भी समान जान अर्थात् दोनों मे से किसी की इच्छा न कर। ऐसी विचार धारा भव-समुद्र से पार लगाने के लिए नाव के समान है, ऐसी दृढ श्रद्धान रख ॥१०॥

जो कोऊ निन्दा करै, करै प्रसन्शा कोय।
असमी सम विसमै लखै, समी गणै सम होय ॥
समी खुसी, नहि वे खुसी, असमी दोनों जोय।
यातै सम वृत्ति सधै, कर्म वंध लघु होय ॥
दुख को सुख कर लेत है, जो समदृष्टी साध।
असमी कूं सुख दुख असम समी सदा निरवाध ॥ (श्रीज्ञानसार)

अपना आत्म भाव (आत्मा का स्वभाव) एक चेतना के आधार से ज्ञान दर्शन रूप ज्ञायक भाव ही है। यही सार रूप अपना (आत्मा का) परिवार है, अन्य सव साथ तो (स्त्री पुत्र धन दौलत आदि) संयोगजन्य हैं "अस्थाई हैं अतः हे आत्मन ! तू समस्त परभाव प्रपंच को छोड़ कर आत्म भाव में ही रमण कर ॥११॥

प्रभु के मुख से ऐसा वोवप्रद उपदेश सुनकर आत्मा--चेतन व भक्त-कवि कहता है— हे नाथ ! आपके दर्शन से मेरा उद्धार हो गया और मेरे सब कार्य सिद्ध हो गये ॥१२॥

(वह अव आतम विभोर हो कर कहता है) मेरा अहो भाग्य है ! धन्य है मेरा भाग्य ! मुझको (आतमा को) नमस्कार हो, वंदन हो ! हे नाथ ! अनन्त फल देने वाले महादानेश्वर से जिसकी भेट हो गई, वह धन्य है ॥१३॥

विशेष—जव परमातम स्वरूप, प्रगट--अनुभव रूप प्रत्यक्ष—हो जाता है, तव ऐसे ही उद्‌गार निकलने हैं—"जो मैं हूँ, वह ही परमात्मा है, जो परमात्मा है सो मै हूँ। मैं ही मेरा उपास्य हूँ।" भक्तराज देवचन्द्र जी ने भी कहा है—"जिनवर पूजारे ते निज पूजना रे"।

पंच पूज्ज थी पूज्य ए, सर्व ध्येय ये ध्येय ।
ध्याता ध्यानरू ध्येय ए, निश्चै अभेद ए श्रेय ॥९॥

अनुभव करताँ एहनो, थाए, परम प्रमोद ।
एक स्वरूप अभ्यास सुं, शिव--सुख छै तसु गोद ॥१०॥श्रीदेवचन्द्रजी ।

राम रसिक अरु राम रस, कहन सुनन को दोय ।
जव समाधि परगट भई, तव दुविधा नही कोय ॥ श्रीवनारसीदासजी ।

शान्ति--स्वरूप--प्राप्ति के मार्ग का यह सक्षिप्त वर्णन है। इसमें निज स्वरूप और पर स्वरूप को जानने, समझने के लिये वर्णन किया गया है। इसका आगम ग्रन्थों में अत्यन्त विस्तार है जिसे श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर भगवान ने कहा है। (सव तीर्थंकर भगवान के आगम उस ही आतम धर्म का उपदेश करते है, इसलिए उनके आगम एक ही है) ॥१४॥

शान्तिनाथ भगवान के स्वरूप को जो इस प्रकार भक्ति पूर्वक निष्काम भाव से शुद्ध चित्त से एकाग्रता पूर्वक ध्यावेगे वे अतिशय आनन्द दायक परम पद को प्राप्त करेंगे और संसार मे वहुत सम्मान पावेगे--सम्मानित होगे ॥१५॥

श्री कुन्थु जिन स्तवन (१७)

(राग–रामकली – अँबर देहु मुरारी हमारो –ए देशी)

कुन्थु जिन-मनड़ूं किम ही न वाजै हो।
जिम जिम जतन करीनै राखूं, तिम तिम अलगू भाजै हो
॥कुन्थु०॥१॥

रजनी वासर वसती ऊजड, गयण पयाले जाय।
सांप खायनै मुखड़ू थोथू, ए उखाणो न्याय ॥कुन्थु०॥२॥

मुगति तणा अभिलाषी तपिया, ज्ञान नै ध्यान अभ्यासै।
बयरीड़ू कांइ एहवूं चिन्ते, नाखै अवले पासै ॥कुन्थु॥३॥

आगम आगमधर नै हाथै, नावै किण विध आंकू।
किहां कणे जो हट करि हटकूं, तो व्याल तणी पर वांकू ॥कुन्थु ।४॥

जो ठग कहूँ तो ठगतो न देखूं, साहूकार पिण नांही।
सर्व मांहिनै सहुथी अलगू, ए अचरज मन मांही ॥कुन्थु॥५॥

जे जे कहुं ते कान न धारै, आप मतै रहै कालो।
सुर नर पंडितजन समझावै, समझै न म्हारो सालो ॥कुन्थु॥६॥

मैं जाण्यो ए लिंग नपुंसक, सकल मरद नै ठेलै।
बीजी वातै समरथ छै नर, एहने कोई न झेलै ॥कुन्थु०॥७॥

मन साध्यूं तिण सघलूं साध्यूं, एह वात नहीं खोटी।
इम कहै साध्यूं ते नवि मानूं, एक ही वात छै मोटी ॥कुन्थु०॥८॥

मनडो दुराराध्य ते वसि आण्यूं, आगम थी मति आणूं।
"आनन्दघन" प्रभु म्हारो आणो, तो सांचू करि जाणूं ॥कुन्थु०॥९॥

(१७) **पाठान्तर**—राग....हमारो = राग—सोरठ, मन्दोदरी वारवार यूं आखै (अ)। कुन्थु.....वाजै हो = होकुन्थु जिन मनड्डुं किण ही छाजै (अ)। वाजै हो = वाभइ (उ)। जतन = जतने (अ)। करीनै = कर कर (अ)। राखूं = राखुं (अ, इ), राखो (उ)। अलगू = अलिगुं (अ)। भाजै हो = भाजइ जी (उ)। पयाले = पयालो (अ), पयालै (आ, उ)। जाय = जायै (आ, ऊ), जाये (उ)। मुखड्डु = मुहडो (अ)। थोथू = थोथो (अ), थोथू (उ)। ए = एह (ऊ)। ऊखाणो = ऊखणो (उ), अखाणूं (ऊ)। न्याय = न्यायै (आ)। ज्ञान = ग्यान (अ)। वयरीड्डु = वैरीडो (अ, आ), वयरीड्डु (इ, ई), वयरीडो (उ)। एहवूं = एहवो (अ)। चिन्ते = चिन्तवै (अ, आ)। अवले = अलवे (आ, ऊ)। आगमधर = आगमधरि (अ)। नावै = जावै (अ) किहा कणे = किण ही (अ), किहां रे किणि (आ, ऊ)। हठ करि = हठ करीनै (उ, ऊ)। पर = परि (अ, आ, उ)। कहूँ = कहु (इ, ई)। देखूं = देखुं (इ, उ)। पिण = पण (अ, आ, उ)। ए = एह (अ, आ)। अचरज = अचरिज (अ), अचिरिज (उ) अचिरज ए (ऊ)। कहूँ ते = कहुतो (आ, ऊ)। कान = काने (इ, उ)। धारै = धारइ (उ)। कालो = काल्हो (अ)। समभावै = समुझावै (उ)। समझै = समझइ (उ)। म्हारो = माहरो (उ)। मारो (ऊ)। मै = मै ए (अ) मइ (उ)। सकल = सयल (अ)। छै = छइ (उ)। झेनै = पैले (अ)। साध्यूं = साध्यो (अ,आ)। तिण = तेणे (अ,आ), तिणे (इ,उ,ऊ), सघलूं = सघलो। (अ, आ) सगलूं (ऊ)। एह वात = ए कहावति (अ)। इम कहै = अमकै (अ), इमकहि (ऊ)। एक ही वात = एकहावति (अ), ए कहिवत (आ, ऊ,) एकहिवति (इ), एक हि वात (ई); ए कहवति (उ)। मनडो = मनड्डु (इ, ई, उ), मनड्डुं (ऊ)। दुराराध्य = दुरासद (अ). दुरादाध्य (आ), दुराराध (इ)। वसि = वश (इ, ई)। आण्यूं = आन्यौ (अ,) आण्यौ (आ,) आप्पू (ई)। मति = मन (अ)। आणूं = आण्यू (अ), आणु (उ)। म्हारो = माहरो (अ, आ, उ, ऊ)। सांचूं = सांचो (अ, आ,) साचु (उ)। जाणूं = जाणो (अ), जाणुं (उ)।

शब्दार्थ—मनड्डु = मन। किमही = किसी प्रकार से। न वाजै = वाज

नही आता, मानता नही है। जतन = यत्न, उपाय। अलगू = अलग, दूर। रजनी = रात। वासर = दिन। वसती = जहाँ मनुष्य रहते हो। ऊजड़ = जंगल; जहाँ कोई न रहता हो। गयण = गगन, आकाश। पयाले = पाताल। थोथू = खाली, अतृप्त। ऊखाणो = कहावत, उपाख्यान। वयरीड़ = वैरी, शत्रु। नाखै = पटकता है। अवले = उलटे, उन्मार्ग। पासै = पास में, रास्ते में। आकूं = अंकुश लगाऊं, वश मे करूं। किहाँ कणे = किसी स्थान पर कभी। हटकूं = रोकूं, मना करूं। व्याल = सर्प। वाकू = वक्र, बाँका, टेढा। पिण = परन्तु। सालो = दुर्बुद्धि पत्नी का का भाई। सकल = सब। मरद = पुरुप। ठेलै = दूर हटाता है। बीजी=दूसरी। समरथ=बलवान। झेलै = पकडे। दुराराध्य = दुःसाध्य, कठिनाई से आराधन (वश मे) करने योग्य। मति = बुद्धि।

अर्थ—हे कुन्थुनाथ जिनेश्वर! मेरा यह मन बाज नहीं आता है—मानता नहीं है। अथवा मेरा यह मन रूपी वाद्यन्त्र मेरी वाणी के साथ क्यों नही बजता है? अर्थात् स्तवना करते समय यह वाणी के स्वर मे स्वर न मिलाकर इधर उधर क्यों भटकता है? जैसे जैसे पूर्ण यत्न करके वाणी के साथ तन्मय करने का प्रयास करता हूं वैसे वैसे ही यह दूर क्यों भागता-दौडता है ॥१॥

यह मेरा मन रात-दिन बस्ती, (नगर-ग्राम) उजाड़, (जंगल) एवं आकास पाताल मे निर्बाध गति से जाता रहता है फिर भी तृप्त नही होता है अर्थात् भूखा ही रहता है। जैसे सर्प किसी को खाता है—डसता है तो उसका (सर्प का) मुख रीता (खाली) ही रहताहै—उसके मुख मे कुछ नही जाता है। इस कहावत के अनुसार मन चारों दिशाओ में भटकने पर भी कोरा ही—खाली ही रहता है। विपय रस तो इन्द्रियां लेती है ॥२॥

मुक्ति के अभिलापी महान तपस्वियो एवं ज्ञान-ध्यान के अभ्यासियों को भी यह वैरी कुछ ऐसा चिन्तन करा कर, उलटे रास्ते लगा देता है—फंसा देता है।

नोट—'नाखे अवले पासे' के स्थान पर कही कही यह पाठ है—"नाखै अलवे पासै" जिसका अर्थ हैं—यह महज ही उन्हे (ज्ञानी-ध्यानी तपस्वियो को) मोह पास मे फँसा देता है ॥३॥

आगमधरो के (शास्त्रज्ञो के) हाथ मे आगम रूपी अंकुश रहता है फिर भी यह मदोन्मत हाथी किसी भी प्रकार से उनके अंकुस से वश मे नही आता। कभी किसी स्थान से वल पूर्वक दूर किया जाता है तो यह (मन) सर्प के समान और भी अधिक वक्र (टेडा) हो जाता है। वशीभूत नही होता है ॥४॥

जो इसे, त्याग रूपी धर्म को ठगने वाला ठग कहता हूँ तो इसे ठगी करते हुये नही देखता हू क्यो कि भोगोपभोग रूपी ठगी तो इन्द्रियां करती दिखाई देती है। और इसे (मनको) साहूकार भी नही कह सकता हूँ क्योकि इसके योग विना इन्द्रिया प्रवृत्ति नही करती। अहा ! अहा ! यह मन की कैसी विचित्रता है ? अरे ! यह सब के (इन्द्रियो के) साथ रहकर भी सब से अलग है ॥५॥

परमार्थ की जो जो भी वाते कहता हूँ उस तरफ तो यह कान ही नही देना है—वे वाते तो सुनता ही नही है और अपने मते ही कलुषित रहता है। देव, मनुष्य और पंडित ज्ञानी लोगो के समझाने पर भी यह कुमति स्त्री का भाई समझता नही है ॥६॥

(संस्कृत मे मन शब्द नपुंसक लिंग है) अरे ! मैंने तो इसे नपुंसक लिंग ही समझ रखा था किन्तु यह तो वड़े वड़े शक्तिशाली (सामर्थ्यवान) पुरुषो को भी दूर ठेल देता है। दूसरी वातो मे मनुष्य भले ही समर्थ हो परन्तु इसके तेज को कोई भी सहन नही कर सकता है ॥७॥

(मनुष्य सिंह को वश मे कर सकता है, समुद्र पार कर सकता है, अग्नी पर भी चल सकता है और हवा मे भी उड सकता है पर मन को वश मे करना कठिन है)।

जिसने मन को साध लिया है–वशमें कर लिया है, उसने सब कुछ सिद्ध कर लिया है। इस बात में तनिक भी खोट नहीं है–यह बात जरा भी गलत नही है। किन्तु इस पर विजय प्राप्त करने का कोई यो ही दम्भ करे और कहे कि मैंने मन को अपने वश मे कर लिया है तो मैं उसके इस दावे को नही मान सकता हूँ क्योंकि यह एक ही बात (मनोविजय) बहुत बड़ी है–बहुत ही महत्वपूर्ण और कठिन है ॥८॥

हे नाथ ! ऐसे कठिनता से आराधने योग्य–कठिनाई से वश मे आने वाले मन को आपने वशीभूत कर लिया है–जीत लिया है। यह बात मैंने आगमो से जान ली है। हे अनन्त–आनन्द के धनी प्रभो ! यदि मेरे मन को आप वश मे लादोगे तो मै यह बात सचमुच ही प्रत्यक्ष जान लूंगा। अर्थात् जिसे शब्द प्रमाण से जाना है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण से जान लूंगा।

इस स्तवन मे ऐसा लगता है श्री आनन्दघनजी केवल मन की प्रबलता एवं दुराराध्यता ही दिखला कर रह गये है, उसे जीतने को कोई मार्ग नही दिखाया। परन्तु सुक्ष्म दृष्टि से विचारने पर इसका रहस्य खुल जाता है। श्री आनन्दघनजी केवल समस्याओं मे उलझ कर ही नही रहजाते बल्कि वह तो उसका समाधान अन्त मे करके ही रहते है। इस पद मे रहस्यमय ढग से समाधान दिया है कि चाहे शास्त्र पढो, योग साधन करो, तपस्या करो, ध्यान का अभ्यास करो, यह मन तब तक वश मे नही आता जब तक प्रभु–भक्ति का दीपक प्रज्वलित न हो। मन को वश मे करने वाले समर्थ महापुरुप का आश्रय लो कुंथुनाथ तीर्थंकर वैसे ही मन विजेता है अतः अपनी स्थिति निवेदन कर मन की दुर्जेयता की बात करते हुए अन्त मे मनोविजय की बात को सत्य–प्रत्यक्ष कर दिखाने–मुझे भी वैसा मनोविजयी बनादो कहा गया है।

श्री अर जिन स्तवन (१८)

(राग–परजियो मारू, ऋषभनो वन्श रयणयरू, ए देशी)

धरम परम अरनाथनो, किम जाण भगवन्त रे।

स्व पर समय समझाविये, महिमावत महन्त रे ॥धरम०॥१॥
शुद्धातम अनुभव सदा, स्व समय यह विलास रे ।
परबडि छाँहडि जे पडै, ते पर समय निवास रे ॥धरम०॥२॥
तारा नखत ग्रह चदनी, ज्योति दिनेश मझार रे ।
दरसण ज्ञान चरण थकी, सकति निजातम धार रे ॥धरम०॥३॥
भारी पीलो चीकणो, कनक अनेक तरंग रे ।
परजाय दृष्टि न दीजिये, एकज कनक अभग रे ॥धरम०॥४॥
दरसण ज्ञान चरण थकी, अलख सरूप अनेक रे ।
निर विकलप रस पीजिये सुद्ध निरजन एक रे ॥धरम०॥५॥
परमारथ पथ जे कहै, ते रजे इक तन्त रे ।
व्यवहारे लखि जे रहै, तेना भेद अनन्त रे ॥धरम०॥६॥
व्यवहारे लख दोहिलो, कांइ न आवै हाथ रे ।
शुद्ध नय थापन सेवतां, नदि रहै दुविधा साथ रे ॥धरम०॥७॥
एक पखि लखि प्रीतनी. तुम साथे जगनाथ रे ।
क्रिरपा करीनै राखज्यो, चरण तले गहि हाथ रे ॥धरम०॥८॥
चक्री धरम तीरथ तणा, तीरथ फल तत सार रे ।
तीरथ सेवे ते लहै, "आनन्दघन" निरधार रे ॥९॥

(१८) पाठान्तर—राग....रयणयरू = ढाल–मन मधुकर मोही रह्यो–एहनी (अ)। जाणू = जाणु (उ)। परवडि = परपिंड (अ, आ), परवडे (उ, ऊ)। छाँहडि = छाही (अ, आ), छांहडी (उ, ऊ)। जै = जिहाँ (अ, आ, उ,) जिहँ (ऊ)। तारा = तार (अ)। नखत = नक्षत्र (आ, उ, ऊ,) नक्षत (इ, ई) [illegible] = गृह (आ, उ,) थकी = तणी (अ, आ, उ)। सकति = (अ [illegible] शक्ति (इ, ई)। सकती .... धार रे = आतम [illegible] पीयलो (अ)। परजाय = [illegible]

निश्चयनयवादी है–वे तो केवल आत्मतत्त्व से संतुष्ट होते हैं–प्रसन्न होते हैं। और जो व्यवहार की ओर लक्ष रहते हैं अर्थात् व्यवहारनयवादी है उन्हें इस के (आत्मा के) अनन्त भेद (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अजर अमर, अव्याबाध आदि) दृष्टि गोचर होतेहैं ॥६॥

व्यवहार नय से लक्ष्य तक पहुंचना–परमार्थ प्राप्त करना–सच्चिदानन्द रूप तत्व तक पहुंचना दुर्लभ है – कठिन है। व्यवहार नयवादी अन्तरंग को नही जानता यह बाह्य दृष्टि है इसलिए परमार्थरूप कुछ भी हाथ नही आता है। किन्तु शुद्ध नय–निश्चयनय–को हृदय मे स्थापित कर के जो आचरण करता है उसे किसी प्रकार की दुविधा का सयोग नहीं होता है ॥७॥

हे जगत के स्वामी अरनाथ भगवान ! आपके प्रति मेरी प्रीति एक पक्षीय है कारण कि मैं आप जैसा नही हूं। क्योकि आप तो वीतरागी हैं और मैं साधक दशा मे हूं। इस एक पक्षीय प्रीति को देखकर अर्थात् मैं साधक दशा से गिरूं नही अतः कृपा पूर्वक मेरा हाथ पकड कर मुझे अपने चरणों के आधीन ही रखना ॥८॥

'निरागी था रे रागनूं जोडवूं, लहिये भवनो पारोजी (श्रीदेवचन्द्रजी)

हे भगवान! चतुर्विध संघ रूप धर्म तीर्थ के आप चक्रवर्त्ती सम्राट हैं। आपही इस धर्मतीर्थ के फल रूप, तत्त्व रूप सार पदार्थ हैं–ध्येय हैं। जो प्राणी आपके धर्मतीर्थ की सेवा करता है–आराधना करता है, वह निश्चय ही आनन्दघन पद (मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥९॥

श्री मल्लि जिन स्तवन (१९)

(राग-काफी)

सेवक किम अवगणिपेहो ,मल्लि जिन, ए अब सोभा सारी।
अवर जेने आदर अति दिये, तेने मूल निवारी हो ॥मल्लि॥१॥

ग्यान सरूप अनादि तुमारू, ने लीधो तुम ताणी।
जूओ अज्ञान दशा रीसाणी, जातां काण न आणी हो ॥म०॥२॥
निद्रा सुपन जागरूजागरता तुरिये अवस्था आवी।
निद्रा सुपन दसा रिसाणी, जाणि न नाथ मनावी हो ॥म०॥३॥
समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवार सूं गाढी।
मिथ्यामति अपराधण जाणी, घर थी बाहिर काढी हो ॥म०॥४॥
हास अरति रति सोक दुगछा भय पामर करसाली।
नोकषाय-गज श्रेणी चढतां, श्वान तणी गत भाली हो ॥म०॥५॥
राग द्वेष अविरतनो परणति, ए चरण मोहना जोधा।
वीतराग परणति परणमतां ऊठी नाठा बोधा हो ॥म०॥६॥
वेदोदय कामा परणामा, काम्यक रसहू त्यागी।
निक्कामी करुणारस सागर, अनन्त चतुष्क पद पागी हो ॥म०॥७॥
दान विघनवारी सहु जनने, अभयदान पद दाता।
लाभ विघन जग विघन निवारक, परम लाभ रस माता हो ॥म०॥८॥
वीर्य विघन पंडित वीर्य हणि, पूरण पदवी जोगी।
भोगोपभोग दुय विघन निवारी, पूरण भोग सुभोगी हो ॥म०॥९॥
ए अठार दूषण वरजित तनु, मुनिजन वृन्दे गाया।
अविरति रूपक दोष निरूपण, निरदूषव मन भाया हो ॥म०॥१०॥
इण विध परखी मन विसरामी, जिनवर गुण जे गावै।
दीनबन्धुनी महर नजर थी, "आनन्दघन" पद पावै हो ॥म०॥११॥

(१९) पाठान्तर— राग-काफी—राग मारू (अ, आ), राग काफी—सेवक किम अवगुणीइहो (उ)। 'सेवक किम अवगणियै हो' यह वाक्य अ,

और उ, प्रति में नहीं है। ए अब सोभा सारी = अचंभा भारी हो (अ), अचंभो भारी (आ)। ए = एह (उ)। अवर....दिये = अवर सहु जेहनै आदर दै (अ,) अवर जेहने आदर अति दिये (आ, इ, ऊ), अरि जेह नइ आदर अति दिइं (उ)। तेने = तेहनु' (अ), तेहनं' (आ,) तेहने (इ, उ, ऊ)। ग्यान सरूप = ज्ञान सरूप (अ, आ,) ज्ञान स्वरूप (इ, ई; उ)। तुमारुं = तुंमहारो (अ), तुमारो (उ)। लीधो = लीधूं (आ, इ, ई, उ)। तुम = तुमे (अ, आ, ऊ,) तुम्हे (उ)। ज़ओ = जुओ (इ, ई,) जोऊं (उ, ऊ)। अज्ञान = अजाण (अ)। रीसाणी = रीसावी (अ, आ, उ, ऊ,)। काण = कारिण (अ, उ)। निद्र.... जागरता = जागर उजागरता धरता (अ, आ,) निद्रा सुपन जागर उजागरता (उ, ऊ)। तुरिय = तुरी (अ,) तुरीय (उ)। जाणि न = ताणी (अ,) जाणी न (आ, उ, ऊ)। साथे—अ प्रति मे यह शब्द नही है, साथि (उ)। सू = सौ (अ,) स्यु (उ)। अपराधण = अपराधणि (अ, उ)। वाहिर = वाहरि (उ)। हास = हास्य (अ, इ, ई, उ, ऊ)। अरति रति = रति अरति (उ)। सोक = सोग (अ, आ), शोक इ, ई, उ)। करसाली = धूलसाली (अ), धुरसाली (उ)।

नोट—अ प्रति मे पांचवां पद तो छठा पद है और छठा पद पांचवां पद है।

गजश्रेणी = श्रेणी गज (अ,आ, ऊ)। श्रेणी गत (उ)। गत = गति (आ, इ, उ, ऊ)।अविरतनी = अवरति (अ,) अविरतिनी (आ, ऊ), अविरतिना (उ)। परणति = परिणति (आ, इ, ई,) परणित (ऊ)। जोधा = योधा (आ, इ, ई)। परणति = परिणति (आ, इ, ई), परणित (ऊ)। परणमतां = परिणमतां (आ, इ, उ, ऊ,)। वोधा = अवोधा (उ)। वेदोदय = वेदउदय (अ, उ)। परणामा = परनामा (अ, उ,) परिणामा (आ, ऊ)। काम्यक....त्यागी = काम्य परम सहु त्पागी (अ,) काम्य करम सहु त्यागी (आ, उ, ऊ)। निक्कामी = निकामी (अ,) निष्कामी (इ, ई)। निःकामी (उ)। चतुष्क = चतुस्क (ऊ)। विघनवारी सहु = विघनवारी (अ)। जग = जगि (उ)। वीर्य = वीरज (अ)। वीर्य = विरज (अ,) विरजे (उ)। हणि = हणै (अ,) हणी (आ, उ, ऊ)। जोगी = योगी (इ, ई, उ) दुय = दोइ (अ), दुइ (आ), दोय (उ, ऊ)। पूरण = परम (अ, उ)। भोग सुभोगी = भोग रस भोगी (अ)। ए = एह (अ,)।

अठार = अढार (अ, आ, इ, उ, ऊ)। गाया = गायो (अ, आ)। अविरति-रूपक = अवर निरूपक (अ, आ)। भाया = भोयो (अ, आ,) नाया (उ)। इण = इणि (उ)। विध = विधि (आ, इ, ई, उ, ऊ)। महर = महिर (अ, उ, ऊ,) मिहर (आ)।

शब्दार्थ—अवगणिये = उपेक्षा करते हो, अनादर करते हो। अवर = अन्य, दूसरे। निवारी = दूर करना। ताणी = खेचकर। जुओ = देखो। रिसाणी = क्रोधित होकर, कुपित होकर। काण = कानि, मर्यादा। तुरिय = चौथी। गाढी = मजबूत। काढी = निकाल दी। दुगंछा = ग्लानि, घृणा। पामर = नीच। करसाली = तीन दाँतो वाली दन्ताली, पुरुष, स्त्री नपु सक वेद, कृषक। श्वान = कुत्ता। झाली = पकडी। भाया = अच्छे लगते हो। परखी= परख कर, परीक्षा कर।

अर्थ—हे मल्लिनाथ जिनेश्वर! समवशरण रूप बाह्य शोभा और केवल ज्ञान रूप अभ्यन्तर शोभा प्राप्त करके सेवक (भक्त) की आप अव-गणना—उपेक्षा क्यो कर रहे है ? क्या आपकी शोभा (महिमा) की श्रेष्ठता यही है ? नही, जिस राग भाव को अन्य लोग अत्यन्त आदर देते है, उस ममत्व को तो आपने जडामूल से ही उखाड कर फेंक दिया है। (यही आप की महिमा की श्रेष्ठता है) ॥१॥

आत्मा के अनादि ज्ञान स्वरूप (जो आपका स्वरूप है) को आपने अज्ञानावरण से खेचकर बाहर निकाल लिया है। इसलिए वह अज्ञान दशा आपसे कुपित हो गई, और चली गई। उसे जाता देखकर भी आपने उसकी कोई काण—मर्यादा का विचार नही किया। अनादि काल की साथिन का भी विचार नही किया ॥२॥

निद्रा, स्वप्न, जागृति और उजागरता (हर प्रकार से विशेष जागृति) इन चारो दशाओ मे से उजागरता जो चौथी अवस्था है, उसे आपने प्राप्त करली है अर्थात् सहज आत्म स्वरूप मे सतत जागृति प्राप्त करली है। इसलिए

निद्रा और स्वप्नदशा आपसे कोपित हो गई । उनको कुपित जान कर भी हे नाथ ! आपने उन्हें नही मनाया—प्रसन्न करने की कोई चेष्टा नही की ।।३।।

आपने सम्यक्त्व और उसके परिवार (शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य) के साथ प्रगाढ सम्बन्ध स्थापित किया है और मोह सुता मिथ्यामति को (दुर्बुद्धि को) अपराधिनी समझ कर आत्म-गृह से बाहर निकाल दिया है ।।४।।

हास्य, (हंसी) रति, (आसक्ति) अरति, (चित्तका उद्वेग या अप्रीति), शोक, (रंज), दुगंछा (घृणा, ग्लानी) और भय तथा स्त्री पुरुष नपुंसक वेद—ये नो कषाय जो पाप कर्म के कृपक हैं, इन्होने आप को क्षपक श्रेणी रूपी गजराज पर चढते हुए देखकर कुत्तों की चाल पकड़ली अर्थात् भोंक कर भाग गये ।।५।।

राग-द्वेष, अविरति (चारित्र घातक भाव) ये चारित्र मोहनीय राजा के बलवान सुभट हैं । ये आपको वीतराग मे परिणमन करते जानकर—वीत-रागी होते देख कर, समझदारी का ढोंग करने वाले बेचारे, सामर्थ्यहीन भाग खड़े हुये ।।६।।

वेदोदय से पुरुष को स्त्री देख कर और स्त्री को पुरुष देखकर काम वासना उत्पन्न होती है किन्तु आपतो काम को उत्पन्न करनेवाले रस के सर्वथा त्यागी बन गये है । अवेदी बन गये है । इस प्रकार हे दया के समुद्र निष्कामी बनकर—कामना रहित होकर, आप अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य इस चतुष्क पद मे लीन हो गये हैं ।।७।।

हे प्रभो ! आप दान देने में विघ्न उत्पन्न करने वाले दानांतराय कर्म को दूर करके सम्पूर्ण भव्य प्राणियो को अभयदान की पदवी (फिर कभी भय उत्पन्न नही हो—ऐसी पदवी) देने वाले दानी हैं । लाभ मे विघ्न उत्पन्न करने वाले लाभान्तराय कर्म के विघ्न दूर हटानें वाले आप विघ्न विशानक हैं, और परम लाभ—उत्कृष्ट लाभ (मोक्ष) से लाभान्वित हैं ।।८।।

हे स्वामी ! शक्ति और पराक्रम मे विघ्न डालने वाले वीर्यान्तराय कर्म को अपने पंडित–चतुर आत्म बल से नष्ट कर आपने पूर्ण पदवी–अनन्त शक्ति से सम्बन्ध जोड लिया है। और भोगो मे और उपभोगों मे विघ्न उपस्थित करने वाले भोगान्तराय और उपभोगान्तराय इन दोनो को दूर करके पूर्ण भोग–आत्मानन्द को भोगने वाले हैं ॥९॥

ऊपर बताये हुये अठारह*दोषों से रहित आपका शरीर है। मुनियों के बड़े बड़े समूहों ने आपकी स्तवना की है। आप अविरति रूप दोषों को बताने वाले हैं, और इन दोषो से आप रहित है इसलिये आप मुझे अच्छे लगते हैं–प्रिय लगते है ॥१०॥

इस प्रकार १८ दुषण रहित तीर्थंकर की परीक्षा करके मन को विश्राम देने वाले (मन के विश्राम स्थल) श्री मल्ली नाथ जिनेश्वर देव के जो गुण गान करते हैं वे दीनबन्धु भगवान जिनेश्वर की कृपा दृष्टि से आनन्द से परिपूर्ण पद–मोक्ष को प्राप्त करते है ॥११॥

श्री मुनिसुव्रत जिन स्तवत (२०)

(राग–काफी–आघा आम पधारो पूज्य, ए देशी)

मुनिसुव्रत निजराज एक मुझ विनती सुणो ॥टेक॥

आतम तत क्यूं जाणूं जगतगुरु, एह विचार मुझ कहिये।
आतम तत जाण्या विण निरमल, चित समाधि नवि लहिये
॥मु०॥१॥

कोई अबंध आतम तत मानै, किरिया करतो दीसै।
क्रिया तणो फल कोण भोगवै, इम पूछ्यां चित रीसे ॥मु०॥२॥

* १ आशा–तृष्णा, २ अज्ञान, ३ निद्रा, ४ स्वप्न, ५ मिथ्यात्व, ६ हास्य, ७ रति, ८ अरति, ९ भय, १० शोक, ११ दुगच्छा, १२ राग, १३ द्वेष, १४ अविरति, १५ काम्यक दशा, १६ दानान्तराय, १७ लाभान्तराय और १८ भोगोपभोगान्तराय।

जड चेतन ए आतम एकज, थावर जंगम सरिखो ।
सुख दुख संकर दूषण आवै, चित विचार जो परिखो ॥मु०॥३॥

एक कहै नित्यज आतम तत, आतम दरसण लीनो ।
कृत विनास अकृतागम दूषण, नवि देखै मति हीनो ॥मु०॥४॥

सुगत मत रागी कहै वादी, क्षणिक ए आतम जाणो ।
बंध मोख सुख दुख नवि घटै, एह विचार मन आणो ॥मु०॥५॥

भूत चतुष्क वरजी आतम तत, सत्ता अलगी न घटै ।
अन्ध सकट जो नजर न देखै, तो स्यूं कीजै सकटै ॥मु०॥६॥

इम अनेक वादी मत विभ्रम, संकट पडियो न लहै ।
चित समाधि ते माटे पूछूं, तुम विण तत कोण कहै । मु०॥७॥

वलतूं जगगुरु इण परि भाखै, पक्षपात सहु छंडी ।
राग-द्वेष मोहे पख वरजित, आतम सूं रढ मंडी ॥मु०॥८॥

आतम ध्यान करे जो कोऊ, सो फिर इण में नावै ।
वागजाल बीजूं सहु जाणै, एह तत्व चित चावै ॥मु०॥९॥

जे विवेक धरि ए पख ग्रहियो, ते ततज्ञानी कहियै ।
श्री मुनिसुव्रत कृपा करो तो, "आनन्दघन" पद लहियै ॥मु०॥१०॥

(२०) पाठान्तर—राग....देसी = राग सोरठ—अधिका ताहरा हुता अपराधी (अ), आधा आम पधारो पूज—ए देसी (अ, उ, ऊ) । मुनिसुव्रत = सुणी मुनिसुव्रत (अ,) जिन राज = जिनराया (अ, उ,) जिन राय (आ, ऊ) । एक = इक (आ, ऊ)। विनती सुणो = वीनती (अ,) वीनति निसुणो (आ, ऊ) । तत = तत्त्व (उ, ऊ) । क्यूं = किम (अ, आ,) क्युं (उ) । जाणूं = जाणुं (अ, उ,) जाण्यूं (ई) । कहियै = कहीयै (अ,) कहियो (इ, ऊ,) कहिओ (उ) । विण = विन(आ,) विणु (उ) । लहियै = लहीइ (अ,) लहियो (इ,

ऊ,)लहिओ (उ)। मानै = मानइ (उ)। किरिया = क्रिया (अ)। फल = फल कहो (उ, ऊ)। को ग = कुण (उ, ऊ)। पूछ्यां = पूछ्यो (अ, आ, उ,) पूछ्यूं (ऊ)। जड....एकज = जड चेतन ऐकज आतम तत (अ,) जड चेतन तत आतम एकज (उ)। थावर = स्थावर (इ)। सुख दुख = दुख सुख (अ, उ, ऊ)। लीनो = लीणो (अ, आ, उ, ऊ)। हीनो = हीणो (अ, आ, उ, ऊ)। क्षणिक = क्षिणक (ऊ)। ए आतम = आतमा (अ, आ)। मोख = मोक्ष (इ, ई, उ)। नवि घटै = तत न घटै (अ,) न घटै (आ, उ,) तने न घटै (उ)। मन = मनि (अ)। वरजी = वर्जित (इ, ई)। नजर = निजर (अ, उ, ऊ)। देखै = निरखै (अ)। स्यूं = सू (अ)। मत = मति (उ)। पडियो = पडिओ (उ,) पडियौ (ऊ)। कोण = कोन (अ), कोइ न (आ, उ, ऊ)। सहु = सब (इ, ई, उ, ऊ)। मोहे = मोह (अ, आ, उ, ऊ)। वरजित = वर्जित (इ)। रढ = रती (अ, आ,) रढि (उ)। कोऊ = कोई (अ, आ)। इणमे = इतमे (अ)। इणमां (उ)। जाणै = जाणो (उ)। एह....चावै = एह तत चित भावै (अ)। जै = जिण (अ, आ, ऊ,) जिण (उ)। धरि = धर (आ, ऊ)। ए पख = ए (अ)। करो = करै (अ)।

शब्दार्थ—तत = तत्व। नवि = नही। लहिये = प्राप्त करो। अबंध = बंध रहित, निर्लेप। दिसै = दिखाई देता है। रीसै = रुष्ट होना है, नाराज होता है। थावर = स्थावर, स्थिर रहने वाले प्राणी। जगम = चलने फिरने वाले प्राणी। सरिखो = बराबर, समान। सकर = सांकर्य दोष। परिखो = परीक्षा करो। नित्यज = एकात, नित्य। लीनो = निमग्न। मतिहीनो = बुद्धि हीन। सुगत = भगवान बुद्ध। भूत = तत्व। चतुष्क = चार तत्व—पृथ्वि, पाणी, अग्नि और वायु। वरजी = रहित। अलगी = अलग, पृथक। सकट = शकट, गाडी। तेमाटे = इस कारण। वलतूं = वापिसी मे, उत्तर मे। रढ = प्रीति। वागजाल = वाणी व्यापार, बकवास। बीजु = दूसरा। सहु = सब। विवेक = परीक्षक बुद्धि।

अर्थ—हे मुनिसुव्रत जिनेश्वर देव! मुझ सेवक की एक मात्र विनती—प्रार्थना है उसे सुनिये। हे जगतगुरु! मैं आत्मतत्व को किस प्रकार जानलूं

इस उपाय को मुझे बताइये। निर्मल आत्मतत्व के जाने बिना चित्त मे स्थिरता नही आती है—शांति प्राप्त नही होती है । मुझे बडी उलझन हो रही है क्यों कि आत्मा के सम्बन्ध मे हरेक दर्शन के विभिन्न मत हैं ॥१॥

कितने आत्मा को अबन्ध—बन्ध रहित मानते है किन्तु आत्मा क्रिया—कर्म करता दिखाई पडता है । जब क्रिया करने वाला आत्मा है तो उस क्रिया का फल दूसरा कौन भोगेगा ? इस प्रकार प्रश्न करने पर आत्मा को बन्ध रहित मानने वाले एकान्तवादी मन मे क्रोधित होते हैं ॥२॥

विशेष—यद्यपि जैन दर्शन निश्चयनय से आत्मा को बन्धरहित मानता है किन्तु यदि अन्य नयों की अपेक्षाओ का ध्यान न रखा जाय तो यह एकांत वाक्य हो जाता है । यह किसी अंग मे सत्य होते हुये भी सर्वथा सत्य नही है । यदि आत्मा को सर्वथा बन्ध रहित मान लिया जाय तो प्रश्न होता है कि आत्मा क्रियायें-कर्म-करता है, तो उसका फल भी भोगेगा ही । क्रिया-कर्म है तो उसका फल भी है ही । आत्मा को क्रिया करता हुआ तो मानते हैं, फल का भोगता नही । तब उस क्रिया का फल कोई दूसरा भोगेगा क्या ? (भोजन तो बेटा करेगा, पेट बाप का भरेगा !) इस प्रश्न पर वे एकांतवादी सांख्य और वेदान्ती क्रोधित हो जाते हैं ।

जड और चैतन्य को कितने ही दार्शनिक एक रूप ही मानते है (अद्वैतवादी) अर्थात् चलने वाले तथा स्थिर रहने वाले पदार्थ दोनो एक ही समान है । ऐसा माना जाये तो जीव को सुख—दु.ख न होना चाहिये । यदि सुख-दुख माना जाय तो न्यायशास्त्रानुसार इस मे संकर दोष होता है । इस प्रकार विचार कर आत्मतत्व की परीक्षा करनी चाहिये ॥३॥

पृथक—पृथक पदार्थों के पृथक पृथक लक्षण हैं । जहां ये लक्षण एक दूसरे में घटित हो जावे वहां संकर नामक दोष होता है । सुख का वेदन आनद है और दुख का वेदन क्लेश है । दोनो भिन्न स्वभावी हैं । जहाँ इन्हे एक ही माना जाय वहां संकर दोष है । इसी प्रकार जड़ जंगम को (चैतन्य और जड को) एक समान समझने में भी संकर दोष है ।

अद्वैत मत के मुख्य तीन भेद है अद्वैत, द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैत। अद्वैत वालो की मान्यता है–"एक ब्रह्म द्वितीय नास्ति।' इसके अनुसार जड़ जंगम मे कोई भेद नही है। सब ही ब्रह्म है। विशिष्टाद्वैत वालों का कथन है– "एक:सर्वगतो नित्य." । इसके अनुसार जड-चेतन में एक ही आत्मा व्याप्त है द्वैताद्वैत के मानने वाले जड जंगम मे थोडा भेद मानते हैं। सारांश यह है कि जड़ और चैतन्य दोनो आत्मा की दृष्टि से एक ही है। इस मान्यता में संकर' नामक दोष है क्योकि सुख-दुख भी एक ही हुये। इस दृष्टिकोण से चैतन्य के कृत कर्म सुख-दुख जड को भोगने पड़ेगे और जड़ के कृत कर्म सुख-दुख चैतन्य को भोगने पड़ेगे। यह सभव नही है। यह तो संकर दोष है। इसलिये इस प्रकार ऊहापोह करके आत्मतत्त्व की परीक्षा करो।

एक मतावलंबी–एकातवादी–आत्मतत्व को एकमा रूप मे रहने वाला नित्यज मानते है क्योंकि वह अपने स्वरूप दर्शन मे लवलीन है। इस मान्यता मे कृत विनाश–अपने किये हुये कर्म का फल स्वय को नही मिलता और अकृतागम-जो कर्म अभी तक किया नही गया है उसकी फल प्राप्ति–ये दो दोष आते हैं। इस बात को मतिहीन-प्रविचारक एकान्तवादी जरा भी नही देखते है ॥४॥

संसार मे प्राणियो को सुख-दुख भोगते हुये देखा जाता है। उसका कारण पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म ही है। यदि आत्मतत्त्व को अपने स्वरूप दर्शन मे लवलीन (मग्न) नित्यज, एकरूप मे रहने वाला माना जाय तो सुख दुख का कर्त्ता और भोगता कौन है ? यह प्रश्न स्वतः ही उपस्थित होता है जिसका कोई उत्तर नही है।

आत्मतत्व की जाकारी तो बस दृष्टिकोणों से विचार करने पर हो सकती है।

को माननने वाले तर्कवादी आत्मा को क्षणिक (क्ष

बदलने ते हैं। यदि आत्मा का रूप ।

श्रीर मुक्ति तथा सुख और दुख की व्यवस्था बैठनी नहीं है। इसका भी तो जरा विचार करो ॥५॥

आत्मा को क्षण क्षण मे बदलती हुई माना जाय तो पुण्य-पाप करने वाली आत्मा दूसरी और सुख-दुख भोगने वाली आत्मा दूसरी होगी। बंध में पड़ने वाली आत्मा दूसरी होगी और मुक्त होने वाली आत्मा दूसरी होगी। जन्म लेने वाली आत्मा दूसरी होगी और मरने वाली आत्मा दूसरी होगी। तब फिर सुख-दुख, बंध-मोक्ष जन्म-मरण शब्द निरर्थक हैं। ये सब शब्द काल्पनिक हैं। पहले क्षण कोई क्रिया की गई, उनका बन्ध हुआ ही नहीं, जब बंध नहीं हुआ तो मोक्ष-मुक्ति किस की होगी ? कौन मुक्त होगा ? आत्मा को क्षणिक मानने मे ये बाधाये उपस्थित होती हैं। बुद्धदेव ने संसार को जो दुख रूप बताया है चार आर्य सत्य कहे हैं और दुख से छुटकारे का जो विचार कहा है, वह सब असत्य ठहरता है क्यों कि आत्मा क्षणिक है।

स्वयं बुद्ध देव ने कई दिनों तक घोर तपस्या की और उसमें होने वाले सुख दुख के अनुभव किये। आत्मा क्षणिक होने से सुख-दुख अनंत आत्माओं ने अनुभव किये या बुद्ध देव ने ? यदि बुद्ध देव को सुख-दुख की अनुभूति हुई तो आत्मा क्षण स्थाई का सिद्धान्त गलत हो गया। यदि क्षण-क्षण बदलती आत्माओं ने सुख-दुख अनुभव किया तो तपस्या मे किस का शरीर कृश हुआ ? इस ऊहापोह मे आत्मा क्षणिक सिद्ध नहीं होता है। आत्मा का स्वरूप तो सब पर्यायों के ऊपर दृष्टि रख कर ही किया जा सकता है।

चतुष्क भूत-चारों तत्व-पृथ्वी पानी, अग्नि और हवा के अतिरिक्त आत्म तत्व नामक कोई अलग वस्तु की सत्ता नहीं है। यह सिद्धान्त चार्वाक दर्शनानुयायियों का है। यह सिद्धांत तो ऐसा है कि किसी अन्ध पुरुष को आगे खड़ा हुआ शकट (गाडा) नजर नहीं आता और वह टकरा जाता है तो इसमे गाडे का क्या दोष। कारण कि आँख वाले के लिए तो गाड़े की सत्ता है ही, नेत्र हीन गाड़े की सत्ता न देख सके तो इस मे गाडे का अपराध है क्या ? ॥६॥

नास्तिक मतावलंबी-चार्वाक मतानुयायी पृथ्वी, पाणी, अग्नि और वायु इन चार भूतों के मेल को ही चैतन्य शक्ति मानते हैं। इनके अलग अलग

होने पर चैतन्य को नष्ट हुआ मानते है। आत्मा या चैतन्य शक्ति की कोई अलग सत्ता नही मानते है। विचारणीय यह है कि मृत शरीर मे भूत चतुष्क तो है ही, फिर उनमे चेतना क्यो नही ? यदि यह सिद्धात ठीक होता, तो मृत शरीर मे चेतना होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नही है। चैतन्य शक्ति कोई अलग वस्तु है जिसके शरीर से निकल जाने पर शरीर कार्य करने की शक्ति से शून्य हो जाता है।

श्री आनन्दघन जी ने ऊपर उदाहरण दिया है—नेत्र हीन व्यक्ति गाडा नही देख सकता है तो गाड़े का अभाव हो गया क्या ? इसमे दोष गाड़े का है या नेत्र का। जो आत्मा-चैतन्य शक्ति का अनुभव करते हुए भी उसकी सत्ता स्वीकार नही करते है, उनके समझाने का क्या उपाय है ?

इस प्रकार अनेक दर्शनो की मान्यताओ के विभ्रम मे मेरी बुद्धि अथवा मैं पड़ गया हूँ, इस सकट के कारण मुझको आत्म तत्व की प्राप्ति नही होती है। इसलिए अपने चित्त समाधि के लिये प्रार्थना करता हूँ। आपके बिना ऐसा और कौन है जो आत्म तत्व को बता सके ॥७॥

उत्तर मे ससार के गुरु श्री मुनिसुव्रतजिनेश्वर (शास्त्रवाणी द्वारा) इस प्रकार कहते है कि मतमतान्तरो के पक्षपात को छोड कर राग-द्वेष और मोह को उत्पन्न करने वालो से रहित होकर केवल आत्मा से प्रीति लगावो, उसमे लीन हो जावो ॥८॥

आत्मा अनुभव गम्य है वाणी का विषय नही है। आत्मानुभव होने पर सारे विवाद समाप्त हो जाते है चित्त समाधिष्ठ हो जाता है।

जो कोई आत्मा को ध्याता है, स्थिर चित्त से चिन्तन करता है वह फिर इन वादो के चक्कर मे नही पड़ता है। अन्य सब तो केवल वाग् जाल हैं—बोलने की चतुराई है—कला है। वास्तव मे तत्व वस्तु तो आत्म ध्यान—आत्म चिंतन ही है। इस ही को चित्त-अन्तकरण इच्छा करता है ॥९॥

जिन्होने सद् असद् का विवेक पूर्वक विचार कर आत्म चिन्तन के पक्ष को ग्रहण किया है, वही तत्व ज्ञानी कहलाते है। श्री आनन्दघन जी कहते हैं—

हे मुनिसुव्रतजिनेश्वर देव ! यदि आप की कृपा हो जाय, तो मैं भी अनंत आनंद पद–मोक्ष प्राप्त कर सकूंगा ॥१०॥

आनन्दघन जी स्वयं अपने पदों मे इसको बड़े सुन्दर रूप में व्यक्त किया है। देखे—'निसाणी कहा बताऊं रे'।

श्री नमि जिन स्तवन (२१)

(राग–आसावरी–'धन धन सम्प्रति सांचो राजा, ए देशी')

षड् दरसण जिन अंग भणीजै न्यास षडंग जो साधैरे।
नमि जिनवर ना चरण उपासक, षड दरसण आराधैरे ॥षड० ॥१॥

जिन सुरपादप पाय वखाणं, सांख्य जोग दुय भेदे रे।
आतम सत्ता विवरण करतां लहो दुग अंग अखेदे रे ॥षड०॥२॥

भेद अभेद सुगत मीमांसक जिनवर दुय कर भारी रे।
लोकालोक अलंबन भजियै, गुरुगम थी अवधारी रे ॥षड०॥३॥

लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंस विचार जो कीजै रे।
तत्व विचार सुधा रस धारा, गुरुगम विण किम पीजै रे ॥षड०॥४॥

जैन जिणेसर वर उत्तमअंग अंतरंग बहिरंगे रे।
अक्षर न्यास धरी आराधक, आराधै गुरुसंगे रे ॥षड०॥५॥

जिनवरमा सगला दरसण छैं, दरसण जिनवर भजनारे।
सागरमां सघली तटनीछैं, तटनी सागर भजना रे ॥षड०॥६॥

जिन सरूप थइ जिन आराधे, ते सहि जिनवर होवे रे।
भृंगी इलिकाने चटकावैं, ते भृंगी जग जोवे रे ॥षड०॥७॥

चूरणि भाष्य सूत्र नियुक्ति, वृत्ति परम्पर अनुभव रे।
समय पुरुषनां अंग कह्या ए, जे छेदे, ते दुर भवरे ॥षड०॥८॥

मुद्रा बीज धारणा अक्षर, न्यास अरथ विनियोगे रे।
जे ध्यावै ते नवि वंचीजै, क्रिया अवंचक भोगे रे ॥षड०॥९॥

श्रुत अनुसार विचारी बोलूं, सुगुरु तथा विधि न मिलै रे।
किरिया करि नवि साधी सकिये, ए विखवाद चित सबलै रे
।।षड०।।१०।।

ते माटे ऊभो कर जोडी, जिनवर आगल कहिये रे।
समय चरण सेवा सुध दीज्यो, जिम 'आनन्दघन' लहियेरे ।।षड०।।११।।

पाठान्तर—राग....राजा = आदर जीव क्षमा गुण आदर (अ), धन धन.....राजा (उ, ऊ)। पड = पट (अ, आ, ऊ), ए पट (उ)। दरसण = दरिसण (उ)। सुरपादप = सुरपाय (अ)। पाय = पवाय (आ)। दुय = दोय (अ, आ, उ, ऊ)। विवरण = विवारण (उ) विचारण (कही कही)। लहो = लहु (अ, आ, उ,)। सुगत = सुगति (उ)। दुयकर = कर दोय (अ), दोय-कर (आ, ऊ,) दोइ कर (उ)। लोकालोक = लोक अलोक (अ)। भजियै = भजिइ ( )। गुरुगम = गुरगम (ऊ)। कूख = कुखि (उ), कूपि (ऊ)। विचार = विचारी (अ)। विण = विणु (अ)। जिणेसर = जिनेश्वर (आ, इ, ई उ, ऊ)। उतम अग = उत्तम अंग (अ)। धरी = धरी (इ, ई उ, ऊ)। गुरु = धरि (इ, ई, उ, ऊ)। सघला दरसण = सगला दरिसण (उ)। छै = महि (इ, ई,) सही (उ, ऊ)। तटनी = तटनीमा (उ ऊ)। भजनारे = छलनारे (अ, आ)। सरूप = स्वरूप (इ)। थइ (अ, उ)। ते सहि = तेमही (अ, आ, उ, ऊ)। इलिकाने = ईलिका (अ, आ), ईलिकाने (उ, ऊ)। ते = तो (अ)। चूरणि = चूरण (अ, ऊ)। निर्युक्ति = निरयुती (अ)। परम्पर = परम्परा (उ)। ते = तो (आ)। अरथ = अक्षर (अ)। क्रिया अवंचक = किरिय अवछक (अ), किरिया अववक (उ)। अनुसार = अनुसारै (अ)। बोलूं = बोल्यो (अ)। विधि = विध (ऊ)। साधी = साध (अ)। नवि = भव (उ)। सकिये = सकीजै (अ), सकीइ (उ, ऊ)। विखवाद = विषाद (अ, आ) ऊ। चित = विन (उ)। सबलो रे = सगलै रे (अ, आ, उ, ऊ)। ऊभो = उभय (अ,) ऊभा (उ, ऊ)। सुध = सुचि (अ), शुचि (उ)। दीज्यो = देज्यो (अ, आ, ऊ), देयो (उ)। आनन्दघन = आनन्दघनपद (अ)।

शब्दार्थ—षड दरसण = छै दरसण—सांख्य, योग, मीमांसा, बौद्ध, चर्वाक और जैन। भीणजे = कहे जाते है। न्यास = स्थापना। षडंग = छै अंग, दोनों जंघा, दोनों बाहू, मस्तक, छाती। उपासक = उपासना करने वाले, आराधना करने वाले। सुरपादप = कल्पवृक्ष। पाय = पैर, मूल-जड़। वखाणु = वर्णन करू। विवरण = विवेचन। दुग = द्विक,दो, युगल। अखेदेरे = खेद रहित, निसंकोच। दुय = दो। कर = हाथ। अलबन = अवलंब, आधार। भजिये = मानिये। अवधारी रे = धारण करो। लोकायतिक = चार्वाक दर्शन, वृहस्पति प्रणीत नास्तिक मत। कूख = कुक्षि, उदर। उत्तम अग = मस्तक। सुधारस = अमृत रस। सघला = सब। भजनारे = कही है कहीं नही है। तटनी = नदी। भृंगी = भ्रमरी, भँवरी, कीट विशेष। इलिका = एक प्रकार का कीड़ा-कीट। चटकावै = डक मारता है। जोवे रे = देखता है। दुरभवरे भटकता है बुरी गति मे जाता है। छेदे = अमान्य करे। विखवाद = दुख। सबलेरे = वल सहित, जबरदस्त। ते माटे = इणकारण। ऊभो = खड़ा हूं। आगल = आगे, सन्मुख।

पीछे के स्तवन मे पृथक पृथक छंगो दर्शनों का स्वरूप दिखाया गया है अव इस स्तवन मे उन सव का समन्वय दिखाया जाता है।

अर्थ—जिस प्रकार हाथ, पैर, पेट, मस्तक आदि अग मिलकर ही शरीर कहा जाता है और किसी एक अग को शरीर नही कहा जा सकता, उसी प्रकार षट दर्शनों को (सांख्य, योग, बौद्ध, मीमांसा, चार्वाक और जैन दर्शन को) जैन दर्शन के अग (अवयव—भाग) कहने चाहिये। उन षट (छै) दर्शन रूप अगों को श्री नमिनाथ जिनेश्वर के अगो (अवयवो) पर स्थापित करके जो अपनी साधना करते हैं, वे नमिनाथ भगवान के चरणों की उपासना करने वाले (उनके चारित्र धर्म को पालने वाले) छैओं ही दर्शनो की आराधना करते हैं-सेवा—उपासना करते है ॥१॥ षट दर्शन जिन नमि प्रभु के ही अग है अर्थात् उनकी एकान्त विचारधारा का समन्वय जैन दर्शन मे हो जाता है।

अव आगे षडग न्यास (स्थापना) की रीति वताई जाती है—

जिन तत्व—ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष के सांख्य और योग दोनों दर्शन मूल

(जड) रूप चरण युगल कहे गये हैं। इन दोनो दर्शनों ने आत्म-सत्ता का विवेचन किया है अतः वेखटके (निसकोच) इन दोनों दर्शनो को जिन तत्व ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष के अग समझो ।।२।।

वौद्ध दर्शन आत्मा को अनेक भेदवाली (क्षणिक) मानता है और मीसामा दर्शन आत्मा को अभेद (एक रूपरहने वाला) मानता है। ये दोनों दर्शन जिनेश्वर कल्पवृक्ष के दो विशाल (-डे) हाथ हैं। वौद्ध दशन का अवलव लोक व्यवहार है अर्थात वह व्यवहार नय को प्रधानता देता है—व्यवहार नय वादी है। मीमासा वेदान्तदर्शन का आधार अलोकिक है। वह निश्चयवादी है। ये सव वातें गुरुमुख से समझनी चाहिए।

वौद्ध दर्शन आत्मा को क्षणिक मानता है और जैन दर्शन पुद्गल पर्यायो की अपेक्षा आत्मा को वदलता हुआ कहता है। मीमासक आत्मा को एक ही मानते हैं। सूर्य और सूर्य के प्रतिविम्वो की तरह। जैन दर्शन सव आत्माओ की सत्ता एक रूप होना मानता है। निश्चय नय से आत्मा का रूप अवंध–वंधरहित शुद्ध है। इस प्रकार ये दोनो दर्शन जिन तत्व दर्शन के अंग रूप हाथ हैं।।३।।

किसी अंस से—अपेक्षा से-विचार किया जाय तो वृहस्पति प्रणीत चार्वाक दर्शन जिनेश्वर देव की कुक्षि (उदर, पेट) है। आत्मतत्व के विचार रूपी अमृत रस की धारा को सद्गुरु से समझे विना किस प्रकार पिया जा सकता है ?

वृहस्पति प्रणीत चार्वाक दर्शन धर्म–अधर्म, पुण्य–पाप स्वर्ग–नर्क और पुनर्जन्म को नही मानता है। वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण से भूत चतुष्क (पृथ्वी, पाणी, अग्नि और वायु) के मेल से उत्पन्न चैतन्य शक्ति को मानता है। इस दर्शन ने इंद्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रमाणित माना है।

जैन दर्शन ने प्रत्यक्ष (आत्म प्रत्यक्ष और इंद्रिय प्रत्यक्ष), परोक्ष, आगम उपमा, और अनुमान ये पाच प्रमाण माने हैं। चार्वाक दर्शन ने आत्म प्रत्यक्ष को विलकुल ही छोड़ कर इंद्रिय प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना

है। इस एक अंग रूप विचार–इंद्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण विचार की मान्यता के कारण चार्वाक दर्शन को जिनेश्वर देव के उदर में स्थापित किया है अर्थात् उदर (पेट) माना है। आत्म-तत्व विचार रूपी अमृत का पान तो सद्गुरु द्वारा ही किया जा सकेगा ॥८॥

जैन दर्शन श्री जिनेश्वरदेव का श्रेष्ठ उत्तमाग–मस्तक है। जिस प्रकार मस्तक शरीर के सब अगो के ऊपर, बाहर दिखाई पड़ता है और अतरंग मे (अन्दर) सुविचारो का खजाना है, उसी प्रकार अतरंग मे जैन दर्शन राग-द्वेष मोह, अज्ञान एव मिथ्यात्व रहित वीतराग भावदर्शी और बाह्य-बाहर (प्रगट में चारित्रधर्मी) सर्वश्रेष्ट और सर्वोपरि है। जैन दर्शन के आराधक गण–मानने वाले सद्गुरु की सगति प्राप्त कर अक्षर न्यास के द्वारा–अक्षरो के रूपो द्वारा–जिन भाषित आगमो के द्वारा–बिना कुछ उलट फेर के इसकी (जैन दर्शन की) आराधना करते हैं, उनपर सत्याचरण करते हैं। जिनेश्वर देव के उप-देशानुसार–आज्ञानुसार चलते हैं ॥५॥

अनेकान्तवादी जैन दर्शन में अन्य सब दर्शनों का समावेश हो जाता है। किन्तु अन्य दर्शनो में जैन दर्शन एक अग मात्र मे ही है। पूर्णरूप से नही क्यो कि वे एकातवादी हैं। इस को समझने के लिये यह उदाहरण है – जिस प्रकार समुद्र मे सब नदियो का समावेश हो जाता है किन्तु नदी मे सागर तो अंग मात्र ही है। नदी को समुद्र कोई नही कहता। उसी प्रकार अन्य दर्शनों में जैन दर्शन अंग रूप से है और जैन दर्शन में अन्य दर्शन समाविष्ठ हो जाते हैं। अतः श्री आनन्दघन जी का कहना है कि अन्य दर्शनों में खंडनात्मक अथवा निन्दात्मक दृष्टिकोण न रख कर समन्वयात्मक दृष्टि रखो और ऊपर कहे अनुसार जैन दर्शन को शिरोमणी जानकर उसकी आराधना करो ॥६॥

जो मनुष्य राग-द्वेष को त्याग कर तदाकार वृत्ति धारण कर–वीत-रागी हो कर श्रीजिनेश्वरदेव की आराधना करते हैं, वे निश्चयरूप से इस प्रकार जिनेश्वर हो जाते हैं जिस प्रकार भ्रमर (भौंरा) लट को (कीट विशेष

को) चटका देता है (भनभनाता है) और वह लट भ्रमर वन जाती है जिसे सब संसार देखता है।

भ्रमर लट को लेकर स्वनिर्मित मिट्टी के घर में रख देता है, फिर उस घर के सामने भनभनाता है और वह लट कुछ दिवस पश्चात् भ्रमर वन कर वाहर निकलता है। इस वात को सब संसार देखता है, और जानता है। वैसे ही वीतरागी मनुष्य जिनेश्वरदेव जैसा हो जाता है।

चूर्णि (महान ज्ञानियो कृत विवेचन), भाष्य (सूत्रो का अर्थ), सूत्र (गणधर कृत आगम); नियुक्ति (पदच्छेद पूर्वक अर्थ विवेचन), वृत्ति (टीका) एवं गुरु परम्परागत अनुभव ज्ञान ये समय-पुरुष के–सिद्धात पुरुष के छै अग है। ये जैन दर्शन के छै अग है। जो व्यक्ति इन छओ अगो मे से एक का भी छेदन (काट) करता है– उत्थापन करता है, वह दुरभवी है–दुष्ट भवगामी है अर्थात् नीच गति मे जाने वाला है ॥८॥

ऊपर कहा गया है कि जिनेश्वर रूप (वीतरागी) होकर, जिनेश्वरदेव की आराधना करता है वह निश्चय ही जिनेश्वर वन जाता है। अपने को जैन या जिन-अनुयायी कहलाने मात्र से जिनेश्वर नही वना जा सकता। उसके लिये साधना की आवश्वकता है। उसका रूप यहा वताया जाता है—

आत्म साधना मे ध्यान का विशेष महत्व है। यहाँ आलबन ध्यान पद्धति का निरूपण है। ध्यान मे योगो (मन, वचन और काया के योगो) को स्थिर कर एकाग्र करने के लिये छै योग या अग कहे गये हैं—

१मुद्रा, २वीज, ३धारणा, ४अक्षर; ५न्यास और ६अर्थ विनियोग। १मुद्रा का अर्थ है—वैठने, खड़े होने, लेटने आदि का ढंग, हाथ, मुख नेत्रादि की स्थिति। योग मुद्रा, जिन मुद्रा। ध्यान मे हाथ, मुख, पैर, नेत्र आदि किस प्रकार रखे जावे अर्थात् सरीर व अवयवो को किस आकृति मे रखा जावे। उसके लिये किसी भी योगासन को ग्रहण करना। (सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन, आदि, २वीज—मंत्र। (ॐ, ह्री, श्री सहित जाप मत्र, पंच परमेष्ठी

जाप) ३धारणा—चित्त को स्थिर करना (चित्त को वीज पर स्थिर करना)। ४अक्षर—जाप मंत्र के अक्षर, पच परमेष्ठी जाप के अक्षर। ५न्यास—स्थापना अर्थात् हृदयकमल दल, अष्ट दल कमल, सहस्र दल कमल पर जाप के अक्षरों को स्थापित करना। ६अर्थविनियोग—जाप के अक्षरों के साथ उनके अर्थ का बोध होना अर्थात् अर्थोपयोग वना रहे।

जो मुद्रा (योग मुद्रा अथवा जिन मुद्रा) में स्थित होकर, वीज—जाप मत्र पर (पच परमेष्ठी मत्र पर) धारणा करता हुआ—चित्त वृत्तियो को स्थिर करता हुआ, जाप के अक्षरों को न्यास—स्थापित करता है अर्थात् हृदय कमल वा अष्ट दल कमल वा सहस्रदल कमल पर जाप के अक्षरों को स्थापित करता है और साथ ही उसके (जाप अक्षरो के) अर्थ का विनियोग—वोध रखकर (अर्थोपयोग रखकर) ध्यान करता है वह, कभी ठगा नही जाता है अर्थात आत्मा को ठगने रूप क्रिया न होने से आत्मा ठगा नही जाता है। (आश्रव रूप क्रियाये आत्मा को ठगती है, जो उन्हे नही करता, वह ठगा नहीं जाता है)। और वह इस अवंचक क्रिया का अवचक फल (अनत आत्मिक सुख) भोगता है ॥९॥

जो अवंचक रूप (साधना के लिये हिंसादि का त्याग कर और कषायादि पर विजय रूप साधुवृत्ति) धारण कर, अवंचक क्रिया (ध्यान साधना की क्रिया) करता है, वह निश्चय ही अवचक फल (आत्मिक सुख) भोगता है।

(वंचक, अवंचक क्रिया, फल और भोग को समझने के लिए इसी चौवीसी के श्री चंद्रप्रभ जिन स्तवन और शाति नाथ जिन स्तवन का मनन करना चाहिये)।

श्रुत—जैन आगमों—के अनुसार पूर्ण रूप से चिन्तन करके कहता हूँ कि जैसे लक्षण सद्गुरु के आगमों मे बताये गये हैं, वैसे सद्गुरु आज प्राप्त नहीं हैं। अतः ऐसे सद्गुरु के आश्रय विना क्रिया करके भी आत्म साधना नही कर सका, यह चित्त मे प्रवल विषाद (दुःख—खिन्नता) रहता है ॥१०॥

इसलिये हे जिनेश्वर नमिनाथ ! मैं हाथ जोड कर खड़ा हुग्रा ग्रापके सन्मुख प्रार्थना करता हूँ—मुझे शास्त्रानुसार चारित्र की शुद्ध सेवा प्रदान कीजिये जिससे मैं ग्रानन्द के समूह ग्रापको प्राप्त कर ग्रनन्त आत्मिक सुखो को प्राप्त होऊँ ॥११

श्री नेमि जिन स्तवन (२२)

(राग-मारू-धणरा ढोला-ए देशी)

ग्रष्ट भवांतर बाल्ही रे बाल्हा, तू मुझ ग्रातमराम । मनराबाल्हा ।
मुगति नारी सूं ग्रापणे रे, वा०, सगपण कोइ न काम ॥मनरा०॥१॥

घर ग्रावो हो बालम घर ग्रावो, म्हारी ग्रासारा विसराम ।मनरा०।
रथ फेरो हो साजन रथ फेरो, म्हारा मनना मनोरथ साथ
॥मनरा०। २॥

नारी पखैस्यों नेहलोरे वा०, सांच कहूँ जगन्नाथ ।मनरा०।
ईसर ग्ररधगे धरी रे वा०, तू मुझ झालै न हाथ ॥मनरा०॥३॥
पशु जननी करुणा करी रे वा०, ग्रांणी हृदय विचार ।मनरा०।
माणसनी करुणा नहीं रे वा०, ए कुण घर ग्राचार ॥मनरा०॥४।
प्रेम कलपतरु छेदियो रे वा०, धरियो जोग धतूर ।मनरा०।
चतुराई रो कुण कहो रे वा०, गुरु मिलयो जग सूर ॥मनरा॥५॥
म्हारो तो एह मां क्यूं नहीं रे वा०, ग्राप विचारो राज ।मनरा०।
राज सभा मां बैसतां रे वा०, किसडी बधसी लाज ॥मनरा०॥६॥
प्रेम करै जग जन सहू रे, वा०, निरवाहै ते ग्रौर ।मनरा०।
प्रीत करी नै छाँडि दे रे वा०. तेसूं चालै न जोर ॥मनरा०॥७॥
जो मनमां एहवो हतो रे वा०, निसपति करत न जाण ।मनरा॥

निसपति करिनैं छांडतां रे वा०, माणस हुय नुकसाण ॥मनरा०॥८॥
देतां दान संवच्छरी रे वा०, सहु लहै वंछित पोख ।मनरा०।
सेवक वंछित लहै नही रे वा०, ते सेवक रो दोख ॥मनर०॥॥६॥
सखी कहै ए सामलो रे वा०, हूं कहूं लखरण सेत ।मनरा०।
इरण लखरणै सांची सखी रे वा०, आप विचारो हेत ॥मनरा०॥१०॥
रागी सूं रागी सहू रे वा०, वैरागी स्यों राग ।मनरा।
राग बिना किम दाखवो रे वा०, मुगत-ंदरी माग ॥मनरा०॥११॥
एक गुह्य घटलो नहीं रे वा०, सगलौ जाणै लोग ।मनरा०।
अतेकांतिक भोगवै रे वा०, ब्रह्मचारी गत रोग ॥मनरा०॥१२॥
जिण जौणो तुमनै जोऊ रे वा०, तिण जोणी जोवो राज ।मनरा।
एक बार मुझनै जोवो रे वा०, तो सीझै मुझ काज ॥मनरा०॥१३॥
मोह दसा धरि भावतां रे वा०. चित्त लहै तत्व विचार ।मनरा।
वीतरागता आदरी रे वा०, प्राणनाथ निरधार ॥मनरा०॥१४॥
सेवक पण ते आदरै रे वा०, तो रहै सेवक माम ।मनरा०।
आसय साथे चालिये रे वा०, एहिज रूढो काम ॥मनरा०॥१५॥
त्रिविध जोग धर आदर्यो रे वा०, नेमिनाथ भरतार ।मनरा०।
धारण पोखण तारणो रे वा०, नवरस मुगता हार ।मनरा०॥१६॥
कारण रूपी प्रभु भज्यो रे वा०, गिण्यो न काज अकाज मनरा०।
क्रिपा करी मुझ दीजिये रे वा०, 'आनन्दघन' पद राज
॥मनरा०॥१७॥

(२२) पाठान्तरः—भवांतर = भवंतर (अ, आ, ई, ऊ)। वाल्ही = वालहो (ई), वालही (उ, ऊ)। तू = तुं (अ)। आपरो = आपणो (अ, आ)। घर = घरि (अ, उ)। म्हारी = माहरी (अ), माहरी (आ, उ), मारी

(ऊ) म्हारा... साथ = रथ पेरो मनोरथ साथ (अ), माहरा मनना मनोरथ साथ (आ), साजन म्हारा मनोरथ साथ (ई), सजन माहरा मनोरथ साथ (उ), साजन मारा मनना मनोरथ साथ (ऊ)। नेहलो = नाहलो (अ)। ईसर = ईश्वर (ई, उ, ऊ)। झालैन = झालनै (अ), झाले (उ)। जननी = जनरी (अ)। पेम = प्रेम (आ, ई, उ, ऊ) कलपतरु = कलपतरु (ई)। जोग = योग (अ, आ, उ)। चतुराई रो = चतुराई नो (आ, ऊ)। म्हारो = माहरो (अ, आ,), म्हारू (ई), माहरू (उ) मारू (ऊ)। विचारो विचारै (ई, उ, ऊ)। सभामा = सभा मे (अ, आ, उ, ऊ)। वधसी = वधसै (अ)। जग = जगि (अ)। छाडि दे = छाडिद्य (अ), छोडि दे (आ, ऊ)। तेसूं = तेसु (अ, ई). तेहसुं (उ)। मनमा = मनमे (अ), मनमो(उ)। एहवो = एहवूं (ई, उ, ऊ)। हतो = हतूं (ई, उ, ऊ)। करिनै = करनै (अ)। हुय = हइ (ई, उ)। संवच्छरी = सवत्सरी (अ, इ, उ), संवछरी (आ, ऊ)। पोख = पोप (अ, ई, उ, ऊ)। लहै नहीं = नविलहै (आ, ई, ऊ), सविलहै (उ)। सेवक रो = सेवक नो (अ, आ, ऊ)। दोख = दोप (अ, आ, ई, उ, ऊ)। सामलो = साभलो (अ, ई, ऊ)। लखणे = लक्षण (ई, उ, ऊ)। इण = इणि (उ)। लखणैं = लक्षण (ई, ऊ), लक्षणे (उ)। विचारो = विचारै (उ, ऊ)। वैरागी स्यो राग = वैरागी वैराग (अ), वैरागी नै स्यो राग (उ)। किम दाखवो = सु दाखवुं (अ)। मुगत = मुगति (अ, आ, ई, उ, ऊ,)। सुंदरी माग = सुंदरी सुं राग (अ), सुंदरी सुं माग (उ)। एक गुह्य = एह गूझ (अ), एह गुज्ज (आ)। घटतो नही = घर नो सही रे (अ, आ), घटतुं नही (उ), घटतू नथी (ऊ)। सगलो = सगलोइ (आ, उ, ऊ), अनेकातिक = अनेकातिकी (अ, आ) अनेकातक (ऊ)। गत = गति (अ)। रोग = सोग (अ)। जोणी = जोयणी (अ), जोगें (ई, उ)। तुमनै = तुझनै (अ, उ)। तिण = जिण (अ)। जोणी = जोगे (ई, उ)। जोवो = जुवो (ई)। जोवो रे = जुवो रे (आ), जुओ रे (ई, ऊ)। धरि = तज (ऊ)। भावता रे = भावनां रे (उ, ऊ)। पण = पिण (उ, ऊ) आदरै रे = आदरी रे (उ)। रूढो = रूडो (अ आ, इ), रूडा (उ) रुडु (ऊ)। मुगताहार = मुक्ताहार (अ, आ)। रूपी = = रूप (अ)। भज्यो

रे = भजु'रे (अ), भजूं रे (आ)। मुझ = प्रभुजी (अ, आ), प्रभु (उ)। दीजिये रे = दीयो रे (अ, आ) ॥

शब्दार्थ = भावान्तर = अन्यभव, पूर्व जन्म। वाल्हो = प्रिय। मगपण = सगाई, संबध। पखै = पक्ष मे। स्यों = क्यों। नेहलो = स्नेह। ईसर = महादेव। अरधंग = आधे अंग मे। झालैन = पकडोनै। माणसनी = मनुष्य की। कलपतरु = कल्पवृक्ष। छेदियो = काट डाला। चतुराई रो = चतुरता का। क्यूं = कुछ भी। वैसतां = बैठते हुये। किसडी = कैसी। वधसी = वढेगी। निरवाहै = निर्वाह करना, निभाना। निसपति = निसवत, सगाई, संबंध। पोख = पोषण। सामलो = सावला श्याम। दोख = दोष। लखणे = लक्षण से सेत = श्वेत, उज्ज्वल। दाखवो = वताना, कहना। माग = मार्ग। गुह्य = गुप्त। सगली = सव। अनेकांतिक = अनेकांत स्याद्वाद बुद्धि। गतरोग = रोग रहित। जोणी = योनि, जन्म। सीझै = सिद्ध होवे। माम = मर्म धर्म प्रतिष्ठा। रूढो = श्रेष्ठ।

श्री नेमिश्वर, महाराज उग्रसेन की कन्या राजिमती से विवाह करने के लिये वरात (शोभायात्रा) लेकर जा रहे थे। मार्ग मे उन्होने अनेक पशुओं को एक स्थान मे वद देखा और यह जानकर कि इनकी हत्या मेरे विवाह के निमित्त से होने वाली है; उनका हृदय दयार्द्र हो उठा। अतः उन्होंने अपने रथ को वापिस लौटाने के लिये सारथी से कहा। तत्काल ही आज्ञा का पालन हुआ। रथ वापिस जाने लगा। रथ को वापिस लौटते देखकर राजिमती कह रही है—

अर्थ–हे प्रियतम! मैं निरंतन आठ भवों से–जन्मों से आपकी प्रियतमा रही हूँ अतः आप मेरी आत्मा में पूर्णरूप से रम गये है। मुक्ति-स्त्री से तो आपका कभी कोई संवंध ही नही रहा है, फिर उससे संवंध करने की उत्सुकता का क्या कारण? ॥१॥

हे मेरे प्राणवल्लभ! घर पधारो। हे मेरी आशाओं के विश्राम स्थल! रथ को वापिस घुमाओ। हे साजन! अपने रथ को वापिस लाओ।

हे प्रियतम ! आपके रथ के साथ गई हुई मेरी आशाये भी वापिस लौट आवेगी। अतः हे नाथ ! मेरी आशाओ के साथ अपने रथ को लौटा लावो ॥२॥

आप कहते है कि मैं मुक्ति–नारी की ओर आकर्षित हो गया हूँ। तब मै आपसे पूछती हूँ—हे जगत के स्वामी प्रियतम ! आप सच-सच बतलाइये। नारी के पक्ष मे–नारी के प्रति आपका यह स्नेह है क्या ? नारी के प्रति तो महादेव–शंकर का प्रेम देखिये जो उन्होने पार्वती को अपने आधे शरीर मे धारण कर लिया और अर्धनारीश्वर कहलाते हैं। एक नारी प्रेमी आप हैं ? जो मेरा हाथ भी नही झेलते हैं—नही पकडते हैं ॥३॥

हृदय मे विचार आते ही, हे प्रियतम ! आपने पशुओं पर दया दिखाकर उन्हे वधन मुक्त कर दिया। किन्तु आश्चर्य है, आपके हृदय मे मनुष्य के लिये कुछ भी दया नही है। हे प्रियतम ! यह किस वंश–कुल का आचरण (व्यवहार) है ? यह किस खानदान–घर की मर्यादा है ? ॥४॥

हे वल्लभ ! आपने अपने हृदय से प्रेमरूपी कल्पवृक्ष को उखाडकर योग–(वैराग्य) रूपी धतूरे का वृक्षारोपण किया है। हे प्रियतम ! सच-सच वताइये कि यह चतुराई ! (वुद्धिमानी का काम !) सिखाने वाला कौनसा शूरवीर जगतगुरु आपको मिला है ? ॥५॥

हे प्रिय राजकुमार ! आप विचार तो कीजिये। आप जो मुझे छोड कर जा रहे है, इसमे मेरा तो कुछ अपराध है नही। मै तो आपसे पूर्णरूप से अनुरक्त हूँ। मुझे तो यही दुःख खटकता है। जव आप राजा महाराजाओं और सभ्य समाज की परिषद् मे विराजेगे तो आपकी प्रतिष्ठा किस प्रकार वढ़ेगी क्योंकि आप तो मुझे पत्नी वनाना स्वीकार कर चुके थे। अव वचन भंग से प्रतिष्ठा वढ़ेगी क्या ? ॥६॥

संसार मे प्रेम तो सव ही करते है किन्तु उसका निर्वाह करने वाले कोई और ही होते है अर्थात् प्रेम का निर्वाह करने वाले विरले ही होते हैं।

(प्रेम में कोई बंधन तो है नहीं) जो व्यक्ति प्रीति करके छोड देते हैं उनसे कोई जबरदस्ती तो नही की जा सकती है। आप मेरे प्रेम की अवहेलना कर रहे है। मैं तो केवल विनती ही कर रही हूँ—"घर आवो हो वालम ! घर आवो" ॥७॥

जो आपके मन मे पहिले से ही मुझे छोडने की बात थी तो आपको सोच समझ कर—जानबूझ कर-सगाई-संबंध ही न करना था। सगाई-संबंध करके और फिर उसे छोडने मे तो मनुष्य का—नारी जाति की बहुत बड़ी हानि होती है। संसार मे नाना प्रकार के अपवाद फैलते है। विवाह करने के लिये आकर भी आप वापिस जा रहे है, इसमे आपका भी अपयश है, अतः मैं प्रार्थी हूँ—"घर आवो हो वालम ! घर आवो" ॥८॥

जैन तीर्थंकर दीक्षा से पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन एक करोड़ और आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान देते है। जब राजिमती ने श्री नेमीश्वर के सांवत्सरिक दान की बात सुनी, तब वह निराश होकर अत्यन्त खेद के साथ कहती है—

हे प्रियतम ! आपके इस सांवत्सरिक दान से सब ही लोग अपनी-अपनी इच्छाओं का पोषण करते है। अर्थात् उनकी सब इच्छाये पूर्ण होती है। किन्तु मैं आठ जन्मों से आपकी चर्या करने वाली सेविका अपने इच्छित फल को प्राप्त नही कर रही हूं। यह मुझ सेविका का ही दोष—अपराध है ॥९॥

विशेष खिन्न होकर पुनः राजिमती कहती है—हे प्राण वल्लभ ! मेरी सखियें कहती थी कि यह नेमिनाथ तो श्यामवर्ण के है किन्तु प्रत्युत्तर में मैंने कहा था कि वर्ण श्याम (सांवला) हुआ तो क्या ? गुणों के लक्षणों से तो यह उज्ज्वल श्वेतवर्ण वाले हैं। किन्तु आपके इन लक्षणो से—मुझे त्यागकर जाने से—तो सखियां ही सच्ची सिद्ध होती हैं। मै क्या कहूँ, आप स्वयं ही इसका कारण सोचे—समझें। अतः मैं तो बारंबार कह रही हूँ—"घर आवो हो वालम घर आवो, म्हारी आशारा विश्राम" ॥१०॥

हे प्रिय स्वामी । प्रेम करने वाले के साथ तो सब प्रेम करते हैं किन्तु वैरागी के साथ राग–प्रेम कैसा ? यदि आपका ऐसा मन्तव्य है तो मैं पूछती हूँ कि विना राग रुचि के आप मुक्ति–सुन्दरी के प्राप्ति का मार्ग कैसे अपना रहे हो और दूसरो को यह मार्ग कैसे बता रहे हो-कह रहे हो ? वैरागी वनकर राग–प्रेम रखना और राग करने के लिये कहना, न्याय है क्या ? इसलिये मैं विनय करती हूं —'घर आवो हो वालम, घर आवो" ॥११॥

आपके वृत्त को तो सब ही मनुष्य जानते है, इसलिये आप मे एक भी गुप्त कर्म चरितार्थ नही होता है । आप काम वासना–रोग रहित ब्रह्मचारी हैं, फिर भी आप अनेकातिक बुद्धि रूपी स्त्री के संग रमण करते हैं—अनेकातिक बुद्धि का उपभोग करते है यह वात सब जानते है । इसमे कोई गुप्त वात नही है । इसलिये ही मै आठ जन्मो की अर्द्धांगिनी विनय करती हूँ—"घर आवो हो वालम घर आवो" ॥१२॥

हे प्रियतम राजकुमार ! जिस प्रेम दृष्टि से मैं आपको देखती हूँ उस ही प्रेम दृष्टि से आप भी तो मुक्ति सुन्दरी को देख रहे हो । यदि आप केवल एक वार भी मेरी ओर प्रेम दृष्टि से देख लेगे तो मेरे सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जावेगे और मेरा अपयश दूर हो जावेगा । इस सिद्धि के लिए ही तो मैं प्रार्थना करती हूं—घर आवो हो वालम, घर आवो, म्हारी आसारा विसराम ॥१३॥

अव तक मोहावृत्त होकर राजिमती अपने मनोद्गार व्यक्त कर रही थी । एकाएक उसके विचार पलटते है और उसका चित्त वास्तविक स्थिति की ओर मोड खाता है । जो स्वाभाविक है । कवि इस दशा का वर्णन करता है—

मोहावृत्त दशा मे राजिमती के हृदय मे अनेकानेक भावनाये –विचार उठते-वैठते रहे । अन्त मे इसी विचार धारा के मध्य उसका चित तत्व विचार का दिव्य प्रकाश प्राप्त कर गया । (मै कौन हूँ ? स्वामी कौन है ? मेरा क्या कर्त्तव्य है ?) इस दिव्य प्रकाश मे उसे (राजिमती को) वास्तविकता का ज्ञान हो गया कि प्राणनाथ जीवनधन नेमीश्वर ने तो निश्चय ही वीतरागता स्वीकार कर ली है । वे वीतरागी वन गये है ॥१४॥

अब तो मुझ सेविका की मान–लाज–प्रतिष्ठा इसी मे है कि मैं भी उस ही पथ पर चल पड़ूं अर्थात् मैं भी वीतरागी बन जाऊँ। तभी मेरा सेवक-पन चरितार्थ–सार्थक होगा। सेवक को स्वामी के आशय–इच्छा–उद्देश्य के अनुसार ही चलना चाहिये। यही सेवक के लिये सर्वश्रेष्ठ कार्य है ॥१५॥

राजिमती कहती है—"आसय साथे चालिये, एहिज रूडो काम" के अनुसार मन-वचन–कर्म से मैंने योग–वीतराग भाव धारण कर वास्तव में श्री नेमीश्वर को भर्त्तार (भरण-पोषण कर्त्ता) रूप में स्वीकार कर लिया है। उन श्री नेमीश्वर भर्तारने मुझे नवरस रूपी-निरूपम एवं अद्वितीय आत्मिक गुणों से युवा-रति-प्रेम रूप श्रृंगार रस; जड जंगम की भिन्नभिन्न अवस्था और रूपरंग से उत्पन्न हास्य रस; पर-दुख संतप्तता रूप करुण रस; कर्म-शत्रुओं पर विजय मे, सदुपदेश दानमे, तप मे, चारित्र-पालन में, पर दुःख हरण में उत्साह रूप वीर रस; भव बंधन मे डालने वाली कषायों पर क्रोध रूप रौद्ररस; जन्म-मरण के कष्टों से भयभीत होने स्वरूप भयानक रस;* नर्क-निगोद के दुःखो से उत्पन्न ग्लानि रूप विभत्स रस; संसार की चित्र-विचित्रता मे आश्चर्य रूप अद्भुत रस और राग-द्वेष रहित निर्विकार हो, आत्म-शांति मे लीन वैराग्य भाव रूप शांतरस रूपी-मुक्ताहार-अमूल्य मोतियों का कंठा मुझे उपहार में दिया है। (पति पत्नी को प्रथम मिलन में उपहार देता ही है) यह अमूल्य मुक्ताहार मेरा धारण-आधार है–शोभा है। मेरे आत्मिक गुणों को पुष्ट करने वाला है और अंत मे मुझे भव-सागर से तारने वाला है ॥१६॥

मेरे वीतराग भाव के निमित्त कारण प्रभु नेमिनाथ भगवान की मैंने आराधना की है। इसमे (आराधना मे) मैंने कृत्याकृत्य का कुछ भी विचार नही किया है। अर्थात् मुझे क्या करना चाहिये था और क्या नही करना चाहिये था, इसमे क्या हानि होगी, क्या लाभ होगा? इसका विचार किये बिना ही उनके-श्रीनेमीश्वर के आशय के अनुसार उनकी आराधना मे तल्लीन हूँ। और अब समर्पित होकर प्रार्थी हूँ–हेकरुणासिंधु! कृपा कर मुझे परमानन्द के

---

* जैन आगम अनुयोगद्वार मे भयानक रस के स्थान पर 'व्रीडारस' दिया गया है। अतः उसका रूप हुआ—"वीडोत्पादक (घृणोत्पादक) हिंसादि कर्म मे लज्जा रूप व्रीडारस।

समूह मोक्ष का साम्राज्य प्रदान कीजिये ॥१७॥

(महासती राजिमती की यह प्रार्थना फलीभूत हुई और श्री नेमिनाथ भगवान से पूर्व ही उन्हे केवल ज्ञान प्राप्त हो गया और अनत सुखो के साम्राज्य की अधिकारिणी वन गई) ।

इस अतिम पद मे यह व्य यार्थ है—'कवि आनंदघन जी कहते हैं मैं भी आपके मार्ग (वीतराग भाव) का अनुगामी हूं । कार्य, अकार्य का—फलाफल का विचार किये विना आपकी आराधना मे तन्मय हूं। कृपा कर मुझे अनत सुखों के साम्राज्य को प्रदान कीजिये।

श्री पार्श्व जिन स्तवन (२३) १

(देशी—रसियाकी)

ध्रुवपद रामी हो स्वामी माहरा. निःकामी गुणराय ।सुग्यानी।
निज गुण कामी हो पामी तू धणी, ध्रुव आरामी हो थाय
॥सुग्यानी ध्रु०॥१॥

सर्व व्यापी कहै सर्व जाणग पणे, पर परणमन स्वरूप
पर रूपे करी तत्वपणु वही, स्व सत्ता चिद्रूप ।सु० ध्रु०॥२॥
ग्येय अनेके हो ग्यान अनेकता, जल भाजन रवि जेम ।सु०।
द्रव्य एकत्व पणे गुण एकता, निज पद रमतां हो खेम ॥सु० ध्रु०॥३॥
पर क्षेत्रे गम्य ग्येयने जाणवै पर क्षेत्री थयु ग्यान ।सु०।
अस्ति पणु निज क्षेत्रे तुम्हे कहो, निर्म्मलता गुणमान ॥सु० ध्रु०॥४॥
ग्येय विनाशे हो ग्यान विनश्वरू, काल प्रमा रेणे थाय ।सु०।
स्वकाले करि स्व सत्ता पणे, ते पर रीते न जाय ॥सु० ध्रु०॥५॥
पर भावे करी परता पामता, स्व सत्ता थिर ठाण ।सु०।
आतम चतुष्कमयी परमां नही, तो किम सहूनो रे जाण ॥सु०ध्रु०॥६॥
अगुरुलघु निज गुणने देखातां द्रव्य सकल देखत ।सु०।
साधारण गुणनी साधर्म्यता, दर्पण जल दृष्टंत ॥सु० ध्रु०॥७॥
श्री पारस जिनवर पारस समो, पिण इहां पारस नांही ।सु०।
पूरण रसियो हो निज गुण परसनो, 'आनन्दघन' मुझ मांहि
॥सु० ध्रु०॥८॥

(२३) १. यह स्तवन श्री ज्ञानविमलसूरिजी कृत कहा जाता है परन्तु यह उनका नही है (भूमिका देखे) इस स्तवन पर उन्होने टीका नही लिखी है। हमारे पास की अन्य प्रतियों में यह स्तवन नही है। केवल श्री ज्ञानविमल सूरिजी वाली प्रति मे है। और मुद्रित तीन प्रतियो मे है। मुद्रित तीन प्रतियो में भी तीसरा और चौथा पद नही हैं। पाठान्तर मुद्रित प्रतियो के ही दिए हैं।

पाठान्तर—देसी रसियानी = राग सारंग (मं, वि०)। माहरा = हमारा (म, मा०)। कहै = कह्रो (वि)। परणमन = परिणमन (म, मा, वि)। वही = नही (मं, मा, वि)। स्थेय.....खेम = यह पद म, मा मे नही है। परक्षेत्र .....गुणमान-यह पद भी मं और मा में नहीं है। गम्य = गत (वि)। तुम्हे = तुम (वि)। कहो = कह्यो (वि)। सत्तापणे = सदा (म, मा, वि)। सहूने = सहुने (म)। सकलने = सकल (म, मा, वि)। जलने = जल (मं, मा)। जिनवर पारस समो = जिन पारस रस समो (म, मा, वि)। परसनो = परस मा (मं, मा)।

शब्दार्थ—ध्रुव = अटल। पद = स्थान। रामी = रमण करने वाला। जाणगपने = ज्ञाता पन मे, ज्ञायक भाव से। पर परणमन = अन्य मे परिणमन करने वाले। चिदरूप = ज्ञान रूप। खेम = क्षेम, आनन्द। विनश्वर = नाशमान। आतम चतुष्क मयी = अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप। समो = समान, बराबर। परसनो = स्पर्श का।

अर्थ—हे मेरे स्वामी श्री पार्श्वनाथ प्रभो! आप अचल पद—आत्म पद—मोक्ष मे रमण करने वाले हैं। आप निष्कामी—इच्छा रहित और अनन्त आत्मिक गुणो के राजा—सम्राट हैं। कोई भी भव्य प्राणी आत्मिक गुणों का इच्छुक आपको स्वामी बना लेता है, वह मोक्ष के शाश्वत सुखो मे आराम करने वाला—निवास करने वाला बन जाता है ॥१॥

सकल जड-जंगम के सब गुण-पर्यायों को तीनों कालो मे आप जानते हैं, इसलिए आपको सर्व व्यापी कहा जाता है किन्तु पर द्रव्य के परिणमन स्वरूप मे—पर द्रव्य मय होने मे नही तत्वत्व-नही स्व स्वरूपत्व (आत्मत्व)

है क्या ? अर्थात् नही है क्योंकि आपकी सत्ता तो ज्ञानमय है । अतः सर्व को जानने से सर्व व्यापकत्व सिद्ध नही होता है क्योकि ज्ञानमय—चैतन्य अन्य स्वरूपी नही बन सकता है । यदि वह पर द्रव्यमय हो जावेगा तो वह अपने स्वरूप मे नही रह सकेगा । इसलिए हे स्वामी ! आप ध्रुवपद रामी हैं ॥२॥

सर्व व्यापकत्व के सम्बन्ध मे वादी कहते हैं—ज्ञेय पदार्थ (जाना जाने वाला पदार्थ) की अनेकता के कारण ही ज्ञान की अनेकता इस प्रकार है, जिस प्रकार अनेक जल पात्रो मे सूर्य का प्रतिबिम्ब अनेक रूप दिखाई पड़ता है, अर्थात् एक ही ज्ञान अनेक ज्ञेयो मे पृथक पृथक रूप मे दिखाई पडता है । इसका उत्तर है—द्रव्य के एक होने के कारण उसका गुण भी एक ही होता है क्यो कि गुण और गुणी अलग-अलग नही हैं । अपने गुण मे गुणी का रमण करना--रहना ही क्षेम कुशलता है अर्थात् स्वसत्ता मे रहना ही आनन्द है—मुक्ति है । पर परणति मे वह एकत्व (गुण-गुणीका एकपना) स्थिर नही रहता है । इसलिए तो हे नाथ ! आप ध्रुवपदामी हैं ॥३॥

ज्ञान अन्य स्थान मे रहने वाले ज्ञेय पदार्थ को उसी क्षेत्र मे जानने से अन्य क्षेत्र मे होने वाला हो जाता है । ज्ञान दूसरे क्षेत्र रूप हो जाता है । किन्तु आपने ज्ञान का अस्तित्व (विद्यमनता-सत्ता) अपने क्षेत्र मे ही ज्ञान की निर्मलता के कारण ही बताया है । अन्य क्षेत्र मे ज्ञान का अस्तित्व नही है । अनत पर क्षेत्र के ज्ञेय अनन्त होन से ज्ञान के भी अनन्त रूप होगे, अर्थात् एक आत्मा (ज्ञान) अनत श्रेय रूप होने से वह स्वय भी अनत रूप होगी । तव फिर आत्मा (ज्ञान) का अपने क्षेत्र मे अस्तित्व कैसे सम्भव होगा ? अर्थात् नही होगा । ज्ञान की सत्ता तो अपने ही क्षेत्र मे है । इसलिए हे नाथ ! आप ध्रुवपदरामी हैं ॥४॥

यदि ज्ञान ज्ञेय रूप हो जावेगा तो ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) के नाश होने पर ज्ञान भी अवधि सम्पन्न होने पर नष्ट हो जावेगा । अर्थात् जिस ज्ञेय का एक समय ज्ञान हुआ वह ज्ञेय समय नष्ट होते ही नष्ट हो जावेगा । जब ज्ञेय नष्ट हो जावेगा तो ज्ञान भी नष्ट हो जावेगा । जैसे घटादि पदार्थ नष्ट होते हैं, वैसे ज्ञान उनके साथ नष्ट नही होता अतः ज्ञान तो स्वकाल मे—अनंत

पर्याय के समय अर्थात् त्रिकाल में अपनी सत्ता मे ही विद्यमान रहता है। वह तो पर पर्याय रूप मे नही जाता है अर्थात् वह पर रूप नही होता है। इसलिए तो हे ज्ञानमय नाथ ! आप "ध्रुवपदरामी स्वामी माहरा" हैं ॥५॥

फिर तर्क है—परभाव में परिणमन करते समय, पर रूप बन जाने पर भी आत्मा को अपनी सत्ता मे और स्थान मे स्थिर कहते हो। (आत्मा तो चतुष्कमयी अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप चार आत्म स्वभाव वाली है और ये चारों गुण पर में (ज्ञेयमे) होते नही, अर्थात् चतुष्कमयी सत्ता परवस्तु—ज्ञेय में उसके नाशमान होने के कारण स्थिर नही रह सकती है। तब फिर किस प्रकार से आत्मा को सब का जानने वाला कहते हो ? ॥६॥

तर्क-समाधान—आत्मा का एक गुण 'अगुरु लघु' (नही भारी नहीं हलका) है। आत्मा अपने इस 'अगुरुलघु' गुण को देखते हुए सम्पूर्ण परद्रव्यों को देखता है। सम्पूर्ण द्रव्यों मे छै साधारण गुण विद्यमान हैं—१ अस्तित्व, २ वस्तुत्व, ३ द्रव्यत्व, ४ प्रमेयत्व, ५ प्रदेशत्व और अगरुलघुत्व। इन छै गुणों के कारण ही सम्पूर्ण द्रव्य साधर्मी—समानधर्मी है अर्थात् द्रव्यों मे इन सामान्य गुणों की साधर्म्यता है। इसलिये जिस प्रकार दर्पण और जल मे वस्तु प्रतिबिम्बित होती है उसी प्रकार ज्ञान मे ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं और वे ज्ञान से जाने जाते है। यही ज्ञान का सर्व व्यापकपना है। इस प्रकार वह (ज्ञान) पर-परिणति में भी नही जाता है और न वह नष्ट ही होता है क्यो कि दर्पण मे अग्नि का प्रतिबिम्ब पडने से दर्पण कभी जलता नही है—अग्नि रूप नही होना है। वह तो अपने प्रतिबिम्बित गुणो मे सदा एक सा ही रहता है। यही ज्ञान का स्वभाव है ॥७॥

हे पार्श्वनाथ जिनेश्वर ! आपको पारसमणी के समान कहा जाता हैं जो लोहे को छूकर सोना बनाने वाली है किन्तु आप तो वैसे पारसमणी नही हैं बल्कि आप तो ऐसे परिपूर्ण रसिक पारस है जो दूसरों को भी पारस बना देते हैं। आप उन आत्म गुणो से युक्त हैं जिन आत्म गुणों के स्पर्शमात्र से ही मुझ में आनन्द का समूह आ गया है अर्थात् जो आत्म गुणों का स्पर्श करता करता है वह आनन्द का समूह पारस बन जाता है ॥८॥

श्री पार्श्व जिन स्तवन (२३) २

(शान्ति जिन इक मुझ वीनती–ए देशी)

पासजिन ताहरा रूपनूं, मुझ प्रतिभास किम होय रे।
तुझ मुझ सत्ता एकता, अचल विमल अकल जोय रे ॥पास०॥१॥
तुझ प्रवचन वचन पक्ष थीं, निश्चय भेद न कोय रे।
विवहारै लखि देखियै, भेद प्रतिभेद वहु लोय रे ॥पा०। २॥
बधन मोख नहीं निश्चये, विवहारे भज दोय रे।
अखड अनादि नविचल कदा, नित्य अबाधित सोय रे ॥पा०॥३॥
अन्वय हेतु वितरेक थी, आंतरौ तुझ मुझ रूप रे।
अतर मेटवा कारणे, आतम सरूप अनूप रे ॥पा०॥४॥
आतमता परमात्मता, शुद्ध नय भेद न एक रे।
अवर आरोपित धर्मछै, तेहना भेद अनेक रे ॥पा०॥५॥
धरमी धरमथी एकता, तेह मुझ रूप अभेद रे।
एक सत्ता लख एकता कहे ते मूढमति खेद रे ॥पा०॥६॥
आतम धरम नै अनुसरी, रमै जे आतमाराम रे।
'आनन्दघन' पदवी कहे, परम आतम तस नाम रे ॥पास०॥७॥

(२३)२ यह स्तवन श्रीज्ञानसारजी कृत है। यह पद हमारी किसी और प्रतियो मे नही है केवल श्रीज्ञानसारजी वाली प्रति मे ही है। इस स्तवन का उन्होने अर्थ किया है। हमारे पास वाली मुद्रित प्रतियों मे भी यह स्तवन नही है अतः पाठान्तर नही दिये जा सके।

शब्दार्थ—पास = पार्श्वनाथ भगवान। ताहरा = तुम्हारे। प्रतिभास = प्रकर्ष आभास साक्षात्कार। अकल = निराकार। विवहारै = व्यवहारे, व्यव-

हारनय । लोय रे = जीवलोक मे । मोख = मोक्ष । अबाधित = बाधा रहित । वितरेक = व्यतिरेक, भेद, अन्तर, व्यतिरेक हेतु । आंतरो = अन्तर । अवर = अन्य, दूसरे । तेहना = उसके । तस = उसका ।

अर्थः—हे पार्श्वनाथ भगवान ! आपके स्वरूप की झलक–साक्षात्कार मुझे किस प्रकार हो, यह मुझे बताइये । आपकी और मेरी सत्ता अटल, विमल (मल रहित) और निराकार के कारण एक है–अभिन्न है ।।१।।

उत्तर है—मेरे कहे हुये सिद्धान्तो के कथन के अनुसार निश्चय नय से तो कोई भेद (अन्तर) नहीं है । (यह परमात्मा है और यह जीवात्मा है–ऐसा भेद नही है) किन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा से तो अनेकानेक भेद हैं ।।२।।

आगे फिर—वास्तव मे निश्चय नय की अपेक्षा से न बंध है और न मोक्ष है, किन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा से बंध और मोक्ष दो कहे जाते हैं । निश्चय नय से आत्मा तीनों कालों में सिद्धात्मा की अपेक्षा अखड है । आत्मा अजन्मा होने से अनादि है । आत्मा के स्वरूप का कभी अभाव नही होता अतः वह अविचल है । आत्मा का कभी नाश नही होता अतः वह नित्य है (अमर है) । आत्मा अनादि होने के कारण उसके स्वरूप मे कोई बाधा (रुकावट) नहीं आती अतः वह अबाधित है ।।३।।

तुम्हारे और मेरे (परमात्मा के) स्वरूप मे अभिन्नता और अन्तर* अन्वय हेतु और व्यतिरेक हेतु के कारण से है । अन्वय हेतु से आत्म सत्ता है । इसलिये परमात्म सत्ता है । यह सत्ता ही अभिन्नता है । व्यतिरेक हेतु के कारण मेरे मे (परमात्मा मे) आवरण अभाव है, वह तेरे मे भी होना चाहिये था किन्तु वह आवरण अभाव तेरे मे नही है (तू शुद्ध, बुद्ध, आत्मा नही है) इसलिये तेरे मे और मेरे में अन्तर(भेद)है । इस अन्तर(भेद)को दूर करने का एक मात्र कारण

* अन्वय हेतु—जिसके होने पर, जो हो, वह अन्वय हेतु है और जिसके न होने पर, जो न हो, वह व्यतिरेक हेतु है । 'साधन' के होने पर 'साध्य' का होना अवश्यंभावी है । यह अन्वय हेतु है । 'साध्य' के अभाव मे 'साधन' न होना, व्यतिरेक हेतु है ।

अनुपम आत्मा स्वरूप ही है अर्थात् जब आवरण मुक्त हो कर अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लेवेगा तब यह अन्तर (भेद)नही रहेगा ॥४॥

आत्मत्व और परमात्मत्व मे निश्चय नय से कोइ भेद(अन्तर)नही है। आत्मा और परमात्मा एक ही है। (जो आत्मता है वही परमात्मता है और जो परमात्मता है वही आत्मता है । स्वरूप मे अन्तर नही है । आगम वाक्य है–'एगे आया' ।)अन्य तो आरोपित स्वरूप हैं–स्थापित धर्म हैं। उस आरोपित धर्म के तो अनेक भेद है । (आत्मा कभी मनुष्य, कभी पशु, कभी पक्षी, कभी स्त्री, कभी पुरुष, कभी पिता, कभी पुत्र, कभी भाई, कभी बहिन, रूप मे कहा जाता है। ये सब आरोपित स्वरूप है। वास्तव मे आत्मा तो आत्मा ही है)॥५॥

धर्मी(आत्मा)धर्म (आत्मत्व)मे एकता है अर्थात् धर्मी (आत्मा)को धर्म (स्वभाव)से अलग नही किया जासकता है। वे एक साथ ही रहते हैं । आत्म धर्म सहित जो आत्मा है उसके स्वरूप और मेरे मे (परमात्म स्वरूप मे) अभेद है — कोई अन्तर नही है किन्तु आत्मा की केवल सत्ता देखकर एकता बताना मूर्ख बुद्धियों का दुराग्रह है ॥६॥

जो आत्मा आत्म धर्म (स्वभाव) का अनुसरण करके–स्वीकार करके अपनी आत्मा मे रमण करता है अर्थात् अपने आत्म स्वभाव मे रहता है, वह आनन्द घन पद मे है और इस ही का नाम परमात्मा है ॥७॥

श्री पार्श्व जिन स्तवन (२३) ३

प्रणमु पाद-पकज पार्श्वना, जस वासना अगम अनूप रे।
मोह्यो मन-मधुकर जेह थी, पामे निज शुद्ध स्वरूप रे ॥प्र०॥१॥
पक कलक शंका नहि, नहीं खेदादिक दुख दोष रे
त्रिविध अवंचक जोग थी, लहै अध्यातम सुख पोष रे ॥प्र.॥२॥
दुरदशा दूरे टलै, भजे मुदिता मैत्री भाव रे

वरते नित चित मध्यस्थता, करूणमय शुद्ध स्वभाव रे।।प्र०।।३।।
निज स्वभाव स्थिर कर धरे, न करे पुदगलनी खच रे
साखी हुई बरते सदा, न कहा परभाव प्रपंच रे ।।प्र०।।४।।
सहज दशा निश्चय जगे, उत्तम अनुभव रसरंग रे
राचे नहीं परभावशुं, निज भावशुं रग अभंग रे ।।प्र०।।५।।
निज गुण सब निज में लखै, न चखे परगुणनी रेख रे।
खीर नीर विवरो करे, अै अनुभव हंस शुं पेख रे।।प्र०।।६।
निर्विकल्प ध्येय अनुभवे, अनुभव अनुभवनी पीस रे।
और न कबहु लखी शके, 'आनन्दघन' प्रीत प्रतीत रे ।।प्र०।।७।।

(३२) ३ श्री ज्ञानसारजी के अनुसार यह स्तवन श्री देवचन्दजी कृत का अनुजान होता है। (भूमिका देखिये) यह स्तवन श्री पं० मंगलजी उद्धवजी शास्त्री सम्पादित गुजराती की पुस्तक से लिया गया है। और कही देखने में न आने के कारण पाठान्तर नही दिये जा सके।

शब्दार्थ—पाद-पंकज = चरण कमल। जस = जिसकी। वासना = सुगंध। अवम = अगम्य है। अनूप = अनूठी है। मन-मधुकर = मन रूपी भँवरा। पंक = कीचड़। दुरंदशा = बुरी अवस्था, मिथ्यात्व। मुदिता = प्रसन्नता। खंच = खींचातानी। रांचे = घुल मिलना, मस्त होना। विवरो करै = निर्णय करना। पेख = देखना। पीस = अभ्यास। प्रतीत = विश्वास।

अर्थ—तेवीसवें तीर्थंकर भगवान श्री पार्श्व नाथ के चरण कमलो को मैं प्रणाम करता हूँ-वंदन करता हूँ। जिन चरण कमलों की सुगंधी अगम्य है-जो जानी नही जा सकती है और अनूठी व अनुपम है। मेरा मन रूपी भ्रमर (भँवरा) प्रभु के गुण रूपी मकरंद मे मोहित हो रहा है। अनादि कालीन मलीनता छोडकर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है। ।।१।।

प्रभु श्री पार्श्वनाथ के चरण कमल की सेवा से कलंक—अशुभ कर्म रूपी कीचड के लगने की शंका भय—जरा भी नही है और न राग—द्वेष

जनित दुख, भावो की चंचलता, शुभ प्रवृत्तियों मे अरोचकता तथा प्रमाद से उत्पन्न खेद होन की शका नही रहती है। इससे मन वचन, और काया के शुद्ध योग से आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ती होती है ॥२॥

श्री पार्श्व नाथ भगवान के स्मर्ण से मिथ्यात्व दशा दूर हो जाती है और प्रसन्नता, मैत्री भाव, मध्यस्थता (समता), कारूण्य भाव आदि शुद्ध स्वभाव मन मे सदैव बने रहते है ॥३॥

श्री पार्श्व नाथ भगवान की भक्ति से आत्मा अपने स्वभाव मे स्थिरता सहज ही धारण कर लेनी है और जडवस्तु–पुद्‌गल का आकर्षण नष्ट हो जाता है। इसके पश्चात आत्मा साक्षी भाव मे रहता है अनात्मिक भाव –हर्ष शोकादि पर भावों का प्रपंच कदापि नही रहता है अर्थात् मोह के अनेकानेक प्रपंचजाल –जजाल जरा भी नही रहते हैं ॥४॥

भगवान श्री पार्श्वनाथ की सेवा से आत्मा की स्वाभाविक दशा निश्चय ही जाग्रत हो जाती है और अनोखे अनुभव रस के रंग मे मन झूलता रहता है। मन परभावों–पौदगलिक भावो मे जरा भी नही फसता है। वह तो केवल आत्म भाव मे मग्न रहता है ॥५॥

श्री पार्श्व नाथ भगवान के स्मर्ण से आत्मा अपने सम्पूर्ण गुणो को अपने मे देखता है–अनुभव करता है और परभाव–पौद्‌गलिक राग–रस का जरा भी आस्वादन नही करता है। जिस प्रकार हंस पानी और दूध सहज ही अलग कर के दूध को ग्रहण करता है उसी प्रकार आत्मा अनुभव ज्ञान से विभाव दशा छोड़कर अपनी स्वभाव दशा को ग्रहण करता है ॥६॥

भगवान श्री पार्श्वनाथ की भक्ति से आत्मा अनुभव ज्ञान के अभ्यास द्वारा उत्पन्न दशा से संकल्प विकल्प रहित अवस्था का अनुभव करता है। ऐसे शुद्ध स्वभवा की जाग्रति के विना आनन्द के समूह–परमात्मदशा की कदापि प्रतीति नही होती है अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्मपद की प्राप्ति तो शुद्ध आत्मिक स्वभाव के विना नही होती है ऐसा आनन्दघनजी कहते हैं ॥७॥

श्री महावीर जिन स्तवन (२४)१

(राग धन्यासिरी)

वीरजी नैं चरणे लागूं, वीरपणूं ते मांगू रे ।
मिथ्यामोह तिमिरभय भागू, जीत नगारूं वागू रे ।।वीर०।।१।।
छउमच्छ वीरय लेस्या सगे, अभिसंधिज मति अगेरे
सूछमथूल क्रिया नें रगे, योगी थयो उमगेरे ।।वीर०।।२।।
असख प्रदेसे वीर्य असखे, जोग असखित कंखेरे ।
पुद्गल सिण तिणे ल्यैसु विशेखे, यथासकति मति लेखेरे । वीर०।।३।।
उत्कृष्टे वीरय नैं वेसे, जोग क्रिया नवि पेसेरे ।
जोग तणी ध्रुवता नैं लेसे, आतम सगति न खेसेरे ।।वीर०।।४।।
कामवीर्य वसे जिम भोगी, तिम आतम थयो भोगी रे ।
सूरपणैं आतम उपयोगी, थाइ तेहनैं अयोगी रे ।।वीर०।।५।।
वीरपणूं ते आतम ठाणे, जाण्यूं तुमथी वाणे रे ।
ध्यान विनाणे सकीत प्रमाणे, निज ध्रुवपद पहिचाणे रे ।।वीर०।।६।।
आलबन साधन जे त्यागे, पर परणित नैं भांगे रे ।
अक्षय दर्शन ग्यान विरागे 'आनंदघन' प्रभु जागे रे ।।वीर०।।७।।

(२४) १—यह स्तवन भी ज्ञान विमल सूरि जी कृत कहा जाता है। इस स्तवन पर भी उन की टीका नही है। हमारे पास की अन्य प्रतियो मे यह स्तवन नही है। केवल श्री ज्ञान विमल सूरि जी वाली प्रति मे है और मुद्रित तीन प्रतियों में है। पाठान्तर मुद्रित प्रतियो के दिये गये हैं (विशेष के लिये भूमिका देखे) पाठान्तर—वीर जी नै = वीर जिनेश्वर (मं, मा) वीर जीने(वि) छउमच्छ = छउमत्थ (म), छउमथ्थ (मा), छउमथ (वि) वीरय = वीरज (मं मा)। सूछम = सूक्ष्म(मं, मा, वि,)। जोगी = योगी (मं, मा,

वि,) । असंख = असख्य (म', मा, वि,)। सिरण = गरण (म', मा, वि,) । तिरणे = तेरण (मं, मा,) । लेसु = लेशु (म'; मा,) । सकति = शक्ति (म', मा,)। वीरय = वीरज (म', मा,) । वेमे = वेखे(वि)जोग = योग (ग', मा, वि,)। सगति = शक्ति (म', मा,) । जिम = जेम (म',मा,) । तिम = तेम (म', मा,) । सूरपणे = सूरपणो (म',) । थाइ = थाय ('म, मा,) । थाये (वि,) । तेहने = तेह (म', मा,)। जाण्यूं = जाण्यु' (म', मा,) । तुमथी = तुमची (म', मा, वि,) आलंवन....भांगेरे—यह पंक्ति 'वि' प्रति मे नहीं है । परणित = परिणतिने (मं,मा, ।विरागे = वैरागे (म',मा,) ।

शब्दार्थ—तिमिर = अंधकार । भागू = भागगया, दूर हो गया । वागूं रे = वजरहा है । छउमच्छ=छद्मस्थ । अभिसधिज = आत्म शुद्धि की अभिलाषा, योगभिजनित, विशेष प्रयत्न से उत्पन्न । सूछम = सूक्ष्म । थूल = स्थूल । कखरे = कांक्षा, अभिलाषा करते हैं सिरण = सेना । पेसेरे = प्रवेश करती है । खेसेरे = स्खलित होती है, डिगती है, खिसकती है । विनारणे = विज्ञान । विरागे = वैराग्य ।

अर्थ—मै उन अंतिम तीर्थंकर वीर भगवान (महावीर भगवान) के चरणों मे वंदना करता हूं, जिनके मिथ्यात्व मोहनीय रूप अंधकार का भय दूर हो गया है और जिनके कर्म-शुत्रुओं पर विजय के नगारे वजे हैं । ऐसे भगवान महावीर से मैं उनके जैसा ही वीरत्व मांगता हूं जिस वीरत्व (शौर्य) से उन्होंने कर्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी ।।१।।

छद्मस्थ अवस्था मे (मदकषायी अवस्था मे) क्षायोपशमिक वीर्य (आत्मोल्लास) और शुभलेश्या के साथ अपनी अभिसंधिज (सदुद्देश्य मे प्रयत्न-शील) बुद्धि को उनका अंग (भाग) वनाकर, सूक्ष्म (आत्मिक-ध्यान) और स्थूल (व्यवहारिक-महाव्रतादिपालन) क्रिया में रंगकर उमंग से श्री महावीर भगवान योगी हुये है ।।२।। (यह सयोगी केवली बनने का वर्णन है)

असंख्य आत्म प्रदेश में असंख्य वीर्य-आत्मवल है । इससे असंख्य मन, वचन और काया के योगों की आकाक्षा होती है अर्थात् योगों की प्रवृत्ति होती

है। उस योग प्रवृत्ति के बल से आत्मा बुद्धि द्वारा यथा शक्ति पुद्गल सेना-कर्मवर्गणा की शुभ लेश्या से गणना करती है अर्थात् कर्मवर्गणा को यथाशक्ति ग्रहण करती है ॥३॥ (यहाँ सयोगी केवली अवस्था में योगों द्वारा कर्मवर्गणा ग्रहण का वर्णन है)

आत्मा योगों द्वारा कर्मवर्गणा को ग्रहण करती है यह ऊपर बताया गया है। किन्तु जो आत्मा उत्कृष्ट वीर्य-आत्म-बल के प्रभाव मे आ जाती है, उस आत्मा मे योग-मन, वचन और काया का व्यापार प्रवेश नही पाता है अर्थात् उस आत्मा में योग प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योकि योगों की ध्रुवता-स्थिरता से आत्मा लेश मात्र भी आत्म-बल से खिसकती नही है—डिगती नही है ॥४॥ (यहाँ चौदवें गुणस्थान मे अयोगी अवस्था का वर्णन है)

जिस प्रकार भोगी-कामी व्यक्ति उत्कृष्ट काम-वासना के वशीभूत होता है उसी प्रकार आत्मा क्षायिकवीर्य से अपने गुणो को भोगने वाला है-आत्मा मे रमण करने वाला है। इस शौर्य गुण से आत्मा उपयोगमय होकर अयोगी अवस्था प्राप्त कर लेता है। अर्थात सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है ॥५॥

यह वीरत्व-शौर्य आत्मा में ही स्थित है। इस बात को मैंने आपकी (महावीर की) वाणी से-उपदेश से (जो आगमों मे है) जान लिया है। मेरी शक्ति के अनुसार मैंने ध्यान से और विशेष ज्ञान से (श्रुत ज्ञान से) अपने शांति रूप अचल स्थान-मोक्ष पद को पहचान लिया है ॥६॥

पूर्ण वीर्योल्लास से-अदम्य उत्साह से जिसने सम्पूर्ण बाह्य और अभ्यन्तर आलंबनों और साधन (साधना के सहायको) को त्याग दिया और पर परणति-आत्मा से भिन्न भावो को नष्ट कर दिया है, वही अक्षय (कभी नष्ट न होने वाला), शाश्वत दर्शन ज्ञान और वैराग्य से (तटस्थवृत्ति से) आनंद से भरपूर-आनंदमय-प्रभु-(परमात्मा) रूप होकर जाग्रत रहता है। अर्थात् सिद्ध परमात्मा अरूपी द्रव्य आत्मा सदैव आत्मज्योति से दीप्यमान रहता है-जगमगाता रहता है। ॥७॥

श्री महावीर जिन स्तवन (२४)२

(पंथडो निहालूं रे बीजा जिन तणो रे-ए देसी)

चरम जिणेसर विगत सरूपनूं रे, भावूं केम सरूप ।
साकारी विण ध्यान न सभवेरे, ए अविकार अरूप ।।चरम०।। १।।
आप सरूपै आतम मां रमेरे, तेहना धुर वे भेद ।
असख उक्कोसै साकारीपदेरे, निराकारी निरभेद ।।चरम०।।२।।
सूखमनाम करम निराकार जे रे, तेह भेदे नहीं अंत ।
निराकार जे निरगत करमथीरे, तेह अभेद अनंत।।चरम०।।३।।
रूप नहीं कइयै बधन घटूयूं रे, बध न मोख न कोय ।
बध मोख विण सादि अनतनू रे, भंग सग किम होय।।चरम०।।४।।
द्रव्यबिना तिम सत्ता नवि लहे रे, सत्ता विण स्यो रूप ।
रूप बिना किम सिद्ध अनंततारे, भावूं अकल सरूप ।।चरम०।।५।।
आतमता परणित जे परिणम्यारे, ते मुझ भेदाभेद ।
तदाकार विण मारा रूपनूं रे, ध्यावूं विधि प्रतिषेद ।।चरम०।।६।।
अतिमभव गहिणे तुझ भावनूं रे, भावस्यूं सुद्ध सरूप ।
तइयै 'आनंदघन' पद पामस्यूरे, आतम रूप अनूप ।।चरम०।।७।।

(२४)२—यह स्तवन श्रीज्ञानसारजी कृत है। यह पद हमारी किसी और प्रतियो मे नही है, केवल श्री ज्ञानसारजी वाली प्रति मे ही है। इस स्तवन का उन्होने अर्थ किया है। एक मुद्रित प्रति गुजराती मे है, जो प० मंगलजी उद्धवजी द्वारा सम्पादित है। उससे ही पाठातर दिया गया है। इस प्रति मे आनदघनजी के नाम के दो स्तवन श्री पार्श्वनाथ और श्री महावीर के और हैं वे भी आगे दिये जाते है। पाठां०—जिणेसर = जिनेश्वर (म)। सरूप = स्वरूप (म)। सरूपे = स्वरूपै (मं)। असंख = असंख्य (म)। निरगत =

(८)

कूड़ी दुनीहंदा वे अजव तमासा ।
पाणी की भींत पवन का थंभा, वाकी कव लग आसा ॥कूड़ी॥१॥
झटा वधार भये नर मुनी, मगन भय जेसा भैंसा ।
चंवड़ी उपर खाख लगाई, फिर जैसा का तैसा ॥कू०॥२॥
कोड़ी-कोड़ी कर एक पइसा जोड्या, जोड्या लाख पचासा
जोड़-जोड कर काठी कीनी, संग न चल्या इक मासा ॥कू०॥३॥
केइ नर विणजे सोना रूपा, केइ विणजे जुग सारा ।
'आनन्दघन' प्रभु तुमकुं विणज्या जीत गया जुग सारा ॥कू०॥४॥

(इति अध्यात्म सज्झाय ।–विनय सागर जी के फुटकर पत्र से)

(९)

प्यारा गुमान न करिये, संतो गुमान न धरिये । प्या०॥
थोडे जीवन नें मान न करिये, जनम-जनम करि गहिये ॥१॥प्या०॥
इस गन्दी काया के मांही ममता तज रहिये ॥२॥ प्या०॥
'आनन्दघन, चेतन में मूरति भक्ति सुं चित हित धरिये ॥३॥प्या०॥

(१०) राग काफी

नैनां मेरे लागे री, श्याम सुन्दर वृजमोहन पिय सुं नैना मोहे लागे री
विन देखे नही चैन सखि री, निश दिन एक टक जागे री ॥नै०॥
लोक लाज कुल कान विसारी ह्वाँ ही सों मन लागे री ॥नै०॥
'आनन्दघन' हित प्राण पपीहा, कुह कर प्राण पागे री ॥नै०॥

(११)

कुण खेले तोसुं होरी रे संग लागोजी आवै ।
अपने-अपने मंदर निकसी, कांइ सांवली कांइ गोरी रे॥सं० ॥१॥
चोवा चंदन अगर कुंकुंमा, केसर गागर घोरी रे ॥सं० ॥२॥
भर पिचकारी रे मुंह पर डारी (भी) जगई तनुं सारी रे ॥सं० ॥३॥
'आनन्दघन' प्रभु रस भरी मूरत, आनन्द रहि वा झोरी रे ॥सं० ॥४॥

निर्गति । करमथीरे = कर्मथीरे (मं) । कइये = कहिये (मं) । मोख = मोक्ष (मं) । किम = केम (मं) । तिम = तेम (म) । किम = केम (मं) । सरूप = स्वरूप (मं) । परणित = परिणति (मं) । भवगहिणे = भगग्रहण (मं) । सुद्ध स्वरूप = शुद्ध स्वरूप (मं) । पामस्यू = पामशुं (गं) । आतम = अंतिम (मं) । शब्दार्थ—चरम = अंतिम । विगत = बीता हुआ । साकारी = आकार वाला । अविकार = विकार रहित । धुर = प्रथम । वे = दो । उक्कोसे = उत्कृष्ट । निरभेद = भेद रहित । सूखम = सूक्ष्म । निरगत = निर्गति । स्यो = कैसा । तइयै = वह ।

कवि श्री आनंदघन जी अपने मन को उद्बोधित करते हैं—हे मेरे मनः शासन नायक अंतिम तीर्थंकर भगवान श्री महावीर के स्वरूप का चिन्तवन कर—स्मरण कर । मन कहता है—अंतिम तीर्थंकर भगवान श्री महावीर विगत स्वरूपी हैं अर्थात् विना रूप—आकार के हैं—अरूपी हैं, अतः उनके स्वरूप का किस भांति चिन्तवन—ध्यान कर सकता हूँ ? क्योंकि आकार सहित रूप के अभाव में—विना साकार आलंबन के ध्यान—चिन्तवन संभव नहीं है और भगवान श्री महावीर तो अविकारी और अरूपी है ॥१॥

आत्मा अपने स्वरूप में—आत्म स्वभाव में रमण करता है अर्थात् आत्मा अपने स्वभाव मे रमण करने वाला है । प्रथम आत्मा के दो भेदहैं । एक साकारी परमात्मा और एक निराकारी परमात्मा । साकारी परमात्मा के दो भेद हैं । एक तीर्थंकर केवली परमात्मा और सामान्य केवली परमात्मा साकारी परमात्मा उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) असंख्य हैं* और निराकारी परमात्मा (सिद्ध भगवान) भेद रहित हैं—अनंत हैं ॥२॥

---

* जैन आगमों में तीर्थंकरों की संख्या जघन्य (कम से कम) २० और उत्कृष्ट १७० और सामान्य केवलियों की संख्या जघन्य दो करोड़ और उत्कृष्ट नौ करोड़ बताई गई है । यह गणना असंख्य संख्या का ही एक भाग है अतः साकारी परमात्मा को असंख्य कहने से कोई दोष—आपत्ति नहीं है ।

किन्तु एक प्रकार से निराकारी परमात्मा के दो भेद हैं–१ सूक्ष्म नाम कर्मी निराकार परमात्मा और २ निरगत कर्मी निराकार परमात्मा।

जो सूक्ष्म नाम कर्मी निराकार परमात्मा हैं उनके भेदों का कोई अंत नही है। निर्गत कर्मी निराकार परमात्मा अभेदी और अनंत हैं अर्थात् सर्व सिद्ध असंख्यात प्रदेशात्मक भिन्न भिन्न होने से अनंत हैं ॥३॥

यहाँ तर्क है—निर्गत कर्मी निराकारी, अर्थात् अरूपी–रूप आकार रहित–हैं। जब आत्मा के कोई रूप–आकार नही है तब उस के बंध भी नहीं होसकता है। वह तीनों कालों मे अबंध माना जावेगा। जब बंध (कर्मबंध) नहीं, तो मोक्ष (कर्मक्षय) भी नही है। बंध और मोक्ष दोनों के विना निर्गत-कर्मी निराकारी परमात्मा की 'सादि अनत' विभाग के साथ संगति कैसे हो सकती है ? ॥४॥

जब कोई द्रव्य (पदार्थ) ही नहीं है तब उस की सत्ता कैसी ? अर्थात् द्रव्य के विना उस की सत्ता नही होती है। सत्ता के विना उसका रूप कैसा ? रूप के आभाव मे सिद्ध अनत क्यों ? अर्थात् रूप विना सिद्धों की अनंतता कैसी ? तब अकल स्वरूप का–अमूर्त का चिन्तवन–ध्यान कैसे करूं ? ॥५॥

भगवान का उत्तर है, (आगम माध्यम से)—मेरी आत्मा का परिणमन और परिणमित आत्मा अर्थात् आत्मता ये दोनों भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। तदाकार होकर–अपने आत्म स्वभाव मे होकर मेरे (परमात्मा के) स्वरूप का ध्यान विधिवत है और विना तदाकार हुये मेरे (परमात्मा के) स्वरूप का चिन्तवन–ध्यान प्रतिषेध है–वर्जित है ॥६॥

इस पर कवि कहते हैं–इस पंचम काल मे तो तदाकार होकर चिन्तवन करना असंभव है अत: जब मैं अंतिम भव ग्रहण कर अर्थात अंतिमजन्म लेकर आपके परमात्म स्वभावका, शुद्ध स्वरूप हो कर चिन्तवन करूंगा तब अनुपम तथा आनंद समूह आत्मरूप-परमात्म पद को प्राप्त करूंगा ॥७॥

श्री महावीर जिन स्तवन (२४)३

वीर जिनेश्वर परमेश्वर जयो, जग-जीवन जिन भूप।
अनुभव मित्ते रे चित्ते हितकारी, दाख्युं तास स्वरूप ।।वीर०।।१।।
जेह अगोचर मानस वचन ने, तेह अतीन्द्रिय रूव।
अनुभव मित्ते रे व्यकित शकित शुं, माख्युं तास स्वरूप ।।वीर०।।२।।
नय निक्षेपे रे जेह न जाणीये, नवि जिहां प्रसरे प्रमाण।
शुद्धस्वरूपे रे ते ब्रह्म दाखवे, केवल अनुभव भाण।।वीर०।।३।।
अखंड अगोचर अनुभव अर्थनो, कोण कहो जाणे रे भेद।
सहज विशुद्धये रे अनुभवनयण अे शास्त्रे, ते सवजो रे खेद
।।वीर०।४।

दिशि देखाडी शास्त्र सवि रहे, न लहे अगोचर बात।
कारज साधक बाधक रहित जे, अनुभव मित्त विख्यात ।।वीर० ।५।।
अहो चतुराई रे अनुभव मित्तनी, अहो तस प्रीत प्रतीत।
अंतरजामी स्वामी समीप ते, राखी मित्र शुं रीत ।।वीर०।।६।।
अनुभव संगे रे रंगे प्रभु मल्या, सफल फल्यां सवि काज।
निजपद सेवक जे ते अनुभव रे, 'आनंदघन' महाराज ।।वीर०।।७।।

(२४)३—यह स्तवन भी श्री ज्ञान सारजी के उल्लेखानुसार श्री देवचंद जी संवेगी कृत है। यह स्तवन भी श्री मंगल जी शास्त्री की पुस्तक से लिया हुआ है।

शब्दार्थ—दाख्युं = कहागया है। जेह = जो। अगोचर = नहीदेखा-जा सके। तेह = उनका। व्यकित = व्यक्तकिया हुआ, बताया हुआ। भाख्युं = कहा गया। तास = उनका। भाण = भानु, सूरज। सघलो = सब। समीप = पास, निकट। फल्यां = फलित हुये। सवि = सब।

अर्थ—संसार के जीवन स्वरूप, सम्पूर्ण केवली भगवानों के अधिराज और परम ऐश्वर्य के स्वामी महावीर प्रभु की जय हो। ऐसे भगवान महावीर का स्वरूप जो सब के चित्त के लिये हितकारी है—अनुभव मित्र ने कहा है ॥१,।

जो मन और वचन से अर्थात् विचार और वाणी से नही जाना जा सकता ऐसे इंद्रियों से न जानने योग्य महावीर का स्वरूप अनुभव मित्र ही जान सकता है, उसने ही (अनुभव ने ही) उनके स्वरूप को प्रकट किया है ॥२॥

जो नय–निक्षेपो से–नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत —सात नया तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव चार निक्षेपों से नहीं जाना जाता है। जिसके जानने में परोक्षादि ज्ञान की भी गति नही है। ऐसे शुद्ध स्वरूप परमात्मा को केवल ज्ञान रूप सूर्य ही बताने में समर्थ है क्यों कि यह रूप निरंजन, निर्विकल्य, निराकार, निरुपाधि है इसलिये वाणी और परोक्ष प्रमाणादि की इसे प्रकट करने मे गति नही है ॥३॥*

ऐसे अखंड, अगोचर (अलख) अनुभवगम्य परमात्मा के स्वरूप के भेद को कौन कह सकता है अर्थात् कोई बता नही सकता है वह तो आत्मा की स्वाभाविक शुद्धि होने पर ही अनुभव ज्ञान से जाना जाता है। सम्पूर्ण शास्त्र भी उस स्वरूप को बताने में असमर्थ हैं ॥४॥

सम्पूर्ण शास्त्र तो केवल मार्ग दर्शन करके ही रहजाते है, किन्तु उस अगोचर स्वरूप को प्रकाश मे नही ला सकते हैं। उस स्वरूप को प्रकाश मे लाने के लिये तो कार्य को सिद्ध करने वाला और बाधाओं रहित अनुभव ज्ञान–मित्र (सूर्य) ही प्रसिद्ध है ॥५॥

---

* यतोवाचोनिवर्तन्ते, न यत्र मनसोगतिः। शुद्धानुभववेभेद्य, तद्रूपं परमात्मनः॥ श्री यशोविजयजीकृत—परमज्योतिः पंचविशातिका।

अहो ! अनुभव–मित्र की यह कैसी चतुराई–कुशलता है ? अहो ! उसका कैसा एकनिष्ठ प्रेम है ? जो अन्तरयामी प्रभु के निकट सच्चे मित्र की तरह रह कर कार्य साधक बन रहा है ॥६॥

ऐसे अनुभव मित्र के साथ से परमात्म प्रभु प्राप्त हो गये–प्रभु से भेंट हो गई। और मनोवांछित सम्पूर्ण कार्य फलीभूत हो गये। अर्थात् आत्मा ने अपने स्वरूप को प्राप्त कर लिया॥ आत्म स्वरूप को प्राप्त करने में संलग्न जो सेवक–भक्त हैं वे अनुभव ज्ञान द्वारा अखंड आनंद रूप बनते हैं ॥७॥

---

(१२)

बनडो भलो रीझायो रे, म्हारी सुरत सुहागन सुघर वनी रे ।।
चोरासी में भ्रमत-भ्रमत अबके मोसर पाओ।
अवकी विरीयां चूंक गयो तो कीयो आपरो पावो ।।१।।वनडो।।
साधु संगत कीया केसरिया सतगुरु ब्याह रचाओ
साधू जन की जान वनी है, सीतल कलश वंदाओ ।।२।। वनडो।।
तत्व नाम को मोड बंधावो, पडलो प्रेम भराओ
पांच पचीसे मिली आतमा हिलमिल मगल गायो ।।३।। बनडो।।
चोराअी का फेरा मेटी परण पती घर आओ
निरभय डोर लगी साहव सूं जव साहिव मन भाओ ।।४।। वनड़ो।।
करण तेज पर सेज विछी है, तां पर पोढे मेरा पीवे
'आनन्दघन' पीया पर में पल-पल वारूं जीवे ।।५।। वनड़ो।।

(इति पदम्, अजमेर की पद सग्रह प्रति के अन्त मे)

(१३)

मैं कवहु भव अन्तर प्रभु पाइ न पूजै ।
अपने रस वसि रीझ के दिल वाढे दूजे ।।१।। मैं०।।
वंछित पूर्ण चरण की मैं सेव न पाई ।
तो या भव दुखिया भयो, याहि वनि आई ।।२।। मैं०।।
मन के मर्म सु मन ही मे ज्यों कूप की छैयां ।
'आनन्दघन' प्रभु पास जी अब दीजै वैयां ।।३।। मैं०।।

(इति जिन पदो, प्रति हमारे सग्रह मे)

(१४) राग भैरव

नाटकीयानां खेल से लागो मन मोरो
और खेल सव सेल हैं पण नाटक दोहरो ।।१।। ना०।।
ज्ञान का ढोर वजाव के चौहटे वाजी मांडु ।
काम क्रोध का पुतला सोजी ने काढूं ।।ना० ।।२।।
नर न वांधुले सुर सत ए ऐसा खेल जमाऊं ।
मन मोयर आगे धरूं कछु मोजां पाऊं ।।ना०।।३।।

अणि कटारी पेहर के तजुं तन की आसा ।
सरत बाधु बगने चढुं देखां तरां तमासा ॥ ना०॥४॥
सेल खेल धरती तणुं, सोना मोना न सुहाइ ।
गंशमरत विनाखेल है, ऐसा सुख जचा है ॥ना०॥५॥
उलट सुलट गृह खेल कुं, ताकुं सीस नमाउं ।
कहे 'आनन्दघन' कछु मांगहुं वेगम पद पाउं ॥ना०॥६॥

(१६ वी शताब्दी लिखित फुटकर पत्र-हमारे सग्रह मे)

(१५)

हठ करी टुक हठ के कभी, देत निनोरी रोई ॥१॥
मारग ज्युं रंगाइ के रीही, पिय सदि के 'द्वारि ।
लाजडागमन मे नही, का नि पछेवड़ा टारि ॥२॥
अनि अनुभव प्रतिम विना, काहु की हठ के नइ कतिल कोर ।
हाथी आप मते अरे, पावे न महावत जोर ॥३॥
सुनि अनुभव प्रीतम विना, प्रान जात इन ठाविहि ।
हे जिन आतुर चातुरी, दूरि 'आनन्दघन' नाही ॥ हठीली ॥४॥

(सग्रह प्रति न० ८०३२ सवत १८८६ लिखित)*

---

*(१)-१,३,४,५,७,८,६,१२,१३, और १४, इन सख्याओ के पदो के सवध मे निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा नही जा सकता है। भविष्य की शोध से ही निश्चय हो सकेगा ।

(२) पद स० २ और १०; भक्त कवि आनदघन के है। देखो-श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र सपादित "घनानद आनदघन" ग्रंथावली के पृ० ३२५ पर स्फुट पद ११ तथा पृ० २२२ पर पद सं०-१२६ ।

(३) पद स० ६ सुखानद कविका है। इसमे सुखानद की छाप है ।

(४) पद सं० ११ भक्त कवि आनंदघन का होना चाहिये । प्रकाशित पदो मे यह मिला नही । निर्णय आगे ही हो सकेगा ।

(५) पद स० १५ अधूरा है। ऊपर की पक्ति इसमे नही है। ये पंक्तियां प्रस्तुत ग्रंथावली के पृ० ७५ के पद सं० ३३ की है। (सम्पादक)

आनंदघनजी महान् योगी थे। उनकी अनुभूतियों को ठीक से समझना बहुत कठिन है। साधना की गहराई मे पहुँचने और डुबकी लगाने पर ही तत्व प्राप्त हो सकता है। प्रस्तुत ग्रंथ तो केवल जिज्ञासुओं की भूख को जगाने वाला है हिन्दी मे अब तक ऐसा कोई प्रकाशन नही हुआ। इसलिए इसकी उपयोगिता निर्विवाद है। पर प्रकाशित पाठ और उसका अर्थ अभी और संशोधनीय है। आशा है गुजराती मे जिस तरह आनंदघनजी पर कई लोगो ने यथामति लिखा है, हिन्दी मे भी ऐसे प्रयास होते रहेगे।

आनन्दघनजी के स्तवन और पदो को धीरे-धीरे लय और तालबद्ध गाते हुए उसके अर्थ मे अपने को रमाते हुए स्रोता व गायक आनन्दविभोर हो सकेंगे। एक-एक पक्ति या कड़ी को गाकर उस पर गहरा चिन्तन किया जायगा तो अवश्य ही आनन्द की गगा लहराने लगेगी। ऐसे महापुरुष की रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त करके हम अपने जीवन को पवित्र एवं निर्मल बनावें, इसी शुभ कामना के साथ अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

———

प्राग वाच्य

साधना का महत्वपूर्ण अंग ध्यान है। उसके दो प्रकार हैं—सभेद-प्रणिधान और अभेद-प्रणिधान। सभेद-प्रणिधान पद के आलम्बन से होने वाला पदस्थ ध्यान है। महर्षि पतंजलि ने इसे जप कहा है।[1] जैन साधना-पद्धति के अनुसार यह भावना का एक प्रकार है। भावना के द्वारा ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। उसके चार मुख्य प्रकार हैं—ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चरित्र भावना और वैराग्य भावना।[2] पदस्थ ध्यान या जप दर्शन भावना के अन्तर्गत हो सकता है। अर्हन् का आत्मा के साथ अभेद स्थापित कर 'स्वयं देवो भूत्वा देवं ध्यायेत्'—स्वयं देव होकर देव का ध्यान करे—इस प्रकार सर्वात्मना ध्यान करना अभेद-प्रणिधान है।

भक्ति का विकास सभेद-प्रणिधान के आधार पर हुआ है। इसकी दो धाराएं हैं—आत्मवादी और ईश्वरवादी। आत्मवादी धारा के अनुसार आत्म-स्वरूप का अनुसन्धान करना भक्ति है। ईश्वरवादी धारा के अनुसार ईश्वर के प्रति समर्पित होना भक्ति है। जैन परम्परा में भक्ति विषयक साहित्य प्रचुर मात्रा मे मिलता है। आचार्य कुंदकुंद की स्वतन्त्र कृति 'दशभक्ति' से इस धारा का प्रारभ हुआ और वह क्रमश. बढ़ती चली गई।

रामानुज, निम्बार्क, माध्व, चैतन्य और वल्लभ इन सभी सम्प्रदायो ने भक्ति की अतिशय प्रतिष्ठा की। ईश्वर की शरणागति के बिना मोक्ष नही हो सकता, इस भावना की सशक्त धारा प्रवाहित हो गई। कुछ तर्कों और वाद विवादों से ऊबी हुई जनता इस सरल और आकर्षण मार्ग की ओर आकर्षित हुई। भारतीय मानस भक्ति-मार्ग से ओत प्रोत हो गया। जैन परम्परा में भक्ति-तत्त्व मान्य था। पर भगवान के अनुग्रह का पुष्टिमार्गीय विचार उसे स्वीकार्य

१. योगदर्शन, १।२८: तज्जपस्तदर्थभावनम्।

२. ध्यानशतक ३०–३४।

नही था। मोक्ष मार्ग की त्रयी— सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—को स्वीकृति के कारण केवल भक्ति को ही मोक्ष का साधन नही माना जा सकता था। इस स्थिति मे जैन आचार्य भक्ति की वैसी धारा प्रवाहित नही कर सके, जैसी वैष्णव आचार्यों ने की।

आनदघनजी ने भक्ति मार्ग का अवलंबन लिया ? शरणागति या सिद्धान्त उनके लिए अपरिचित नही था। 'अरहते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरण पवज्जामि, साहू सरण पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरण पवज्जामि' इन चार शरणो की स्वकृति जैन परम्परा मे वहुत पुरानी है।

आनदघनजी ने शरणागति का उपयोग इस सिद्धान्त के आलोक मे किया कि भगवान मे अपनी चित्तवृत्तियो को लीन करना ही शरणागति है। भगवान से अनुग्रह की आशा करना शरणागति नही है। वे भगवद्-लीला मे विश्वास नही रखते थे। उन्होने लिखा है—

'कोई कहै लीला ललक अलख तणी, लख पूरे मन आस।
दोष रहित नै लीला नवि घटै, लीला दोष विलास॥[1],

जैन परम्परा मे भगवान् की पति के रूप मे उपासना करने की पद्धति नही रही है। फिर भी आनदघनजी ने इसका उपयोग किया है। इसमे भक्ति मार्गीय वैष्णव धारा का प्रभाव उन पर रहा है। उन्होने लिखा है—

'ऋषभ जिणेसर प्रीतम माहरो, और न चाहूं कत।
रीझ्यो साहव सग न परिहरे, भांगे सादि अनन्त॥[2]

प्रस्तुत पुस्तक मे आनदघनजी के चार ग्रथ प्रकाशित है—१. आनंदघन वहुत्तरी २. स्फुटपद ३. अन्य रचनाए ४. आनदघन चौवीसी। इनमे चौवीसी (चौवीसी तीर्थकरो की स्तुति वहुत ही महत्वपूर्ण रचना है। इसमे भक्ति की अजस्र धारा प्रवाहित है। उसमे तत्त्वज्ञान और अध्यात्म के स्रोत भी सम्मिलित हैं। स्तुतिपदो मे इस प्रकार का योग विरलता से ही मिलता है। इनकी तुलना कवीर के पदो से की जा सकती है। सोलहवी शती के उत्तरवर्ती भक्त कवियों

---

१. ऋषभजिनस्तवन, ५, पृष्ठ २५९।

२ ऋषभजिनस्तवन, १ पृष्ठ २५९।

की रचनाओं में बहुत साम्य है, इसलिए उनमे मिश्रण भी हुआ है। संग्रहकार ने इस मिश्रण को विविक्त करने का प्रयास भी किया है।[1] पर वह और अधिक विमर्श मागता है। आनदघनजी की भाषा केवल राजस्थानी नही हैं उसमें गुजराती का मिश्रण है। अन्य भाषाओ का मिश्रण भी उसमे है।

ग्रंथकार परिचय

आनंदघनजी विक्रम की १७ वी शताब्दी के महान अध्यात्म योगी थे। वे श्वेताम्बर जैन परम्परा मे दीक्षित हुए। उनका नाम लाभानंद था। अध्यात्म साधना की प्रखरता ने उनका नाम बदल दिया। वे लाभानंद से आनंदघन हो गए। उनमे अध्यात्म योग और भक्ति का मणिकांचन योग था। इसलिए उन्होने भक्ति को वीतरागता से विमुक्त नही किया। भक्ति प्रेम का उदात्तीकरण है। वह वीतरागता से विमुक्त होकर राग के बिन्दु पर भी पहुँच सकती है। इस समस्या को वही भक्त समाहित कर सकता है, जो धर्मानुराग को भी वीतरागभाव से प्रभावित रखता है।

कोई भी अध्यात्मयोगी वीतरागभाव से दूर नही जा सकता और वह किसी साम्प्रदायिक आवेश मे भी नही उलझ सकता। आनंदघनजी मे ये दोनो विशेषताए थी। वे अपनी रचनाओ मे समूची जैन परम्परा का प्रतिनिधित्व करते है। उनका अध्यात्मपरम्परा का प्रतिनिधित्व भी असदिग्ध है। उन्होने अपनी इस विशेष क्षमता के कारण 'उपाध्याय यशोविजयजी' जैसे महान् प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् को असाधारण रूप से प्रभावित किया था। उन्होने आनदघनजी के विषय मे अनेक वार अपने उद्‌गार व्यक्त किए हैं—

ऐरी आज आनंद भयो मेरे, तेरो मुख निरख निरख
रोम रोम शीतल भयो अगोअंग
शुद्ध समजण समतारस झीलत, आनंदघन भयो अनत रंग—ऐरी
ऐसी आनंददशा प्रगटी चित्त अतर, ताको प्रभाव चलत निरमल गंग
वाही गग समता दोउ मिल रहे, जसविजय झीलत ताके संग—ऐरी[2]

\+ + + +

---

१. देखे, पृ० २१६।
२. अष्टपदी

आनंदघन के सग सुजस ही मिले जब

तब आनंद सम भयो सुजस,

पारस संग लोहा जो फरसत, कचन होत ही ताके कस।

उपाध्याय यशोविजयजी ने आनदघनजी की चौवीसी मे से २२ पदों पर गुजराती मे वालववोध लिखा था। वह उपलब्ध नही है। पर योगिप्रवर आनदघनजी और प्रतिभा सम्पन्न यशोविजयजी के मिलन ने अध्यात्म और ज्ञान के समन्वय की अनूठी धारा प्रवाहित की। वह आज भी वहुत मूल्यवान है। संग्रहकार और सपादक ने उसमे से एक स्रोत को गतिशील कर जनता के लिए कल्याण का कार्य किया है। परिमार्जन की अपेक्षा होने पर भी प्रस्तुत श्रम के मूल्य को कम नहीं आंका जा सकता।

अणुव्रत विहार,
नई दिल्ली

मुनि नथमल

भूमिका

[संक्षिप्त परिचय—श्रीमद् आनन्दघनजी १७ वी शताब्दी उत्तरार्द्ध के श्वेताम्बर जैन कवि थे । इनका मूल नाम लाभानन्द था । इनकी विहार-भूमि गुजरात व्रज प्रदेश एव राजस्थान थी । मेडता (राजस्थान) मे इनका स्वर्गवास हुआ था । इनके काव्य मे ज्ञान-भक्ति और योग का मधुर मेल है । जैन दर्शन की रत्नत्रयी-सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र का सरल तथा सरस विवेचन इनके काव्य मे दर्शनीय है । जैनागमो का सार इनके काव्य मे भरा हुआ है । वे सन्त परम्परा के महान कवि थे । इनकी भक्ति प्रेम-लक्षणा है । भक्ति की भूमिका है.—अभय, अद्वेप, अखेद । यह तभी सभव है जब भक्ति निरुपाधिक हो । आनन्दघनजी ने भगवान को 'सकल जनु विसराम' बताया है । इनके समस्त काव्य मे भगवान का 'आनन्दघन' स्वरूप प्रकट हुआ है । योग दृष्टि से वे कबीर के अधिक निकट है । वस्तुत: इन्होने योग को सम्यक् चारित्र के रूप मे प्रकट किया है । इनके मुख्य ग्रन्थ हैं :

१. आनन्दघन चौबीसी, २ आनन्दघन बहोतरी । चौबीसी मे २४ जैन तीर्थकर देवो की स्तुति की गई है । ये स्तवन गीत है, जो सगुण भक्ति के परिचायक है, आनन्दघन बहोतरी मे निगुर्ण भक्ति विपयक पद है । सगीत-माधुर्य उनके समस्त काव्य मे भरपूर है । शृंगार और शान्त रस मे गीतो की रचना हुई है । शृंगार की विप्रलम्भ धारा मधुर कलनाद करती हुई शान्त रस सागर मे मिल गई है । आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इनको 'मर्मी' कवि कहा है । श्रीमद् आनन्दघनजी के विपय मे अनुसधान की अत्यन्त आवश्यकता है ।]

भक्ति कल्पलता की जड है श्रद्धा, प्रेम फूल है, सेवा सुगन्ध है, आनन्द फल है । सदाचार जल है जिससे भक्ति कल्पलता का सीचन होता है । अत: भक्त जन कहते है कि मनुष्य जीवन अमूल्य हीरा है, इसे कचरे मे मत फेंकिए ।

परन्तु ससार की माया तृष्णा मे उलझा हुआ मनुष्य हीरे को खो रहा है। सत धर्मदास ने एक पद मे कहा है .

म्हारो हीरो गवायो कचरा में ॥
इन पाँच पचीसो रे झगरा में ।
म्हारो हीरो गवायो कचरा में ॥
कोई कहे रे हीरो पूरव-पश्चिम में ।
कोई कहे रे उत्तर दखणो में ॥
पडित वेद पुराण बतावें ।
उलझ गये रे सब रगडा में ॥
म्हा ो हीरो गवायो कचरा में ।
काजी रे कीताब कुरान बतावे ।
उलझ गये सब नखरा में ॥
म्हारो हीरो गंवायो कचरा में ।
धर्मदास कहे गुरुजी हीरो बतायो ।
बांध लियो निज अचरा में ॥

हीरे की पहचान हो जाय तो झगडा रफा दफा हो जाय, परन्तु विडम्बना यह है कि मनुष्य अज्ञानाधकार मे हीरे के बदले मे काच के टुकडो को पाकर फूला नहीं समा रहा है। सचमुच देखा जाय तो मनुष्य क्षणिक सुखो की चकाचौध मे भ्रमित है। वासन्ती पवन की सुगधित लहरो मे मनुष्य यह भूल जाता जाता है कि यह क्षण भगुर जीवन ओस-बूद के समान है जरा-सी वायु का झोका आया कि धूल मे मिल जायगा। इसीलिए योगीराज ने चेतावनी देते हुए कहा है .

क्या सोवे उठि जाग बाउरे।[1].

अजलि जल ज्यू आउ घटतु है, देत पहुरिया घरी घाउ रे ॥ क्या० ॥१॥
इन्द्र चन्द्र नागिंद मूनिंद चले, कौन राजा पतिसाह राउरे।
भ्रमत-भ्रमत भव जलधि पाई तें, भगवत भगति सुभाव नाउरे ॥क्या० ॥२॥

---

१. योगिराज आनन्दघन रचित पद : राग-वेलावल

कहा विलंब करै अब बोरे, तरि भव-जल-निधि पार पाउरे ।
'आनन्दघन' चेतनमय मूरति सुद्ध निरंजन देव ध्याउ रे ।। वया० ।।३।।

'जैसे ओस की बूंद कुशा की नोक पर लटकती हुई थोड़ी देर तक ही ठहरती है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी अत्यन्त अस्थिर है, शीघ्र नष्ट हो जाने वाला है, इसलिए हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर' ।[2]

प्रसिद्ध भाषाशास्त्री मेनियर विलियम्स के अनुसार भक्ति शब्द की व्युत्पति 'भज्' से की जा सकती है । इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति-भावना, आर्यों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों के फलस्वरूप, हुआ क्रमश: श्रद्धा-उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान् के ऐश्वर्य में भाग लेना (भज् = भाग लेना) जैसे व्यापक भाव मे परिणत हुई ।[3] इस ऐश्वर्य में कोई भी भाग ले सकता है, इसके लिए संसार की आशा-तृष्णा छोड़कर ज्ञान-सुधारस पीना होगा, अन्यथा ईश्वरीय ऐश्वर्य की झलक भी नही दिखाई देगी । इस ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिए पात्रता चाहिए । श्री आनन्दघन ने यह नुस्खा बताया है :

(राग आशावरी)

आसा औरन की कहा कीजै, ज्ञान-सुधारस पीजै ।।
भटकै द्वारि-द्वारि लोकन कै, कूकर आसाधारी ।
आतम अनुभव रस के रसिया, उतरइ न कबहु खुमारी ।।आ०।।१।।
आसा दासी के जे जाये, ते जन जग के दासा ।
आसा दासी करे जे नायक, लायक अनुभी प्यासा ।।आ० ।।२।।

---

२. कुसग्गे जह ओसबिंदुए,
थोवं चिट्ठइ लवमाणए
एवं मणुयाण जीवित,
समयं गोयम ! मा पमायए ।
—महावीर वाणी : बेचरदास दोशी : पृष्ठ ६६,

३. हिंदी साहित्य का इतिहास : सम्पादक डॉ. नगेन्द्र :
अध्याय : भक्तिकाल-पूर्व पीठिका : पृष्ठ संख्या ७२.

मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अगनि परजाली ॥
तन भाठी अवटाइ पीयै कस, जागे अनुभौ लाली ॥ आ० ॥३॥
अगम पीयाला पीओ मतवाला, चिन्हे अध्यात्म वासा ।
'आनन्दघन' ह्वै जग में खेलै, देखै लोक तमासा ॥आ०॥४॥

संसार की आशा निराशा है, आशा दासी की सतान जगत् की गुलाम है। भक्त जन कहते है कि आशा-तृष्णा के वन्धन तोड़ कर मुक्त हो जाओ। आत्म-सुख मे लीन हो जाना ही स्वाधीनता है।

अज्ञान, जिसे जैन दर्शन मिथ्यात्व कहता है, जीवात्मा को ८४ लाख जीव-योनियो मे भटका रहा है। मिथ्यात्व, जीवात्मा को सत्य से विमुख रखता है। ससार-यात्रा मे पथभ्रष्ट करने वाले मिथ्यात्व के प्रभाव को देखिये कि इसके वशीभूत होकर जीवात्मा मोह-जाल मे फसती है, तृष्णा के खारे जल को पीकर अतृप्त रहती है, दु ख-ग्राह के मुख मे पडकर आर्त्तनाद करती है और क्षणिक दैहिक सुख को शाश्वत समझकर दुर्गति की खाई मे गिरती है। मिथ्यात्व जनित अभिशाप का विश्लेषण करते हुए लकास्टर विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर निनिअन स्मार्ट लिखते है :—

'मनुष्य के लिए मुख्य वाधा पाप नही है वरन् अध्यात्म विषयक अज्ञान (मिथ्यात्व) है। अज्ञान के आवरण मे लिपटे रहने के कारण मनुष्य, सत्य के दर्शन नही कर पाता; फलस्वरूप वह ससार की मोह-फास मे फंसा रहता है।[४]

---

४. The trouble with man is not in essence sin, so much as spiritual ignorance. The truth is veiled from man's sight because of his immersion in the world, and conversely, spiritual ignorance keeps him bound to the world.

—'The Religious Experience of mankind' :
Author ; Ninian Smart :
Chapter : Jainism : Page 103.

मनुष्य को अन्धकार से प्रकाश मे ले जाने के लिए ब्रह्मज्ञानी परोपकारी सन्तो ने सतत प्रयास किया है। कबीर, आनन्दघन, मीराबाई, चैतन्य-महाप्रभु, देवचन्द्र, यशोविजय, चिदानन्द प्रभृति भक्तों ने अपनी पीयूषवाणी से मनुष्य को भव पक मे पकज की तरह खिले रहने का उपदेश दिया है। यह कथन अतिशयोक्ति पूर्ण नही है कि आनन्दघन की वाणी मे कबीर का ज्ञान-मसाला, मीराबाई की तन्मयता, नरसी मेहता की प्रेम-माधुरी, चैतन्य महाप्रभु की मस्ती, देवचन्द्र की सारगर्भिता, यशोविजय की सहजता तथा चिदानन्द की खुमारी है। इसे ज्ञान-सुधारस कहिये या प्रेम-पचामृत, यह वस्तुत:' आनन्दघन' से बरसने वाला आनन्दरस है जिसे पीकर कौन ऐसा है जो नही झूमता, जो तुच्छ सासारिक सुखो से मु ह नही फेरता जो 'प्रेम-बाण' से घायल होकर प्रिय के विरह मे व्याकुल नही होता। प्रेम-बाण से घायल प्रिया का यह आत्म निवेदन क्या कत नही सुनेंगे ?

(राग–सोरठ)

कत चतुर दिल ज्यानी हो मेरो कंत चतुर दिल जानी।
जो हम चीनी सो हम कीनी, प्रीत अधिक पहिचानी हो।। मेरो०।।१।।

एक बू द को महिल बनायो, तामें ज्योति समानी हो।
दोय चोर दो चुगल महल मे बात कछु नहि छानी हो। मेरो०।।२।।

पांच अरु तीन त्रिया मन्दिर मे, राज करै रजधानी हो।
एक त्रिया सब जग बस कीनो, ज्ञान खड्ग बस आनी हो ।।मेरो०।।३।।

चार पुरुष मन्दिर मे भूखे, कबहू त्रिपत न आनी हो।
इक असील इक असली बूझै, बूझ्यौ ब्रह्म ज्ञानी हो ।।मेरो०।।४।।

चारू गति में रुलतां बीते, करम की किनहु न जानी हो।
'आनन्दघन' इस पद कू बूझै, बूझ्यौ भविक जन प्राणी हो ।।मेरो०।।५।।

वियोगावस्था मे निरावलम्बता के कारण वियोगिनी को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। विरह-पीडित आत्म-प्रिया, दुष्टो के काले-कारनामों का भण्डाफोड़ अपने प्रियतम को कर रही है। प्रिया, चिकने घड़े के समान

ढीठ, माया-जाल के आकर्षण मे फसाने वाले, कुशल षडयंत्र से आत्म-खजाने के गुण-रत्नो को चुराने वाले 'राग-द्वेष' नामक दो विकट चोरो की, अपने राजराजेश्वर अरिहत प्रभु से शिकायत करती है। इन चोरो की सहायतार्थ चार दुष्ट और बैठे हुए है—ये राग-द्वेष रूपी महाचोरो के उच्चाधिकारी है जिनका काम है प्रिया (आत्म-ललना) को इनकी माया-जाल मे फसाये रखना क्योकि इन्हे यह पता है कि माया का पर्दा हटते ही इन्हे कूच करना पडेगा; अत इन्होने भयकर कुचक्र फैला रखा है। प्रियतम शक्तिशाली है, वह इन विकराल चोरो से प्रिया को बचाने मे सब प्रकार से योग्य है। वीतराग देव 'राग-देष' नामक विकट असुरो से आत्म-प्रिया का उद्धार कर सकते हैं, अन्य किसी मे यह शक्ति नही है।

सत आनदघनजी ने रूपक अलकार द्वारा हृदयविदारक दृश्य प्रस्तुत किया है। राग–द्वेषादि महा चोरो के उच्च अफसर–बोडी-गार्डस–अगरक्षक है—क्रोध, मान, माया और लोभ। राग सम्राट है, द्वेष उसका महामत्री है, क्रोध, मान, माया और लोभ है–कुशल प्रशासक। यह नौकर शाही जीवन-महल मे घुसी हुई है, इसी कारण इतनी 'हायतोबा' मची हुई है। भगवान महावीर ने इसीलिए कहा है·

> कोह माण च माय च,
> लोभ च पाववड्ढण।
> वमे चत्तारि दोसेउ,
> इच्छन्तो हियमप्पणो ॥[५]

[जो मनुष्य अपना हित चाहता है, उसे पाप को बढाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार दोषो को सदा के लिए त्याग देना चाहिए।] रागी स्वामी की शरण से मुक्ति की आशा करना नादानी है। अत. आनन्दघनजी महाराज ने वीतराग देव की सुखदायिनी शरण मे जाने के लिए उपदेश दिया है। प्रभु की दिव्य शरण मे जाने के लिए निर्मल प्रेम-भक्ति होनी चाहिये। निर्मल मन-मदिर मे ही मन मोहन पधारेंगे, अत. प्रिया सकल्प करती है :—

---

५. महावीर वाणी : बेचरदास दोशी
कसाय-सुत्त . पृष्ठ स. ११६

(राग–वेलावल)

ता जोगे चित ल्याऊ रे वहाला ।
समकित दोरी सील लंगोटी, घुलघुल गांठ घुलाऊं;
तत्त्व–गुफा में दीपक जोऊ, चेतन-रतन जगाऊ रे वहाला ।
अष्ट-करम कडे की धूनी, ध्याना अगन जलाऊ;
उपसम छनने भसम छणाऊ, मलि-मलि अंग लगाऊ रे वहाला
आदि गुरु का चेला होकर, मोह के कान फराऊ;
धरम सुकल दोय मुद्रा सोहै, करुणा नाद वजाऊ रे वहाला ।
इह विध योग-सिंहासन वैठा, मुगतिपुरी कूं ध्याऊ;
'आनन्दघन' देवेन्द्र से योगी, वहुरि न कलि में आऊ रे वहाला ।

शुद्ध श्रद्धा और शील से विभूषित होकर प्रिया ने प्रियतम–मिलन की बात सोची है । ज्ञान–दीपक से आतम-रत्न को जगमगाकर वह अपने मन मोहन को निमत्रण भेजेगी । करुणा मे नहाकर, धर्म एवं शुक्ल ध्यान मे रमकर वह मुक्ति-महल मे प्रिय से भेंट करेगी । उसे यह ज्ञात हो गया है कि उसका प्रिय से वियोग अष्ट-कर्मों के वन्धन के कारण है । राग-द्वेष एवं काम, क्रोध, माया तथा लोभादि अष्ट-कार्मो ६ के प्रवेश-द्वार ७ है । इनको शुद्ध चारित्र द्वारा बद

६. अष्टकर्मः—ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण ३. वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयुष्य ६ नामकर्म, ७. गोत्र कर्म ८ अंतराय कर्म ।

७ इन कर्मो के वन्धन होने मे कारणभूत है मिथ्यात्व, हिंसादि की अविरति, क्रोधादि कषाय वगैरह जिन्हें आस्रव (आश्रव) तत्त्व कहते है । (आस्रव = जिससे आत्मा मे कार्यो का स्रवण हो । इन आस्रव-द्वारो को ढकने वाले आस्रवों को रोक देने वाले सम्यक्त्व-व्रत-उपशम भाव आदि है । इनके साधक समितिगुप्ति, परिसह, यतिधर्म, भावना और चारित्र को सवर तत्त्व कहते है । इससे नये कर्मवन्ध रुक जाते है । प्राचीन कर्म बधनो का क्षय करने वाले वाह्य–आभ्यन्तर तप को निर्जरा कहते है ।

—ललित विस्तरा :
रचयिताः श्रीमद हरिभद्र सूरीश्वरजी
हिंदी अनुवादः श्रीभानु विजयजीः पृष्ठ ७८

करू गी । कर्म-वन्धन टूट जाएगे, फिर प्रिय से भेंट निश्चित है। पवित्र वाइविल मे करुणा एव शुद्ध जीवन को ईश्वर मिलन का साधन वताया है .—

> Blessed are the merciful : for they shall obtain mercy
> Ble-sed are the pure in heart, for they shall obtain mercy.
>
> —The Sermon on the Mount.

करुणामय जीवन मे करुणासागर निवास करते है। कारण स्पष्ट है—जिसके हृदय मे करुणा है वह प्राणीमात्र के साथ मैत्रीभाव रखता है। करुणा-लता पर विश्व-प्रेम के पुष्प खिलते है । करुणा की दिव्य-सुगन्ध से राग–द्वेष की दुर्गन्ध समाप्त हो जाती है, प्रेमधारा वहने लगती है आनन्दघन वरसने लगते है। करुणा आनन्दघन को वुलाने की 'प्रेम-पाती' है।

निर्मल प्रेमरग मे रगी प्रिया (जीवात्मा) शृगार करती है, अनेक गुण-रत्नो से सजधज कर वह अपने शशिकान्त के दर्शन कर लेती है। मुग्धा नायिका कहती है :

(राग मारु)

मनसा नट नागर सु जोरी हो, मनसा नट नागर सु जोरी ।
नट नागर सु जोरी सखि हम, और सवन सें तोरी ।।म०।।१।।

लोक लाज नाहिन काज, कुल मरजादा छोरी ।
लोक बटाऊ हसो विरानौ, आपनो कहत न को भोरी ।।म०।।२।।

मात तात सज्जन जात, वात करत सब चोरी ।
चाखै रस की क्यु करि छूटै, सुरजन सुरिजन टोरी ।।म०।।३।।

ओरहानों कहा कहावत और पै नाहिन कीनी चोरी ।
काछ कछ्यो सो नाचत निवहै, और चा चरि चरि फोरी ।।म०।।४।।

ज्ञान सिन्धु मथित पाई, प्रेम पीयूष कटोरी ।
मोदत 'आनंदघन' प्रभु शशिधर, देखत दृष्टि चकोरी ।।म०।।५।।

ज्ञान–समुद्र का मथन करने से प्रेम-पीयूष की कोटरी प्राप्त हुई, प्रेम-सुधा का पान करने से 'आनन्दघन-चन्द्र' के दर्शन हुए। प्रिया-चकोरी मंत्र-मुग्ध होकर अपने चन्द्र को देख रही है।

प्रेम-भक्ति की भूमिका है :

'सेवन कारण पहेली भूमिका रे, अभय अद्वेष अखेद।'[८]

'महामंत्र की अनुप्रेक्षा' में श्रीमद् भद्रंकर विजयजी गणिवर लिखते हैं – जहाँ अभेद वहाँ अभय-यह नियम है। भेद से भय एवं अभेद से अभय–यह अनुभव सिद्ध है। भय ही चित्त की चंचलता रूप बहिरात्मदशा रूप आत्मा का परिणाम है। अभेद के भावन से वह चंचलता दोष नष्ट होता है एवं अन्तरात्मदशा रूप निश्चलता गुण उत्पन्न होता है।

अभेद के भावन से अभय की तरह अद्वेष भी साधित होता है। द्वेष अरोचक भाव रूप है, वह अभेद के भावन से चला जाता है। अभेद के भावन से जैसे भय एवं द्वेष टल जाते हैं वैसे ही खेद भी नष्ट होता है। खेद प्रवृत्ति में श्रान्त रूप है। जहाँ भेद वहाँ खेद एवं जहाँ अभेद वहाँ अखेद अपने आप आ जाता है[९]।

आनन्दघनजी महाराज कहते हैं कि स्वामी कितने उदार हैं कि जो उनकी सेवा निर्मल भाव (अभय, अद्वेष, अखेद भाव) से करता है उनको वे अपने समान बना लेते हैं।

वे प्रेममूर्ति हैं; उनका प्रेम समस्त प्राणियों के लिए है। वे केवल आदर्श रूप ही नहीं है अपितु संकट काल में उबारने वाले, भक्त के समीप सदैव रहने वाले भक्तवत्सल दीनबन्धु है। वे हैं सुदर्शनचक्रधारी भगवान जो दुःख-दग्ध

---

८. संभव देव ते धुर सेवो सवेरे, लही प्रभु सेवन भेद;
सेवन कारण पहेली भूमिका रे, अभय अद्वेष अखेद।
—श्रीमद् आनन्दघन रचित श्री संभवनाथ जिन स्तवन
राग–सामग्री

९. महामंत्र की अनुप्रेक्षा: पृष्ठ ११.

भक्त की तुरन्त वाह पकड़ लेते है। मोह-पक मे फसे हुए, तृष्णा रूपी ग्राह के दांतो मे कराहने वाले दु खी जीव को अपने सुदर्शनचक्र से वचाने मे वे विलम्व नही करते। वे भक्त की प्रेमपुकार शीघ्र सुन लेते है उनका सुदर्शनचक्र है-सम्यक् दर्शन। सुदर्शचक्रधारी जिनेश्वर देव की भक्ति से सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है, हिय की आंख खुल जाती है, तृष्णा और मोह के फदे टूट जाते है और जीवात्मा का उद्धार हो जाता है। श्रीमद् आनन्दघनजी ने वीतराग स्वामी का तारणहार रूप प्रकट किया है। कुरान शरीफ मे तारणहार त्रैलोक्य पूजित प्रभु के विपय मे यह वर्णन मिलता है :—

वलम् यकुल्लह
कुफोवन अहद।

(उस सर्वविभूति सम्पन्न, सर्वशक्तिसमर्थ एव कृपा-करुणा के सागर के समान और दूसरा कोई नही है।) उनकी सेवा से जहर अमृत वन जाता है, सर्प-पुष्प माल वन जाती है, वेडिया कट जाती है, दरिद्रता मिट जाती है, रोग नष्ट हो जाते है, और जीवन के काटे सुन्दर फूल वनकर महकने लगते हैं। इसीलिए सत शिरोमणिअखड विश्वास के साथ कहते हैं :—

(राग मल्हार)

दुःख दोहग दूरे टल्यां रे, सुख-सपदशु भेट;
धींग धणी माथे कियो रे, कुण गजे नर खेट।
॥ विमल जिन० ॥१॥

चरणकमल कमला वसे रे, निर्मल थिर पद देख;
समल अथिर पद परिहरे रे, पकज पामर पेख।
॥ विमल जिन० ॥२॥

मुज मन तुज पद पकजे रे, लीनो गुणमकरद;
रंक गणे मंदर-धरा रे, इंद चांद नागिद।
विमल जिन० ॥३॥

साहिव समरथ तु धणी रे, पाग्यो परम उदार;
मन विसरामी वालहो रे, आतमचो आधार।
विमल जिन० ॥४॥

दरिसण दीठे जिनतणु रे, संशय न रहे वेध;
दिनकर करभर पसरतां रे, अंधकार प्रतिषेध।
विमल जिन० ॥५॥

अमिय भरी मूरती रची रे उपमा न घटे कोय;
शांत सुधारस झीलती रे, निरखत तृपति न होय।
विमल जिन० ॥६॥

एक अरज सेवक तणी रे, अवधारो जिन देव;
कृपा करी मुझ दीजिये रे, 'आनन्दघन पद सेव।
विमल जिन० ॥७॥

आनन्दघनजी महाराज कहते है कि 'साहेव' समर्थ है, ऐसे स्वामी के सम्मुख रहने पर कोई भी दुष्ट नही सता सकता। दुःख-दरिद्र्य तो उनके दर्शन मात्र से दूर हो जाते है। उनकी सेवा से तृष्णा क्षय हो जाती है, महत्वाकाक्षा मिट जाती है; फलस्वरूप मेरुपर्वत की समृद्धि एव इन्द्र का वैभव भी तृणवत् लगते है। प्रभु के ऐश्वर्य के सामने ये सव नाचीज है, तुच्छ है।

भगवान करुणा सागर, अरिहत एव वीतराग है। करुणा की कोमलता के कारण ही इन्द्र उनकी स्तुति मे कहते है, 'पुरिसवरपुंडरीआणं-अर्थात् पुरुषों मे पुडरीक कमल के समान। पुडरीक कमल कोमलता का प्रतीक है। वे अरिहत है अर्थात् शत्रुओ का नाश करने वाले। अरि कौन ? राग-द्वेषादि। उनकी तीक्ष्णता[10] के सामने ये विकट शत्रु टिक नही पाते। उनकी कठोरता के सामने दु:ख-दारिद्र्य क्षण भर भी नही रुकते। वे वीतराग है–तटस्थ, माध्यस्थ वृत्तिवाले, समतारस के सागर। आनन्दघनजी महाराज इसीलिए उन्हे 'शान्त-

---

१०. देवेन्द्र उनकी स्तुति मे कहते हैं:—पुरिससीहाणं = पुरुषो मे सिंह के समान,
नमत्थुणं–शक्रस्तव सूत्र

सुधारस सागर' कहते है । भगवान की कोमलता, तीक्ष्णता तथा उदासीनता के गुणो की 'ललित त्रिभगी' विचित्र है :

शीतल जिनपति ललित त्रिभगी, विविध भगी मन मोहे रे;
करुणा कोमलता तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ।

सर्वजंतु हितकरणी करुणा, कर्म विदारण तीक्षण रे;
हानादान रहित परिणामी, उदासीनता वीक्षण रे ।

(ग्रानन्दघन कृत श्री शीतलनाथ जिन स्तवन से)

प्रभु की 'सर्वजतु हितकरणी करुणा' का उल्लेख सकलार्हत् सूत्र मे इस प्रकार हुग्रा है :

कोमलता

प्राणियो के परमसुख रूप ग्रंकुर को प्रकट करने के लिए नवीन मेघ-समान, तथा स्याद्वादरूप ग्रमृत को बरसाने वाले श्री शीतलनाथ भगवान तुम्हारी रक्षा करे ।[११]

ग्रपराध किये हुए प्राणियो पर भी दया से भूकी हुई (ग्राख की) पुतली वाले ग्रौर थोड़े ग्रासुग्रों से भीगे हुए नेत्र वाले श्री महावीर भगवान महामंगल-कारी है ।[१२]

तीक्षणता

राग द्वेष ग्रादि भीतर के शत्रुग्रों को हटाने के लिए किये गये ग्रधिक कोप से मानो लाल ऐसी पद्मप्रभु स्वामी की कान्तिया तुम्हारी लक्ष्मी को वढावे ।[१३]

---

११. सकलार्हत सूत्रः स्तुति सख्या १२;
१२. स्तुति २७;
१३. स्तुति ८;

उदासीनता

अपना अपना उचित-योग्य कार्य को करते हुए कमठ नाम के दैत्य पर और धरणेन्द्र पर समान भाव वाले श्री पार्श्वनाथ भगवान् तुम्हारा कल्याण करें।[१४]

उदासीनता वीतरागता की प्रतीक है। वीतराग स्वामी का स्वरूप बताते हुए श्रीमद् भद्रकरविजयजी गरिणवर 'महामत्र की अनुप्रेक्षा मे लिखते है :—

'वीतराग अर्थात् करुणानिधान एवं माध्यस्थ गुण के भण्डार, तथा वीतराग अर्थात् अनन्तज्ञान, दर्शन स्वरूप केवल ज्ञान एव केवल-दर्शन के स्वामी सर्ववस्तु को जानने वाले एव देखने वाले होते हुए भी सभी से अलिप्त रहने वाले, सभी के ऊपर स्वप्रभाव को डालने वाले, पर किसी के भी प्रभाव मे कभी भी नही आने वाले प्रभु। देवाधिदेव करुणासागर की अभय शरण अघहरणी, दुःख नाशिनी एव सुख-सम्पत्ति प्रदायिनी है।'[१५] भगवान् का वचन है :—

'न मे भक्तः प्रणश्यति'

मेरे भक्त का कभी नाश नही है अर्थात् मेरी दृष्टि से दूर नही होता है।

श्रीमद् आनन्दघनजी ने जिनेश्वरदेव का तारणहार स्वरूप जनता के सामने रखकर इस भ्रम का निवारण कर दिया है कि वे केवल मार्गदर्शक एव आदर्शरूप ही है। उनकी चरण-सेवा सुख-सम्पत्ति एव सम्पन्नता प्रदान करती है; अनेक मगल होने लगते है और आनन्द के बाजे बजने लगते है। इसीलिए आनन्दघनजी ने दीनानाथ को 'धींगधणी'—समर्थ स्वामी कहा है।

श्रीमद् आनन्दघनजी ने समन्वय-दृष्टि से भगवत्स्वरूप को प्रकट किया है। जैन दर्शन अनेकान्त दर्शन है। अनेकान्त अर्थात् निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर भगवान भिन्न-भिन्न रूपो मे दिखाई देते है। उनके भिन्न-भिन्न नाम उनके विशिष्ट गुणो के कारण हैं। वे निर्गुण होते हुए भी दिव्य गुण-रत्नो से विभू-

---

१४ स्तुति २५;

१५. महामत्र की अनुप्रेक्षा : पृष्ठ ४६.

पित है; वे निरजन होते हुए भी समस्त प्राणियो से प्रेम-सूत्र से वधे हुए हैं। प्रभु के विविध नामो की महिमा मे श्रीमद् आनन्दघनजी कहते है :

श्री सुपास जिन वंदीए सुख सपत्ति नो हेतु। ललना०
शांत सुधारस जलनिधि, भवसायर मां सेतु ॥ ललना० श्री सु० ॥१॥
सात महाभय टालटो, सप्तम जिनवर देव। ललना०
सावधान मनसा करो, धारो जिनपद सेव ॥ ललना० श्री सु० ॥२॥
अलख निरजन वच्छलु, सकल जतु विसराम। ललना०
अभयदान दाता सदा, पूरण आतमराम ॥ ललना० श्री सु० ॥३॥
वीतराग मद कल्पना, रतिअरति भय सोग। ललना०
निद्रा तद्रा दुरदसा, रहित अबाधित योग ॥ ललना० श्री सु० ॥४॥
परम पुरुष परमात्मा, परमेश्वर परधान। ललना०
परम पदारथ परमेष्ठी, परमदेव परमान ललना० श्री सु० ॥५॥
विधि विरचि विश्वभरु, हृषीकेश जगन्नाथ। ललना०
अघहर अघमोचन धणी, मुक्ति परमपद साथ ॥ ललना० श्री सु० ॥६॥
इम अनेक अभिधा धरे, अनुभव गम्य विचार। ललना०
जो जाणे तेहने करे, आनन्दघन अवतार ॥ ललना० श्री सु० ॥७॥

प्रभु 'सकल जतु विसराम' है। जिस प्रकार मा की गोद मे शिशु आनद पूर्वक सोता है, उसी प्रकार भगवान की अभय शरण मे समस्त प्राणी सुख पाते है। वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश है, वे जगन्नाथ है, वे पाप-क्लेश का नाश करने वाले अघमोचन है।

ई० १७ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे भारत मे औरगजेब का शासन काल था। उस समय धार्मिक कट्टरता के कारण हिन्दू-मुसलमानो के बीच अलगाव था। साम्प्रदायिक सकीर्णता ने समाज मे विषमता उत्पन्न कर दी थी। आर्थिक पिछडेपन के कारण जनता मे घोर निराशा थी। पाखडी धर्म के नाम पर भोली भाली जनता को ठगते थे। हरिजनो की दशा दयनीय थी। धार्मिक कर्म-काडो मे धर्म कैद था। ऐसे समय मे सन्त आनन्दघनजी ने भेद भाव को दूर करने के लिए सत्प्रयास किया। उन्होने घोषणा की कि राम-रहीम कृष्ण-करीम, महादेव एव पारसनाथ एक ही भगवान है :

राम कहौ रहेमान कहौ, कोउ कान्ह कहौ महादेव री ।
पारसनाथ कहौ कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ।।राम०।।१।।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृतिका रूप री ।
तैसे खंड कल्पनारोपित. आप अखंड सरूप री ।।राम०।।२।।
निज पद रमैं राम सो कहिये, रहम करै रहमान री ।
करषै करम कान्ह सो कहिये महादेव निरवाण री ।।राम०।।३।।
परसै रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म चीन्है सो ब्रह्म री ।
इह विध साधो आप 'आनन्दघन' चेतनमय नि.कर्म री ।।राम०। ४।।

मिट्टी के पात्र भिन्न-भिन्न रूपो मे बनते है, परन्तु मिट्टी एक ही है; उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नाम है, परन्तु भगवान का स्वरूप एक ही है । रग-बिरगे लैम्पो मे ज्योति रग-बिरगी दिखाई देती है, पर ज्योति का स्वरूप तो सभी लैम्पों मे समान है । निज स्वरूप मे रमण करने वाला राम है, जो रहम अथवा दया करता है वह रहमान है; जो कर्मो का कर्षण कर आत्म स्वरूप को प्रकट करता हैं वह कृष्ण है; महादेव वह है जो निर्वाण प्राप्त कर लेता है । जो निज स्वरूप को परस ले वह पारसनाथहै । आनन्दघन वही है जो शुद्ध चेतनमय है । जैन दर्शन के स्यादवाद (अनेकान्त-दर्शन) के मर्मज्ञ सत आनन्द-घनजी ने भगवान का सर्वव्यापी सहज स्वरूप जन साधारण को बताकर महोपकार किया है । इस महान सत ने धर्मांधता, सकीर्णता, असहिष्णुता, एव दुराग्रह से पीडित मरणोन्मुख मानव को एकता का अमृत पिलाया । उन्होने समाज मे व्याप्त नैराश्य अधकार को दूर कर आशा का दीपक जलाया । जो धर्म मठाधीशो एव बगुला भक्तो के आडम्बर रूपी कीचड मे फंस गया था, उसे मुक्त कर सामान्य जन-मानस मे कमल की तरह खिला दिया ।

सत आनन्दघनजी ने कर्मकाड का खडन किया है परन्तु शुद्ध क्रिया का समर्थन किया है क्योकि यह मोक्ष प्राप्ति का साधन है । वे घोषणा करते हैं :

निज स्वरूप जे क्रिया साधे, तेह अध्यात्म लही रे;
जे किरिया करी चउगति साधे, ते न अध्यात्म कहीए रे ।
(श्री श्रेयास जिन स्तवन)

जिस क्रिया से, जिस चरित्र से, जिस जीवनचर्या से निजस्वरूप की प्राप्ति होती है वही शुद्ध क्रिया है; जिस क्रिया से-आडम्बर युक्त कर्मकाण्ड से चार गतियो (देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी, मे भ्रमण करना पडे, वह आध्यात्मिक क्रिया नही कही जा सकती, उस जीवन को कोई भी पवित्र नही कहेगा।

शुद्ध क्रिया की आधार शिला है शुद्ध श्रद्धा-सम्यक्दर्शन (Right Faith) शुद्ध श्रद्धा से निर्मल भक्ति उत्पन्न होती है। प्रभु सेवा मे उमग रहती है, आनन्द धारा बहती रहती है। भक्त के सारे कार्य-कलाप सहज हो जाते है। यान्त्रिक नही। शुद्ध श्रद्धा आने पर अन्तर्दृष्टि खुल जाती है, प्रभु का शुद्ध स्वरूप समझ मे आ जाता है, धर्म-अधर्म का विवेक हो जाता है मोह का पर्दा हट जाता है। शुद्ध श्रद्धा शिव का त्रिनेत्र है जिसकी प्रखर अग्नि-ज्वाला मे अज्ञान भस्म हो जाता है। शुद्ध श्रद्धा के बिना मुक्ति-मन्दिर पहुँचना असम्भव है। श्रद्धा हीन क्रियाएं निष्फल होती है :

'शुद्ध श्रद्धान विण सर्व क्रिया करे, छारपर लींपणु तेह जाणो।'[१६]
श्रद्धा विहीन भक्त की समस्त क्रियाएँ राख पर लीपन के समान है। राख पर लीपना व्यर्थ है।

शुद्ध श्रद्धा (सम्यक्दर्शन) आने पर भक्त का सारा जीवन, उसका समस्त आचरण आनन्दघन के चरणो मे चढने वाला पुष्प बन जाता है। देखिये, श्रद्धावान मस्त फकीर का यह रूप :

मेरे प्रान आनन्दघन तान आनन्दघन ॥

मात आनन्दघन तात आनन्दघन।
गात आनन्दघन जात आनन्दघन ॥ मे० ॥१॥
राज आनन्दघन काज आनन्दघन।
साज आनन्दघन लाभ आनन्दघन ॥ मे० ॥२॥
आभ आनन्दघन गाभ आनन्दघन।
नाभ आनन्दघन लाभ आनन्दघन ॥ मे० ॥३॥

---

१६. आनन्दघन कृत श्री अनतनाथ जिन स्तवन से उद्धृत।

महर्षि अरविंद कहते है :

'तुम भगवान के दिव्य रूप को अपने जीवन मे प्रकट करो। तुम प्रभु-मय बनो, उसके प्रकाश मे चमको, अपने कार्यकलापो मे उसकी दिव्य शक्ति प्रदर्शित करो, उसके आनन्द मे रमण करो। प्रभु के आनन्द मे, उसकी महिमा मे, उसके सौंदर्य मे, जीवन को रग दो।'[१७]

सत साईबाबा विश्वास पूर्वक बताते है :

जीवन वृक्ष के समान है। प्रभु के प्रति श्रद्धा वृक्ष की जड है। हमारे सारे सम्बन्ध वृक्ष की शाखाएँ है। बुद्धि सुगन्धित फूल है। आनन्द फल है। उस फल का रस है चरित्र।[१८]

निर्मल श्रद्धायुक्त भक्त का जीवन प्रभुमय बन जाता है। उसकी समस्त क्रियाएँ विमान की तरह उडकर उसे आनन्दसागर के पास पहुँचा देती है। इसीलिए सन्त छोटमजी डके की चोट कहते है.

आनन्दसागर सोई सतो भाई आनन्द-सागर सोई;
जीहां द्वैत रहे नहीं कोई, सतो भाई आनन्दसागर सोई।
सोह हस जीहाँ लय पावे अनहद ज्योति समावे;
आनन्दसागर जो जन पावे, सो भव मे न आवे॥

---

१७. it is to discover God as thyself and reveal him to thyself in all things Live in his being, shine with his light, act w'th his power, rejoice with his bliss Be that joy and the greatness and that beauty.

—The Hour of God : Shri Arvindo ; Page 11

१८. Our life is like atree, Faith in God is the root of the tree. Our relations are its branches. The intellect is like a fragrant flower. Its fruit is bliss. The juice of that fruit is caracter

—Saint Saibaba : The Illustrated Weekfy of India Vol XC : 21-3-71

निर्मल श्रद्धा से निर्मल जीवन वन जाता है; द्वैतता मिट जाती है; भक्त और भगवान एकाकार हो जाते है; भक्त के जीवन की आनन्दधारा आनन्दसागर मे मिल जाती है। भक्त को आनन्दघन के चरण-कमलों में स्थान प्राप्त हो जाता है।

ज्ञान-भक्ति योग के समन्वय से निज स्वरूप का वोध हो जाता है। संसारी जीव की तीन अवस्थाएँ है : १. वहिरात्मा २. अन्तरात्मा, ३. परमात्मा वहिरात्मा देह को ही आत्मा मानता है, वह दैहिक सुख मे रचा-पचा रहता है। आनन्दघनजी महाराज वहिरात्मा को 'अघरूप' मानते है। अपने सुख को जुटाने मे व्यस्त वहिरात्मा अनेक कुकर्म करके दुर्गति मे गिरता है। अन्तरात्मा वे है जो मोह-निद्रा से जागकर निज स्वरूप प्रकट करने के लिए प्रत्यनशील हो जाते है। अपनी शुद्ध साधना से आत्माराम परमात्म-पद प्राप्त कर लेते है। जव मोह नीद टूट जाती है तव जाग्रत जीव को यह भान हो जाता है कि देह और आत्मा भिन्न है।[१९] योग मे इस अवस्था को जागृति कहते है, जैन दर्शन इसे 'सम्यक्त्व' प्राप्ति कहता है। 'सम्यक्त्व' शुद्ध श्रद्धा को कहते है। जैन दर्शन मे 'चौहद गुण स्थानो का वडा महत्व है। यह 'मुक्ति-सोपान' है जिस पर जीवात्मा चढ़कर मुक्त मन्दिर मे पहुँचती है। मुक्ति-सोपान की १४ पायडिया है। प्रथम तीन पायडियाँ मोहावृत्त है। इन पर चढते हुए जीवात्मा मायावरण मे वेभान रहती है। चौथी पायडी (सम्यक्त्व गुणस्थान) पर पॉव धरते ही उसे अपने मनमोहन के स्वरूप का भान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि चौथे गुणस्थान से जीवात्मा मुक्तिमन्दिर की वास्तविक यात्रा का शुभारम्भ करती है। ग्यारह गुणस्थानों पर पहुँचते-पहुँचते जीवात्मा को मोह-माया जन्य अनेक विघ्न-वाधाओ से जूझना पड़ता है। वारहवी पाँवडी (सक्षीण कपाय गुणस्थान) मुक्ति मन्दिर की प्रवेश पाँवडी है। १३ वी पाँवडी (सयोगी केवली गुणस्थान) पर चढते ही अन्त-र्दृष्टि पूर्णतया खुल जाती है। यही है केवल ज्ञान या ब्रह्म दर्शन। मुक्ति सोपान की अन्तिम पाँवड़ी है अयोगी केवली गुणस्थान। यह है सिद्धावस्था। आत्मा

---

१९. अन्नो जीवो अन्नं सरीरं २।१।९ सूत्रकतागसूत्र
(आत्मा और है, शरीर और है।)

परमात्मा मे समा जाती है। जीवात्मा का आनन्दघन के चरणों मे चिर निवाम हो जाता है। श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज कहते है कि वे मनुष्य कभी नही फिसलते जो निर्मल प्रेम-भक्ति से प्रभु को भजते है। 'साहेव' की भक्ति के लिए न पाडित्य की आवश्यकता है और न पैमो-टको की। ऊँच-नीच, जाति-पाति का भी कोई भेदभाव नही है। उम 'अमोलक रतनधन' को पाने के लिए निरू-पाधिक-निस्वार्थ प्रेम चाहिए। भक्त प्रेम-भाव से अपने माहेव को विनती करता है :

अवधू क्या मांगु गुनहीना, वे तो गुनगन गगन प्रवीणा ॥
गाय न जानु बजाय न जानु ने जाणु सुर भेवा।
रींझ न जानु रीजाय न जानु नै जानु पद सेवा ॥ अवधू०॥१॥
वेद न जानु कतेव न जानु जानु न लच्छन छंदा।
तरक वाद विवाद न जानु, न जानु कवि फदा ॥ अवधू० ॥२॥
जा। न जानु जुवाव न जानु, न जानु कथ वाता।
भाव न जानु भगति न जानु जानु न सीरा ताता ॥अवधू०॥३॥
ध्यान न जानु विग्यान न जानु, न जानु भजनामा।
आनन्दघन प्रभु के घर द्वारे, रटन करू गुणधामा ॥ अवधू० ॥४॥

इस पद मे प्रभु सेवा का सरल नुस्खा वताया गया है। भक्ति में विनय भाव का महत्व है। विनय भाव समर्पण की भूमिका है। प्रभु के अभय चरणो मे समर्पण से भक्त भगवान के ऐश्वर्य को पा लेता है। मामान्य व्यक्ति के लिए भी यह खजाना खुला हुआ है। भगवान महावीर स्वामी कहते हैं :

धर्म रूपी वृक्ष का मूल विनय है और उस मूल मे से प्रकट होने वाला उत्तमोत्ताम रस मोक्ष है। विनय से ही मनुष्य कीर्ति, विद्या. श्लाघा-प्रशंसा और कल्याण शीघ्र प्राप्त कर लेता है।[२०]

श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज कहते हैं कि सम्यक् ज्ञान मुक्तिदाता है। ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं : सत्शास्त्र, सुगुरू एव सत्संगति। सत्शास्त्र को सम-

---

२०. एव धम्मस्स विणओ, मूल परमो से मोक्खो।
जेण किर्त्ति सुय सिग्घ, निस्सेस चाभिगच्छइ ॥
(दशवैकालिक सूत्र. अ. ६ उ. २ गा. २)

झने के लिए अन्तर्दृष्टि चाहिये। सुगुरू के विना ज्ञान मिलना सम्भव नही। सत्सगति भी इस कलिकाल मे दुर्लभ है। इनका अकाल सा पड़ गया है। भाग्य विना इनकी प्राप्ति नही हो सकती। ऐसी परिस्थिति में दीनानाथ वीतराग स्वामी की भक्ति ही कल्पतरू के समान है। भक्ति से सब साज-सामान सहज उपलब्ध हो सकते है। इसीलिए श्रीमद् आनन्दघनजी निर्मल भाव से (अभय, अद्वेष, अखेद भाव से) प्रभु सेवा का उपदेश देते है।

ससार मे भ्रमण का कारण है ममता। भव-भ्रमण से मुक्त करने वाली है समता। भगवान समतावंत है—रागद्वेप से रहित है। समरस मे रमण करने वाली वीतराग देव की सेवा-भक्ति से समता प्राप्त होगी। समरस अर्थात् शान्त रस के क्षीर सागर मे शेषनाग (सुषुम्ना) की सेज पर सोने वाले लक्ष्मीरमण (मुक्ति लक्ष्मी के स्वामी) सच्चिदानन्द की सेवा-पूजा से ममता मिट जायगी और समता-धार प्रवाहित होगी। आनन्दघनजी महाराज समता-रग मे रमन करने का उपदेश देते हैं—

(राग—आशावरी)

साधो भाई समता सग रमीजे अवधू ममता सग न कीजै। साधो० ॥

सपत्ति नाहीं नाहीं ममता मे, रमता माम समेटे।
खाट पाट तजी लाख खटाउ, अन्त खाख में लेटे॥ साधो० ॥१॥
धन धरती मे गाडे बौरा, धूरि आप मुख ल्यावे।
मूषक सांप होइगो आखर, तातें अलच्छी कहावे॥ साधो० ॥२॥
समता रत्नागर की जाई, अनुभव चद सुभाई।
कालकूट तजी भव मे श्रेणी, आप अमृत ले जाई॥ साधो० ॥३॥
लोचन चरन सहस चतुरानन, इनतें वहुत डराई।
आनन्दघन पुरुषोत्तम नायक हितकरी कंठ लगाई। साधो० ॥४॥

आत्मप्रिया कहती है कि ममता हजारो नेत्रों से, मुझे देख रही थी, हजारो पाँवो से दौडकर मेरा पीछा कर रही थी, चारो ओर मेरी घात लगाए हुए थी। परन्तु मैने समतारस धारी प्रभु की अभय शरण पकड ली अत उसके सारे पासे उल्टे पड़े। इस ससार मे नवरस प्रवाहित है परन्तु साधुजन समता रंग मे अपने को रगते है। नव रसमय संसार की झांकी देखिये.—

१. दुःख दृष्टि से संसार करुणारस से भरपूर है।
२. पाप दृष्टि से ससार रौद्र रस से भरपूर है।
३. अज्ञान दृष्टि से संसार भयानक रस से भरपूर है।
४. मोह दृष्टि से संसार बीभत्स और हास्य रस से भरपूर हैं।
५. सजातीय दृष्टि से संसार स्नेहरस से भरपूर है।
६. विजातीय दृष्टि से संसार वैराग्य रस से भरपूर है।
७. कर्म दृष्टि से संसार अद्भुत रस से भरपूर है।
८. धर्म दृष्टि से ससार वीर और वात्सल्य रस से भरपूर हैं।
९. आत्मदृष्टि से संसार समतारस से भरपूर है।
१०. परमात्म दृष्टि से संसार भक्तिरस से भरपूर है।
११. पूर्ण दृष्टि से सभी रसों की समाप्ति शान्तरस मे होती है।

जैसे सूर्य के श्वेतवर्ण में सप्तरंग होते है, वैसे सभी रस तृष्णा क्षय रूप, शमरस रूप, स्थायी भाव, विभावानुभाव, संचारी भाव प्राप्त कर शान्तरस में परिणत हो जाते हैं।[२१]

नवरसमय संसार में भक्तजन समतारस में ही रमते हैं।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। भक्ति-ज्ञान एवं कर्म की साधना से भगवत्स्वरूप प्राप्त हो जाता है। श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज के अनुसार योग ही सम्यक् चारित्र है। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने योग को सम्यक् चारित्र माना है। आनन्दघनजी महाराज कालिकाल सर्वज्ञ की परम्परा के पहुँचे हुए महात्मा थे। भगवद् भक्त अपने जीवन को प्रभु का पावन मन्दिर बना लेता है। प्रिय मिलन के लिए प्रिया ने अपने जीवन को अत्यन्त पवित्र बना लिया है। उसका शृंगार देखिये:—

आज सुहागन नारी, औधू, आज सुहागन नारी। टेक
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी नीज अंग चारी ॥औधू० ॥१॥
प्रेम प्रतीत राग रुचि रंगत, पहिरे जीनी सारी।
मंहिदी भक्ति रंग की राची, भाव अंजन सुखकारी ॥औधू० ॥२॥

---

२१. श्रीमद् भद्रंकर विजयजी महाराज के सदुपदेश से प्राप्त।

सहज स्वभाव चूरी मैं पेनी, थीरता कगन भारी।
ध्यान उरवसी उर में राखी, पियगुन माल आधारी ॥औघू० ॥३॥
सूरत सिंदूर मांग रंगराती, निरते वेणी समारी ।
उपजी ज्योत उद्योत घट, त्रिभुवन, आरसी केवल कारी ॥औघू०॥४॥
उपजी धूनी अजपा की अनहद, जीत नगारे वारी।
झडी सदा 'आनन्दघन' बरखत, बन मोर एकनतारी ॥औघू०॥५॥

प्रेम की रग-बिरगी चुनरिया ओढकर भक्ति की मेहदी रचाकर, सहज स्वभाव की चूडी पहनकर और प्रिय के गुण-रत्नो की माला (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र—रत्नत्रयी) से सजकर प्रिया-अभिसारिका बनठन कर प्रिय मिलन हेतु उल्लासपूर्वक चल पडी है। प्रिया के इस रूप को निहार कर प्रिय क्यो नही रीझते ? शुद्धआत्मदर्पण में मनमोहन का रूप छलक उठा।

श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज ज्ञानी, प्रेम योगी एवं समदर्शी सत थे। उन्होंने प्रभु दर्शन के लिए अष्टाग योग को प्रवल साधन माना है। परन्तु उनकी दृष्टि मे योग और सम्यक् चारित्र एक ही है। योग दर्शन के अनुसार योग के आठ अग है १ यम, २. नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६ धारणा, ७, ध्यान, ८ समाधि। समाधि अवस्था मे योगी का ब्रह्मरध्र खुल जाता है और उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। इस अवस्था मे सहस्रदल कमल खुल जाता है और उससे मकरद बिंदु टपकती है। कु डलिनी मकरद बिंदु (सुधारस) का पान कर ब्रह्मानन्द में लीन हो जाती है। महाकु डलिनी नाड़ी शक्ति (Divine Energy) का निवास है अग्निचक्र। व्यक्ति मे प्राण के साथ यह शक्ति जन्मना आती है। अग्निचक्र के ऊपर मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धाख्यचक्र, आज्ञाचक्र और सहस्रारचक्र है। अतिम को शून्य चक्र या कैलाश भी कहते है। यहाँ सदा अमृत झरता है। योगी का कर्त्तव्य, साधना (सम्यक् चारित्र) द्वारा कु डलिनी को जगाकर क्रमश. इसी चक्र तक ले जाना और अमृत पिलाना है। कु डलिनी से ऊपर उठने पर शब्द होता है जिसे नाद कहते है। नाद से प्रकाश होता है जिसके प्रकट रूप को बिंदु कहते है। यही है नित्यानन्द अवस्था। यही है ब्रह्मदर्शन, केवल ज्ञान

या Eternal-Bliss। यही है समतारस, यही है ब्रह्मानंद। योगिराज आनन्दघनजी का यह पद अष्टांग योग का दिग्दर्शन कराता है:—

आतम अनुभव प्रेम को, अजब सुण्यो विरतंत।
निर्वेदन वेदन करे, वेदन करे अनन्त।
म्हारो बालुडो सन्यासी, देह देवल मठवासी। १।
इडा पिंगला मारग तज जोगी, सुखमना[22] घर आसी।
ब्रह्मरंध्र मधि आसणपूरी बाबु, अनहद नाद बजासी ॥२॥
जम नियम आसन जयकारी, प्राणायाम अभ्यासी।
प्रत्याहार धारणधारी, ध्यान समाधि समासी ॥३॥
मूल उत्तर गुण मुद्राधारी, पर्यंकासन चारी।
रेचक पूरक कुंभक कारी, मन इन्द्री जयकारी ॥४॥
स्थिरता जोग युगति अनुकारी, आपो आप विचारी।
आतम परमातम अनुसारी, सीजे काज सवारी ॥५॥

इस पद से यह सुविदित हो जाता है कि योगिराज श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज अष्टांग योग के मर्मज्ञ थे। उनका सम्पूर्ण जीवन ज्ञान-भक्ति और योग का त्रिवेणी संगम था।

इस विरले संत के विषय में अनेक चमत्कार-कथाएं प्रचलित हैं। जोधपुर की महारानी से महाराज रूठ गये। महारानी चिंतत रहने लगी। उसने सुना कि जोधपुर के समीपवर्ती डूंगर में आनन्दघन नामक योगी भगवद् भक्ति में लीन रहते हैं। उनकी कृपा से दुःख-दुविधा मिट जाती है। महारानी ने उनके दर्शन किये। वह प्रति दिन उनके दर्शनार्थ जाने लगी। एक दिन उसने योगिराज को अपनी मनोव्यथा सुनाई। संत ने एक कागज के पर्चे पर लिखा 'राजा-रानी दो मिले उसमें आनन्दघन को क्या'। रानी को वह पुर्जा देकर

---

२२. शरीर में ६२ हजार नाड़ियां हैं, इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि। सुषुम्ना शम्भवी शक्ति है।

—हिंदी साहित्य कोश: प्रकाशक ज्ञान मंडल लिमिटेड, बनारस: पृष्ठ ६११.

कहा कि इसे ताबीज मे डाल कर बाध लेना। सिद्ध पुरुष की कृपा से राजा रानी प्रसन्न रहने लगे।

इस सिद्ध महात्मा के आशीर्वाद से आसपास आनन्द मंगल होने लगे। उनकी गुफा मे सिंह आ जाते थे, सर्प घूमते थे, परन्तु किसी मे हिंसक भाव नही था। यद्यपि ये चमत्कार लगते है परन्तु दिव्य पुरुषो के लिए ये स्वाभाविक घटनाए है। इन चमत्कारो का वैज्ञानिक आधार क्या है?

रेडियो के सिद्धान्त के अनुसार महात्माओं के चमत्कार सत्य प्रतीत होते है। रेडियो केन्द्र से प्रसारित कोई भी कार्यक्रम-भाषण, गीत, नाटक आदि को ब्रह्माड मे व्याप्त शाश्वत रेडियो तरंगे ग्रहण करती हैं। रेडियो सेट उन तरगो मे प्रसारित कार्यक्रम को 'रिसीव' करते है। इसी प्रकार योगी-महात्मा रेडियो केन्द्र के समान है। उनकी दिव्यता (विद्युत शक्ति) के कारण उनके दिव्य विचार, मन्तव्यादि ब्रह्माड मे व्याप्त रेडियो तरगो पर तैरते है। उन्हे प्रकृति, पशु-पक्षी, मानव अपनी-अपनी विद्युत शक्ति के कारण अनजाने ही ग्रहण करते है। यही कारण है कि जहाँ सिद्ध महात्मा विचरते है, वहाँ का वातावरण कोमल एव प्रेम पूर्ण हो जाता है। पशु-पक्षियो के पारस्परिक वैर भाव लुप्त हो जाते है। अत इसमे कोई सन्देह नही कि श्रीमद् आनन्दघन के मगलमय आशीर्वाद से राजा के मन के परमाणु बदल गये और रानी के भाग्य खुल गये।

जीवन का विद्युद्‌गिक (Elecrto dynamics) सिद्धान्त भी इस मत की पुष्टि करता है। वैज्ञानिको की यह सम्मत्ति है कि मनुष्य सदा अनेकानेक अदृश्य शक्तियो के (जिनमे विद्युत् शक्ति भी एक है) स्पदी सागर मे तैरता रहता है और उसके शरीर के अग 'रिसीवरो' और 'ट्रासफॉर्मरो' की भूमिका अदा करके इन शक्तियो को अपनी सामर्थ्य और आवश्यकतानुसार ग्रहण करते रहते है। जीवन के विद्युद्‌गिक सिद्धान्त के अनुसार सारे ब्रह्माड मे व्याप्त विद्युत् क्षेत्र सब जीवो को प्रभावित करता है और जीवन इस विद्युत क्षेत्र से प्रभावित होते हुए स्वय भी उसे प्रभावित करता है। दूसरे शब्दो मे प्रत्येक जीव, प्रत्येक मानव सारे ब्रह्माड से इस विद्युत्-क्षेत्र से जुडा हुआ है। इस प्रकार वह पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र और उसके माध्यम से सूर्य और चन्द्र के विद्युत् क्षेत्र से भी

सवधित है । उसके अग-प्रत्यग भी रिसीवरो एव ट्रासफार्मरो का काम करते हैं । वह अन्य दिव्यात्माओ की विद्युत् शक्ति से भी प्रभावित रहता है क्यो कि प्रत्येक जीवात्मा दूसरी से विद्युत् शक्ति से जुडी हुई है । जिस जीव मे विद्युत शक्ति की जितनी प्रवलता होगी वह अन्य जीवो को उतना ही प्रभावित कर सकेगा । महापुरुषो के चमत्कारो का कारण भी यह विद्युत् शक्ति है । उनकी दिव्य शक्ति का क्षेत्र विशाल एव व्यापक होता है । वे जहाँ विचरते हैं, वहाँ का क्षेत्र अनेक मगलो से परिपूरित रहता है । प्रकृति सरस वन जाती है एव जीवात्माओ मे कोमल भावो का प्रस्फुटन हो जाता है ।

सत-महात्माओ के विचारो को विद्युत् तरगे दूर-दूर तक ले जाती हैं । प्रचण्ड एव प्रखर मनोवल के कारण उनका मन्तव्य सवधित व्यक्ति को अचूक वान के समान वेधता है । विज्ञान के विद्युद्रंगिक सिद्धान्त के अनुसार चमत्कार महात्माओ की दिव्य विद्युत् एव चुम्वकीय शक्ति के कारण घटित होते हैं । श्रीमद् आनन्दघनजी पहुँचे हुए योगी थे, अतः ये चमत्कार उनके दिव्य एव सहज जीवन के परिचायक हैं । आनन्दघनजी के जीवन का सर्वोत्कृष्ट चमत्कार है—समता भाव ।

आनन्दघनजी ने विविध राग-रागिनियो मे गीतो की रचना की है । ये विभिन्न राग आत्म ललना की जागृति, विरहोन्माद, मिलनोत्कठा, मिलन की खुमारी एव दर्शन सुख आदि भाव-दशाओं को प्रकट करते हैं । श्री ऋषभ देव स्वामी का प्रथम स्तवन मारू राग मे गाया गया है । मारू राग युद्धोत्साह जगाने के लिए उपयुक्त है । राग-द्वेषादि विकट शत्रुओ से जूझने के लिए अदम्य उत्साह एव शौर्य चाहिए । श्री अजितनाथ जिन स्तवन मे आशावरी राग है । मोह-नीद के पश्चात् जागृति के प्रभात मे प्रिय मिलन की आशा का सचार होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार स्तवन गीतो एव पदो मे विविध राग-रागिनियां का प्रयोग सप्रयोजन हुआ है । समस्त गीतो मे सगीत की मधुरता आत्म विभोर कर देती है ।

श्रीमद् आनन्दघनजी के समस्त गीत अनुभव रसामृत से भीगे हुए है । उन्होने जैन दर्शन का सागर अपने काव्य-कलश मे भर लिया है । इनकी शैली सूरज की किरण के समान है । किरण मे सप्त रग है, परन्तु वह श्वेत रग

वाली दिखाई देती है। वैसे ही श्रीमद् आनन्दघनजी ने अपने सक्षिप्त काव्य मे जैन दर्शन का समन्वयकारी रूप प्रस्तुत किया है। समस्त धर्म उसमे समाये हुए हैं। उनका काव्य यह प्रकट करता है कि जैन दर्शन किसी वर्ग, सम्प्रदाय या जाति विशेष की सपत्ति नही है, यह आत्म दर्शन है जिससे मानव मात्र दुख दारिद्रय से मुक्त होकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकता है। अन्तरग दृष्टि से देखने पर आनन्दघनजी का काव्य रत्नाकर के समान लगता है। अन्तर्दृष्टि वाला काव्य मर्मज्ञ एव भक्त हृदय ही इसके रत्नो को पा सकता है। मै तो इस दिव्य सागर-तट पर खडा-खड़ा चन्द्र ज्योत्स्ना मे क्रीडा करती उत्फुल्ल लहरो को देख कर ही तृप्त हूँ।

मै अल्पज्ञ हूँ। भक्ति वश कुछ अटपटे शब्द-पुष्पो को भूमिका के रूप मे श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज के चरणो मे चढा रहा हूँ।

'आनन्दघन ग्रथावलि' मे 'आनन्दघन चौवीसी' 'आनन्दघन बहोतरी' तथा अन्य पदो के सरलार्थ और सुबोध भाष्य है। लेखक ने निष्ठा से कार्य किया है। योगिराज के गीतो मे निहित भावो को प्रकट करने के लिए अन्तर्दृष्टि चाहिये, जैन दर्शन का विशद एव अन्तरग अध्ययन चाहिये तथा काव्यात्मा मे प्रवेश के लिए कवि हृदय चाहिए। साथ ही चाहिये भक्ति रग मे रगी दृष्टि।

मेरी दृष्टि में लेखक का प्रयास स्तुत्य है 'आनन्दघन ग्रथावलि' जनता मे अधिकाधिक लोक प्रिय होगी इसमे कोई सन्देह नही है।

शिवमस्तु सर्व्वजगत

फालना (राजस्थान)
दिनांक 15, 5, 74

जवाहरचन्द्र पटनी
एम. ए, (हिन्दी एवं अंग्रेजी)
उप प्राचार्य – श्री पार्श्वनाथ उम्मेद महाविद्यालय, फालना

श्री आनंदघनजी के जीवन प्रसंग

श्री आनंदघनजी १७ वी शताब्दी के अन्तिम भाग और अठारहवी शती के आरम्भिक तीन दशको मे विद्यमान थे। उनके गच्छ, दीक्षागुरु, तथा सहयोगियो के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती है। किन्तु यह निश्चित है कि इनका उपाध्याय श्रीयशोविजय से मिलाप हुआ। विशिष्ठ पुरुषों की जीवन घटनाओ का इतना महत्व नही होता जितना महत्व उनकी वाणी का होता है। वाणी द्वारा वे सदा विद्यमान रहते है।

श्री आनंदघनजी जैनागमो के मर्मज्ञ, न्याय, तर्क, छन्द, अलकार और सगीत के उत्कृष्ट विद्वान थे। उनकी जीवनचर्या, विचारधारा और मान्यता के दर्शन स्थान-स्थान पर उनकी वाणी में भरे पडे है। जो व्यक्ति उनकी कृतियों का मनन और अनुशीलन करेगा, वह उनके रहन-सहन, तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति आदि से सुचारू रूप से परिचय पालेगा।

श्री आनदघनजी जैनागमानुसार साधुचर्या का पालन करते थे। उनके साधुत्व का आदर्श इस आगम वाक्य के अनुसार था —

"लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविये मरणे तहा।
समोनिंदा पससासु, तहा मणावमाणओ ॥"

उनकी आत्मध्वनि उनकी वाणी से भी सुन लीजिये—

मान अपमान चित सम गिणे, सम गिणे कनक पाषाण रे।
वंदक निंदक सम गिणे, इश्यो होय तूं जाण रे ॥

सर्व जग जन्तु सम गिणे, गिणे तृण मणि भाव रे।
मुक्ति ससार बेहु सम गिणे, मुणे भव-जलनिधि नाव रे ॥

(श्री शान्तिनाथ स्तवन)

इस प्रकार आत्मा मे रमण करते हुये अपने आराध्य के प्रति उनका 'कपट रहित आत्मार्पण था। वे सदा 'अभय, अद्वेप और अखेद' मे लीन रहते थे। यही योग की उत्कृष्ट स्थिति है और यही साधना का उच्चतम मार्ग है। पर वस्तु को अपनी समझना ही भय का कारण है। अज्ञान दशा (मोह दशा) ही भय है। अपने स्वरूप का ज्ञान होना अभय है। इस दशा का नाम ही योग है। स्व पर का भेद ज्ञान ही मुख्य है। स्वभाव रमणता ही अभय, अद्वेप और अखेद की द्योतक है।

श्री आनदघनजी का तत्कालीन समय मे साधुओ मे फैले हुये शिथिलाचार की ओर ध्यान गया। इस स्थिति की उन्होने भर्त्सना भी की है—

गच्छना भेद बहु नयण निहालतो, तत्त्वनी बात करता न लाजे ।।
उदरभरणादि निज काज करता थकां, मोह नडिया कलिकाल राजे ।।
पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां रे अन्धो अन्ध पलाय ।
वस्तु विचारे जो आगमे करी रे, चरण धरण नहीं ठाय ।।"

उनका तो स्पष्ट मत था—

'आतम ज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे ।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, 'आनदघन' मति सगोरे ।।'

किन्तु इस भर्त्सना आदि का कोई परिणाम न निकलने से वे अध्यात्म ग्रन्थो के स्वाध्याय एवं आत्मध्यान मे विशेष आकृष्ट हुये। स्वाध्याय ध्यान द्वारा आत्मानद मे लीन रहने लगे। उनकी दृढ धारणा थी कि राग-द्वेष ही ससार का मूल कारण है। साधु जीवन स्वीकार करने के वाद भी राग-द्वेष के खटराग मे ही फंसा रहना तो आत्मा से विमुख होना है, अपने ध्येय से गिरना है। वे इन सबसे उदासीन होकर अपने ध्यान-स्वाध्याय मे लीन रहने लगे।

सेठ के लिये व्याख्यान-प्रतिबन्ध

गुजरात के किसी नगर मे श्री आनदघनजी का चतुर्मास था। उस नगर में ऐसी परम्परा चल पड़ी कि अमुक सेठ के आये विना साधु व्याख्यान आरम्भ नही कर सकते थे। पर्वाधिराज पर्यूपण के अवसर पर श्री आनदघन

जी यथा समय व्याख्यान आरम्भ करने लगे, तब सेठ की माता ने कहा कि मेरे पुत्र के आये विना आप व्याख्यान आरम्भ नही कर सकते। कुछ समय श्री आनंदघनजी ने प्रतीक्षा की। लोगो ने सेठ को जल्दी आने के लिये सूचना भिजवाई किन्तु सेठ आया नही। पुन. व्याख्यान आरम्भ करने लगे, तब फिर लोगों ने भी कहा सेठजी को आ जाने दीजिये, नहीं तो वे नाराज होंगे। इस पर आनंदघनजी विचार करने लगे कि इस प्रकार श्रावको के प्रतिवन्ध से आगम विरुद्ध होना योग्य नही है। आगम के अनुसार स्वाध्याय काल का साधु को ध्यान रखना ही चाहिये। आगम विरुद्ध मुझे तो नही जाना चाहिये, चाहे कोई नाराज हो या खुश हो। ऐसा विचार कर उन्होने कल्पसूत्र का व्याख्यान आरम्भ कर दिया। सेठ को जब यह समाचार मिला तो वह बहुत क्रोधित हुआ। क्रोध मे भरे हुए वह उपाश्रय मे आया सेठ आनदघनजी से कहने लगा, "मेरे आये विना आपने व्याख्यान कैसे आरम्भ कर दिया।" श्री आनदघनजी ने उत्तर मे कहा--"आगमों के अनुसार स्वाध्याय काल मे ही सूत्र-वाचन होता है, अन्य समय नही। इसलिये मैंने व्याख्यान आरम्भ कर दिया।" सेठ ने कहा—"मेरे उपाश्रय मे तो परम्परानुसार ही व्याख्यान होगा।" श्री आनदघन जी ने कहा--"मुझे तो आगमो के अनुसार ही व्यवहार करने की आवश्यकता है, अन्य वातो की मुझे कोई आवश्यकता नही है। यह उत्तर सुनकर सेठ और भी क्रोध मे भर कर वोला—"मेरे उपाश्रय मे रहना हो तो मेरे अनुसार ही चलना होगा, नहीं तो मेरे उपाश्रय मे नही रह सकते। सेठ के इस प्रकार कहने के पश्चात् और कल्पसूत्र का व्याख्यान पूर्ण होने के वाद श्री आनदघनजी ने विचार किया कि इस प्रकार के प्रतिवन्ध मे मुझे तो आगमो के अनुसार साधुचर्या में तत्पर रहकर विचरना चाहिये। इस निश्चय के अनुसार श्री आनंदघनजी ने समिति-गुप्ति में सजग रहते हुये एकान्त स्थानो में (गिरि कंदराओं और श्मसान मे) रहकर साधना आरम्भ कर दी। इस तरह रहते हुये उन्होने प्रकृति के कोप और सर्प सिंह आदि के उपसर्ग आनन्दपूर्वक वहन किये। इन उपसर्गो से तनिक भी विचलित नही हुये। निसगता वढ़ने लगी। इससे ऐसे योगी महात्मा को विशिष्ट शक्तिया प्राप्त हो गई हों तो कोई आश्चर्य की वात नही।

श्री योगीराज आनदघनजी के सबध मे कई चमत्कारपूर्ण किंवदंतियां सुनी जाती है। इन प्रवादो के सत्यासत्य के विषय मे निर्णय होना तो सभव नही है किन्तु योगीराज चमत्कारी पुरुष थे इसमे कोई सदेह नही है। हम लोग उनके अनुयायी भक्त अपने श्रद्धेय के प्रति चाहे कितनी भी उच्च कोटि की भावनायें रखें, वह प्रामाणिक नही मानी जा सकती है किन्तु अन्य धर्मावलम्बियों के उल्लेख अधिक विश्वसनीय माने जा सकते है। परणामी सप्रदाय के सस्थापक श्री प्राणलालजी, आनदघनजी के समसामयिक थे। उनके जीवन चरित्र मे यह उल्लेख मिलता है—

"श्री प्राणलालजी एक समय स. १७३१ से पूर्व मेड़ता गये थे। उनका मिलन और शास्त्रार्थ श्री आनदघनजी से हुआ जिसमे उनका (आनदघनजी) पराभव होने से उन्होने कुछ प्रयोग श्री प्राणलालजी पर किये किन्तु उससे उनका कुछ भी बिगाड नही हुआ। जब वे दूसरी बार मेड़ते गये तब उनका (आनदघनजी का) स्वर्गवास हो चुका था।"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री आनदघनजी का स्वर्गवास स. १७३१ मे हुआ था तथा वे चमत्कारी योगी थे।

मै यहा उनके सम्बन्ध की किंवदतियो का सकलन सक्षिप्त मे देना समीचीन समझता हूँ जिससे पाठको को उन्हे समझने का पूरा-पूरा अवसर मिल जावे।

उ. श्रीयशोविजयजी और आनदघनजी का मिलन

उपाध्याय श्रीयशोविजयजी और श्री आनदघनजी का मिलन तीन बार हुआ, कहा जाता है। नीचे उनके मिलन की घटनाये दी जा रही है।

(१)

सतरहवी और अठारहवी शती मे जैन साधुओ मे उपाध्याय श्री यशोविजयजी बहुश्रुत, जैन न्याय के प्रसिद्ध व्याख्याता, विवेचन कर्त्ता विद्वान थे। उनकी व्याख्यान शैली अनुपम थी। उनका व्याख्यान सुनने के लिये सैकडो की सख्या मे श्रावक-श्राविका एव साधु साध्विया एकत्रित होते थे।

एक समय की घटना[1] है कि उ. यशोविजयजी का व्याख्यान अध्यात्म विषय पर हो रहा था। उस समय श्रोताओं मे सभी प्रकार के व्यक्ति उपस्थित थे। व्याख्यान शैली और विषय विवेचन से श्रोतागण मुग्ध हो रहे थे। एक श्लोक के विवेचन ने तो कमाल ही कर दिया था। श्री आनंदघनजी उन दिनो उसी स्थान पर थे। उन्होने भी उ. श्री यशोविजयजी की विवेचन शैली की प्रशसा सुनी थी। उस दिन व्याख्यान मे वे भी एक कोने मे उपस्थित थे। व्याख्यान समाप्ति पर श्री उपाध्यायजी ने चारो ओर दृष्टि फैलाई। उन्होंने एक कोने में एक वृद्ध और सीधे-सादे साधु को देखा। उन्हे ऐसा लगा कि इस साधु पर व्याख्यान का कोई प्रभाव नही हुआ। श्री उपाध्यायजी ने इस सीधे-सादे साधु की ओर दृष्टिकर पूछा—'मुनिराज! आपने व्याख्यान ठीक ढग से सुना या नही? आध्यात्म ज्ञान के इस व्याख्यान मे आपको कुछ समझ पड़ी या नही?" इस प्रश्न के उत्तर मे वह सरल सत बोला—"आप श्री के आध्यात्मिक व्याख्यान में उत्तम विवेचन-दक्षता प्रगट हुई है।" श्री उपाध्यायजी उस सत के मुख की ओर बराबर दृष्टि किये हुये थे। उन्हे ऐसा लगा कि यह साधु विशेष ज्ञानी और योगी होना चाहिये। उन्होने साधु से नाम पूछा। उत्तर मे जब "आनंदघन" सुना तो वे तत्काल ही अपने स्थान से उठकर श्री आनद-घनजी के पास आये। उनका बहुत सम्मान किया। आदर सहित उन्हे वहा से उठाकर जहां वे बैठे थे वहां ले आये और उनको उच्चासन पर बैठाया। श्री उपाध्यायजी ने श्री आनदघनजी की प्रसिद्धि पहिले से ही सुन रखी थी किन्तु उनसे साक्षात्कार का अवसर कभी नही मिला था। आज अवसर मिलते ही अपना हृदय खोल कर उनके चरणो मे रख दिया। और बार-बार जिस श्लोक का उपाध्यायजी विवेचन कर रहे थे उसका विवेचन करने के लिये ...
की। इस पर आनदघनजी ने तीन घंटे तक उस श्लोक का विशद...
किया। श्रोतागण मुग्ध भाव से बैठे सुन रहे थे। किसी को समय का ...
न रहा। सब के हृदय मे ज्ञान व वैराग्य की धारा बह निकली। इस

१. इस घटना के लिये कोई इसे आबू मे हुई कहते हैं, कोई मेड़ता हुई क.

पर उपाध्यायजी ने अष्ट पदी स्तुति श्री आनदघनजी के सम्मुख उपस्थित की । ऐसे थे अध्यात्म ज्ञानी और योगी आनदघनजी ।

(२)

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि श्री आनंदघनजी अपनी साधना मे लीन थे और आबू के आसपास विचरण कर रहे थे । उस समय यह 'अष्टपदी' बनाई गई थी । घटना इस प्रकार बताई जाती है कि एक समय श्री उपाध्यायजी एक दो अन्य साधुओ सहित श्री आनदघनजी के दर्शनार्थ उन्हे ढूंढते हुये आबू के पास के मन्दिरो मे गये । इनको श्री आनदघनजी एक मन्दिर मे चौवीस तीर्थकरो की स्तवना में मस्त दिखाई पडे । वे लोग चुपचाप एक ओर खडे होकर स्तवना सुनने लगे । श्री उपाध्यायजी की स्मरण शक्ति इतनी तेज थी कि एक दफा सुनी हुई बात कभी भूलते नही थे । बावीस तीर्थंकरो की स्तवना पूर्ण हो गई । तेवीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की स्तवना आरम्भ करने वाले थे कि उन्हे अपने पीछे कुछ खटका हुआ सुनाई दिया । वे पीछे की ओर देखने लगे । इन्हे एक कोन मे उपाध्यायजी नजर आये । वे तत्काल ही वहा से उठकर उनके पास आये । कुछ लोग यह भी कहते हे कि वे वहा से उठकर बाहर चले गये । इसके पश्चात् उनका आपस मे वार्त्तालाप हुआ और अष्टपदी की रचना हुई ।

(३)

और भी दो घटनायें श्री आनदघनजी और श्री उपाध्यायजी के सम्बन्ध मे कही जाती है । श्री आनदघनजी ने अपनी वृद्धावस्था जानकर उ. यशोविजयजी को योग सम्बन्धी कुछ रहस्य की बातें बताने के लिये बुलाया । श्री उपाध्यायजी आये । उन्हे आये कुछ समय व्यतीत हो गया किन्तु श्री आनदघनजी ने कुछ कहा नही । श्री उपाध्यायजी ने विचार किया कि शायद मुझे बुलाने की बात विस्मर्ण हो गई है । अत: प्रात: काल उन्होने श्री आनदघनजी को को स्मर्ण कराया । तब आपने उत्तर मे कहा—"अब मुझे कहने जैसा कुछ है नही । मुझे इस बात का खेद है कि आप मे अभी तक धैर्य और स्थिरता की कमी है । यह तो आपको ध्यान रखना ही चाहिये था। मैने जब आपको कुछ कहने के लिये बुलाया था तो अवसर देखकर ही कहता । जब तक आप मे

स्थिरता और धैर्य की पूर्णता न हो तब तक योग के गूढ रहस्य बताने का प्रसग ही उपस्थित नही होता । अभी तो यह सब मेरे साथ ही जावेगे ।

(४)

दूसरी घटना इस प्रकार कही जाती है कि एक बार उ. श्री यशोविजय जी श्री आनदघनजी के निकट 'स्वर्ण सिद्धि' लेने गये। इस योग विद्या को बताने के लिये श्री आनदघनजी किसी भी प्रकार तैयार नही हुये । कारण यह था कि वे उपाध्याय जी को इसके योग्य नही समझते थे ।

मेरे समझ मे यह बात नही आती है कि उपाध्यायजी जैसे महान् स्थिति प्रज्ञ और चारित्र मे सजग रहने वाले के लिये स्वर्ण सिद्धि की इच्छा करना कहा तक उचित है । यह बात किसी भक्त की कल्पना ही ज्ञात होती है।

ज्वर को वस्त्र में प्रवेश करके वार्तालाप करना

एक समय की घटना है कि श्री आनदघनजी जोधपुर राज्यान्तर्गत किसी गाव के बाहर ठहरे हुये थे । एक व्यक्ति अथवा जोधपुर नरेश उनके दर्शनार्थ वहा आया । उस समय श्री आनदघनजी तीव्र ज्वर से पीड़ित थे । उन्होंने ज्वर को एक वस्त्र मे छोडकर, उस वस्त्र को अपने निकट ही रख दिया। और आगन्तुक से बातचीत कर उसे उपदेश दिया । उपदेश श्रवण करते समय आगन्तुक की दृष्टि उस कम्पित वस्त्र की ओर गई। उसे आश्चर्य हुआ कि यह वस्त्र कैसे कम्पित हो रहा है ! वह अपनी उत्सुकता दबा नही सका और श्री आनदघनजी से प्रश्न कर ही बैठा । स्वामीनाथ ! यह वस्त्र कम्पित क्यो हो रहा है ? प्रथम तो उन्होने उत्तर नही दिया । वे मुस्कराते रहे, फिर उन्होने कहा—"मै तीव्र ज्वर से पीडित था । बातचीत का अवसर जान मैने अपने ज्वर को इस वस्त्र मे त्याग कर अलग रख दिया । यह वस्त्र ज्वर के प्रभाव से कम्पित हो रहा है । यह उत्तर सुनकर योगिराज के प्रति उसके हृदय मे विशेष श्रद्धा भक्ति उत्पन्न हुई । वह विनयवन्त हो वन्दन नमस्कार कर फिर दर्शनार्थ आने के लिये कह कर चला गया ।[1]

---

१. श्री कापडियाजी ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि श्रीमान हेमचन्द्राचार्य, श्री हरिभद्र सूरि और श्री हीरविजय सूरि के विषय मे भी उक्त प्रवाद सुनने मे आया है । (प्रथम सस्करण की भूमिका पृ. ३९)

मृतपति के साथ सती होने वाली स्त्री को बोध

एक समय विहार करते हुये श्री आनदघनजी मेडते आ रहे थे। उन्होने मेडते के बाहर श्मसान के निकट एक स्त्री को 'सती' होने के लिये उद्यत देखा। जैसे ही उस स्त्री की दृष्टि उन पर पडी वह उनके निकट आकार चरणो मे झुककर कहने लगी––"बाबाजी महाराज ! मै अपने पति के साथ सती हो रही हूँ, मुझे आशीर्वाद दीजिये।" इतने मे ही उस स्त्री के सम्बन्धियो ने आकर कहा––"महाराज. ! इसे समझाइये हमने तो इसे बहुत ही समझाया किन्तु यह मानती ही नही है। सती होने के लिये हठ कर रही है।" इस पर श्री आनद-घनजी ने इस स्त्री को समझाने के लिये कई तरह से उपदेश दिये। ससार का स्वरूप और सम्बन्ध समझाया शरीर और आत्मा का सम्बन्ध बताया। श्री ऋषभदेव जिनेश्वर का स्तवन बडे ही सरस स्वर से गाकर सुनाया। स्त्री के और सुनने वालो के अन्तर चक्षु खुल गये। स्त्री शान्त और प्रसन्न चित्त से लौट गई। ऐसे थे मार्मिक उपदेशक श्री आनदघनजी।

राजा-राणी दो मिले उसमे आनदघन को क्या ?

इस घटना के लिये भिन्न भिन्न लेखको ने भिन्न-भिन्न स्थानो का उल्लेख किया है। किसी ने मेडते शहर का, किसी ने आबू पर्वत का और किसी ने जोधपुर के निकट की पहाडी गुफाओ का।

कहा जाता है कि एक समय श्री आनदघनजी आत्मस्थ बैठे हुये थे। एक स्त्री उनके पास आकर प्रणाम कर कहने लगी––'महाराज मै जोधपुर की महाराणी हूँ। महाराज जोधपुर मुझ से रुष्ठ होकर मेरे महलो मे नही पधारते है। कोई ऐसा मन्त्र-यन्त्र बताइये, आशीर्वाद दीजिये जिससे महाराजा प्रसन्न होकर मेरे महलो मे आने लगे" श्री आनदघनजी ने कोई उत्तर नही दिया। वैसे के वैसे बैठे रहे। कुछ देर पश्चात् एक कागज का टुकडा उठाकर उसमे कुछ लिखकर और मोडकर राणी को दे दिया। राणी ने समझा कि महात्मा ने प्रसन्न होकर मुझे तावीज दिया है। राणी ने कागज को आदर से ग्रहण किया। प्रणाम कर वहा से चली गई। महलो मे आकर उसने एक सोने के यन्त्र मे रखकर गले मे पहिन लिया। सयोग की बात कि इसके पश्चात् राजा प्रसन्न होकर, राणी के महलो मे आने लगे। इससे राजा

की अन्य राणियां ईर्षा रखने लगी और राजा के कान भरने लगी। एक दिन राजा ने भी इस स्थिति पर विचार किया और राणी के महलों मे जाकर राणी के गले से तावीज निकाला और खोलकर पढ़ा, पढते ही राजा को स्थिति स्पष्ट हो गई। वह खिल खिलाकर हसने लगा। तावीज मे लिखा था—"राजा राणी दोउ मिले, उसमें आनंदघन को क्या।" इन शब्दों को देखकर राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। साथ ही श्री आनंदघनजी की निसंगता या आत्ममग्नता पर श्रद्धा हुई।

स्वर्ण सिद्धी रसायण

एक समय श्री आनंदघनजी आबू के पहाड़ पर योग साधना मे तल्लीन होकर विचरण कर रहे थे। एक दिन अकस्मात् एक व्यक्ति हाथ में शीशी लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हुआ। वह उस शीशी को उनके चरणों में रख कर कहने लगा—"आपके साथ साधना करने वाले आपके बाल मित्र इब्राहिम साहब ने यह रसायणिक सिद्धि भरी शीशी भेजी है। इस शीशी के रसायण की एक बूंद मात्र, यदि पत्थर पर डाली जावे तो पत्थर सोना बन जाता है। इससे सम्पूर्ण संसार आपके वश में हो जावेगा। यह कह कर उस आगत व्यक्ति ने शीशी मे एक बूंद पत्थर पर डाली जिसके प्रभाव से वह पत्थर स्वर्ण हो गया। स्वर्ण और पाषाण मे एक वृत्ति रखने वाले श्री आनंदघनजी के हृदय में एक बड़ा विचार आया। उन्होने शीशी को पाषाण शिला पर पटक कर तोड़ डाला। यह देखकर उस शीशी वाहक व्यक्ति के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। उसने श्री आनंदघनजी को अनुचित कठोर शब्द कहे। वे शान्त मुद्रा से खड़े रहे फिर एक ओर होकर उन्होंने लघु शंका की। जिस शिला पट्ट पर उन्होंने लघुशंका की थी वह स्वर्ण बन चुकी थी। यह देखकर वह व्यक्ति चकित रह गया। लज्जित होता हुआ श्री आनंदघनजी के चरणों मे गिर कर बार-बार क्षमा मांगने लगा। जाता जाता कह गया—"जिसके पेशाब में स्वर्ण रसायण है उसे और रसायण की क्या आवश्यकता है। आप धन्य है।"

राजा को पुत्र प्राप्ति

कहा जाता है कि जोधपुर के राजा को लंबे समय तक कोई पुत्र

उत्पन्न नही हुआ । इसलिये उसे उत्तराधिकारी के विषय में चिन्ता रहने लगी । उनके प्रधान मन्त्री ने उन्हें चिन्तित देखकर, कहा--पुत्र होना, पूर्व जन्म के शुभाशुभ कर्म पर निर्भर है । फिर भी एक जैन साधु महायोगी और चमत्कारी है । उनका नाम आनन्दघनजी है । वे आज कल यही आस-पास है । महा-राज, प्रधान मत्री के कथन पर विश्वास कर शुद्ध अन्त करण से श्री आनन्दघन जी की श्रद्धापूर्वक सेवा-भक्ति करने लगे । नित्य दर्शनार्थ आना, उपदेश सुनना और उस पर आचरण करने लगे । सयोग की वात कुछ ही दिनों मे महाराज को विश्वास हो गया कि अव पुत्र रत्न की प्राप्ति मे देर नही है । यथा समय उन्होने पुत्र का मुख देख लिया । ऐसे थे श्रीआनन्दघनजी जिनकी सेवा-भक्ति से मनोकामनाये पूर्ण होती थी ।

राज की दो विधवा पुत्रियों को बोध

एक राजा की दो पुत्रिया थी । सयोग से वे दोनों ही विधवा हो गई । वे वैधव्य से दुखी पुत्रिया हर समय रुदन करती रहती थी । राजा को इससे बहुत ही कष्ट होता था । उसने कई प्रकार के उपाय किये किन्तु उन पुत्रियो का शोक हल्का नही हुआ । राजा ने किसी विश्वस्त कर्मचारी से सुना कि श्री आनन्दघनजी सिद्ध पुरुष है । वे इनके शोक दूर करने मे समर्थ हैं । राजा ने उनसे प्रार्थना की और उन दोनों पुत्रियो को उनके पास ले गया श्री आनन्दघन जी ने उन्हे संसार की क्षण भंगुरता मार्मिक शब्दो में समझाई । आत्मा का असली स्वरूप वताया । संसार के आपसी सम्बन्धो के विषय में अनेक उपदेश दिये । उनका शोक दूर हुआ और रुदन बंद हो गया । अव तो वे नित्य ही उपदेश सुनने के लिये आने लगी । कुछ ही दिनो मे उनकी चित वृत्तियां शात हो गई और वे उन उपदेशो के अनुसार अपना जीवन सुधारने मे लग गई ।

शाहजादे का स्तंभन

एक समय श्रीआनन्दघनजी वीकानेर मे थे । उन्ही दिनों दिल्ली के वादशाह का शाहजादा वहा आया हुआ था । वीकानेर मे उस समय अन्य जैन साधु भी थे । जब वे कही जाते आते तो मार्ग मे जव शाहजादा उन्हे मिल जाता तो वह उनकी हसी-मजाक किया करता था । इस से वे साधु लोग वहुत

ही खिन्न मना हो गये थे। एक दिन उन सबने मिलकर श्री आनन्दघन जी को प्रार्थना की कि इस विपत्ति से छुटकारा दिलाइये। तब श्रीआनन्दघनजी बीकानेर के बाहर जहा वह शाहजादा घोड़े पर बैठकर कर घूमने जाता था गये। शाहजादे ने जैसे ही उन्हे देखा वैसे ही अपनी आदत के अनुसार उनकी भी मजाक उड़ाई। इस पर श्रीआनन्दघनजी ने उस से कहा–"बादशाह का बेटा खड़ा रहे।" इतना कहते ही शाहजादे का घोड़ा खडा रह गया। अनेक प्रयत्न करने पर भी वह चल नही सका। (टस से मस नही हुआ) इतने मे ही शाहजादे के साथ के घुडसवार वहां आ पहुँचे। घोड़ा स्तंभित खडा था। उन्होने भी घोडे को चलाने के प्रयत्न किये, किन्तु असफल ही रहे। शाहजादा भी घोड़े से उतर नही सका। इधर आनन्दघनजी अपने स्थान पर आ गये। शाहजादे के उन साथियो ने शहजादे साहब से पूछा कि यह कैसे हो गया। आप कोई बात हुई हो तो फरमाइये। शाहजादे ने उत्तर दिया—"मुझे तो घोड़े के न चलने का कोई सबब नजर नही आता, लेकिन एक बात अवश्य हुई है। मैंने एक श्वेत वस्त्र धारी साधु की मजाक जरूर उडाई थी।" उसने कहा था–"बादशाह का बेटा खडा रहे।" शाहजादे के उन साथियों की समझ मे आया कि हो न हो, उस साधु ने ही कुछ कर दिया है। शाहजादे के साथियो के कहने से बीकानेर के राजा ने साधुओं से पुछवाया। अन्त मे पता लगा कि यह काम श्री आनन्दघन जी का लगता है। आप लोग उनके पास जाइये। तब वे खोजते हुए श्री आनन्दघनजी के पास आये। उन लोगों ने उनकी बहुत ही आजीजी की तब तब श्री आनन्दघन जी ने कहा–"बादशाह का बेटा, साधु सतो को सताता है और उन की हसी मजाक करता है उसका फल उसे मिले तो आश्चर्य ही क्या ?" अन्त मे श्री आनन्दघनजी ने बादशाह के बेटे से कहलवाया–"बादशाह का बेटा चलेगा।" शाहजादे ने जैसे ही यह शब्द लोगों के मुख से सुने वैसे ही उनका घोड़ा चलने लगा शाहजादे ने यह चमत्कार देखकर, तत्काल वह उनके दर्शनार्थ वहा आया। विनय भक्ति प्रदर्शित कर उसने कहा–"आप तो ओलिया है, मेरा कसूर मुआफ फरमावे।"

पत्थर के सेर का स्वर्ण खंड

एक समय मारवाड़ मे विहार करते हुये किसी ग्राम मे किसी दीन व्यक्ति के घरश्रीग्रानदवनजी कुछ दिन ठहरे। एक दिन वह दीन व्यक्ति चिन्तातुर होता हुग्रा उनकी सेवा मे वंदन कर ग्रा वैठा। वह दुखी तो था ही, उसकी ग्राखें डवडवा ग्राई। श्री योगीराज ने उसे रोने का कारण पूछा। उसने रोते हुये ग्रपनी गरीवी की सम्पूर्ण कथा उमको सुना दी। उन्होने उसे सात्वना देते हुये समभाया कि ग्रपने कृतकर्म तो भोगने ही पडते है। खैर, तुम्हारे पास कोई पत्थर का लोढ़ा हो तो लाग्रो। उस व्यक्ति ने एक सेर वाला पत्थर लाकर उनके सम्मुख रख दिया। दूसरे दिन प्रातः काल वह वहां ग्राया। श्रीग्रानदघनजी उसे वहा दिखाई नही दिये। उसने उन्हे इधर-उधर देखा, फिर भी वे दृष्टिगत नही हुये। जहा वे पहिले दिन वैठे हुये थे, वहां उसे पत्थर के सेर के स्थान पर सोने का डला देखा। उसे वहुत ही ग्राश्चर्य हुग्रा। जव उसने उस स्वर्ण के डले (खड) को उठाकर देखा तो उसे वहुत ही पश्चात्ताप हुग्रा क्योकि वह स्वर्ण खड तो वही पत्थर का सेर था, जो उसने उनके (योगीराज के) सामने लाकर रखा था। वह विचारने लगा, यदि मै इससे वडा पत्थर लाकर रखता तो कितना ग्रच्छा होता। ग्रव तो रमते राम योगीराज कही के कही पहुँच चुके थे।

ग्रक्षय लब्धि

१७वी ग्रौर १८वी शती मे राजस्थान मे मेडता नगर व्यापार का वडा केन्द्र था। वहा कई लक्षाधीश सेठ थे। एक समय श्रीग्रानदघनजी का वहा पदार्पण हुग्रा। वहां की जनता ने उनके उपदेशों का वहुत लाभ उठाया। एक विधवा सेठानी—जिसके पति का कुछ समय पूर्व देहान्त हो गया था—श्री ग्रानदघनजी की परम भक्त थी। उनके प्रति उसका धर्मानुराग ग्रनुकरणीय था। उसके पुत्र थे। घर मे करोड़ों की सम्पत्ति थी। उन्ही दिनो जोधपुर नरेश को किसी कारणवश द्रव्य की ग्रत्यन्त ग्रावश्यकता हुई। धन एकत्रित करने के लिये जोधपुर नरेश के उच्चाधिकारी ग्रौर सिपाही मेड़ता नगर ग्राये। उन लोगो ने धनपतियो से द्रव्य की माग की ग्रौर उनकी कोठियो पर

सिपाहियो को वैठा दिया। उस विधवा की कोठी पर भी सिपाही आ वैठे। यह देखकर उस विधवा स्त्री का हृदय,वैठने लगा। जब वह श्री आनन्दघनजी के दर्शन करने आई तब उसने श्रीआनंदघनजी को अपनी विपत्ति की सम्पूर्ण गाथा कह सुनाई और उसकी निवृत्ति का उपाय पूछा। उन्होंने कुछ देर मौन रहकर उस स्त्री से कहा—"तुम्हारे घर मे जितने प्रकार के सिक्के हो उनको अलग-अलग घडो मे रखकर यहा ले आवो। वह स्त्री घर आई। उसने स्वर्ण का सिक्का एक अलग घडे मे रक्खा और रजत का सिक्का अलग घडे मे रखा। उन दोनो घड़ो के मुंह कपड़े से ढक कर और उन्हे बांधकर श्रीआनदघनजी के पास ले आई। श्रीआनदघनजी ने कुछ बोलकर अपना हाथ उन घड़ो के ऊपर फिराया और कहा—"इनको ले जावो, इनमे से सिक्के निकाल-निकाल कर देती जावो।" घर आकर उसने आदेशानुसार आचरण किया। सिपाही लोग जितने गाडे लाये थे वे सब एक ही स्थान से भर गये। वे पुष्कल धन पाकर वहा से विदा हो गये। उनके जाने के पश्चात् उस स्त्री ने घड़ो मे हाथ डालकर देखा तो घडों में एक-एक ही सिक्का था। अब तो उसके आश्चर्य का कोई ठिकाना नही रहा। यह चमत्कार देखकर श्रीआनंदघनजी के प्रति उसका पूर्व की अपेक्षा हजार गुना श्रद्धा-भक्ति भाव बढ़ गया। इस चमत्कार की बात सम्पूर्ण नगर मे फैल गई। लोगो के झुण्ड के झुण्ड उनके दर्शनार्थ आने लगे और दर्शनकर अपने आपको धन्य समझने लगे। ऐसे थे धर्म प्रभावना करने वाले आनदघनजी।

इन प्रवादों के विषय मे कुछ कहा नही जा सकता है किन्तु धर्म प्रभावना के लिये योगीराज श्रीआनन्दघनजी ने कुछ चमत्कार दिखाये हों या हो हो गये हो तो इन्हे प्रमाणाभाव में अविश्वसनीय नही कहा जा सकता। इन से पूर्व के जैनाचार्यो ने भी समयोचित चमत्कार पूर्ण कार्य धर्म प्रभावना के लिये किये थे।[1] जय आनन्दघन

महताब चन्द खारैड

---

१. ये चमत्कारपूर्ण घटनाएँ श्रीकापडियाजी, श्री बुद्धिसागरजी, श्रीवसंतलालजी, श्रीकांतिलालजी और श्रीईश्वरलालजी की पुस्तको से ली गई हैं। मैं उनके प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ।

पद-क्रम दर्शक

विवरण-पत्र

विवरण-पत्र भिन्न भिन्न

क्रम संख्या	पदो का अकारादि क्रम	क्रम सख्या प्रस्तुत ग्रंथावली	क्र.स श्रीभीम सिंह माग्णेक श्री कापडिया श्री ग्रा. बुद्धि सागर	क्रम सख्या म प्रति
1	2	3	4	5
1.	अग्ग जीवता लाख साखी	71	90	71
2.	अनन्त अरूपी अविगत सासतो	13	71	12
3.	अनुभौ (अनुभव) तू है हितु हमारो	40	14	46
4.	अनुभौ (अनुभव) नाथ को क्यूं न जगावे	28	8	32
5.	अनुभौ (अनुभव) प्रीतम कैसे मानसी	29	50	33
6.	अनुभौ (अनुभव) हम तो रावरी दासी	43	13	50
7.	अपना रूप जब देखा	7	66	2
8.	अब चलो संग हमारे काया	119	—	—
9	अब मेरे पति गति देव निरंजन	8	60	3
10.	अब हम अमर भये न मरेंगे	100	42	—
11.	अरी मेरो नाहेरी अति वारो	92	96	—
12.	अवधू अनुभव कलिका जागी	60	23	70
13.	अवधू ऐसो ज्ञान विचारी	101	49	—
14.	अवधू क्या मांगूं गुणहीना	10	26	5

प्रतियों में पदों का क्रम

क्रम संख्या ञा प्रति	क्रम सख्या ह प्रति	क्रम सख्या उ प्रति	श्री जिनदत्त पुस्तकालय जयपुर की प्रति की क्रम सख्या	श्री अगरचन्द नाहटा, वीकानेर के प्रतियो की क सं.			
				मुख्य प्र 44 पद स. 1756	ए, 45 पद	बी. 34 पद स. 1762	सी. 38 प स 1798
6	7	8	9	10	11	12	13
62	54	59	52	—	23	—	—
12	72	30	70	—	30	31	—
45	29	50	27	21	—	25	—
34	26	—	—	20	—	24	—
74	5	5	5	—	27	—	29
36	28	51	28	22	—	26	—
53	45	77	—	—	16	—	22
—	—	—	—	—	—	—	—
75	6	6	6	—	28	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
21	23	46	23	1	—	18	36
—	—	—	—	—	—	—	—
29	21	14	21	10	45	16	37

1	2		3	4	5
15	अवघू क्या सोवै तन मठ मे		57	7	43
16.	अवघू नटनागर की वाजी		59	5	88
17.	अवघू नाम हमारा राखे		11	29	6
18.	अवघू राम नाम जग गावे		97	27	81
19.	अवघू वैराग्य वेटा जायो		102	105	—
20.	अवघू सो जोगी गुरु मेरा		103	98	—
21.	आ कुवुद्धि कूवरी कवन जात		70	74	54
22.	आज सुहागन नारी अवघू		86	20	—
23.	आतम अनुभव प्रेम को,	साखी	74	6	74
24.	आतम अनुभव फूल की	साखी	28	8	32
25.	आतम अनुभव रस कथा, प्याला अजव विचार,	साखी	53	—	67
26.	आतम अनुभव रस कथा, प्याला पिया न जाय,	साखी	35	70	39
27.	आतम अनुभव रीति वरी री		53	11	67
28.	आशा औरन की कहा कीजै		58	28	82
29.	ए जिनके पाय लाग रे		87	102	—
30.	ऐसी कैसी घर वसी		45	79	57
31.	कंत चतुर दिल ज्यानी		69	—	48
32.	करेजा रेजा रेजा रेजा		25	35	26
33.	कित जाण मते हो प्राणनाथ		80	31	56
34.	कुण आगल कहूँ खाटो मीठो		112	—	—
35.	कुवुद्धि कूवरी कुटिल गति	साखी	56	12	85

6	7	8	9	10	11	12	13
26	18	11	18	14	—	13	16
30	22	15	22	40	—	17	35
32	24	47	26	2	—	19	—
28	20	13	20	9	—	15	—
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	34	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
5	7	16	—	12 के. साखी	—	—	—
34	26	29	26	12, 20	—	24	—
—	—	19	—	12 के. साखी	—	—	—
38	30	53	30	12,29 ,,	1	—	24
19	11	19	11	7	—	—	9
27	19	12	19	13	—	14	1
—	—	—	—	—	—	—	—
66	58	63	56	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
50	42	45	41	—	13	—	26
—	—	—	—	39	43	—	17
18	—	—	—	—	—	—	—
8	10	18	10			8	8

6	7	8	9	10	11	12	13
7	9	17	9	6	—	7	7
1	1	1	1	41	40	1	2
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
20	12	20	12	—	—	9	10
—	—	—	—	—	24	—	—
71	63	68	61	24	82	—	—
38	30	53	30	29	1	—	24
—	—	—	—	—	—	—	—
26	18	11	18	14	—	13	16
70	62	67	60	—	23	12	—
—	—	—	—	—	—	—	—
3	3	3	3	43	41	3	3
23	15	23	15	—	—	11	13
—	—	—	—	—	—	—	—
67	59	64	57	—	—	—	20
—	—	—	—	—	—	—	—
—	—	—	—	—	—	—	—
24	16	24	16	—	—	—	14
17	—	—	—	—	—	—	—
54	46	32	44	—	17	—	—